Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

ISSN 2349-6444

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा अनुशंसित मूल्यांकनपरक पत्रिका

अरुण प्रभाः संयुक्तांक (सात-आठ) जनवरी-दिसम्बर-२०१६

अरुण प्रभा

सम्पादक :
प्रो. ओकेन लेगो

हिन्दी विभाग
राजीव गाँधी विश्वविद्यालय
रोनो हिल्स, दोइमुख, ईटानगर
अरुणाचल प्रदेश-791112

Chandigarh Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

G.M. College of Education
Raipur, Bantalab
Jammu
Acc No. 3936
Dated 9.12.2023

जनवरी-दिसम्बर, 2016

अरुण प्रभा

मूल्यांकनपरक पत्रिका (Reffered Journal)

हिन्दी शोध एवं आलोचना की अर्द्धवार्षिकी

सम्मान्य एवं सम्मान्या
श्री अग्निशेखर जी एवं
श्रीमती क्षमा कौल जी को
सादर भेंट
हरीशकुमार शर्मा
6/3/2018

संरक्षक
प्रो. तामो मिबाङ
कुलपति

प्रधान सम्पादक
प्रो. हरीशकुमार शर्मा
भाषा संकायाध्यक्ष

सम्पादक
प्रो. ओकेन लेगो

अग्निशेखर और क्षमा कौल
द्वारा ...
पुस्तक सप्रेम भेंट

मूल्यांकन विशेषज्ञ
प्रो. एम. वेंकटेश्वर (सेवानिवृत्त) इफ्लू, हैदराबाद
प्रो. कृष्ण मुरारि मिश्र (सेवानिवृत्त) इलाहाबाद विश्वविद्यालय
प्रो. नन्दकिशोर पाण्डेय, राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुर
प्रो. अनन्त कुमार नाथ, तेजपुर विश्वविद्यालय, तेजपुर

सम्पादक मंडल
डॉ. श्याम शंकर सिंह
डॉ. जमुना बीनी तादर
डॉ. अभिषेक कुमार यादव
डॉ. जोरम यालम नाबाम
डॉ. विश्वजीत कुमार मिश्र
डॉ. सत्य प्रकाश पॉल
श्री राजीव रंजन प्रसाद

CC-0. ... Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

अरुण प्रभा

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा अनुशंसित

मूल्यांकनपरक पत्रिका (Reffered Journal)

जनवरी- दिसम्बर, २०१६

प्रकाशक :

कुलसचिव, राजीव गाँधी विश्वविद्यालय, ईटानगर

सम्पादकीय पता :

हिन्दी विभाग,
राजीव गाँधी विश्वविद्यालय, रोनाके हिल्स, दोइमुख - ७९१११२
दूरभाष - ०३६० - २२७७२६७, मो.- ०९४०२२७५६१५
E-mail: okenrgu05@gmail.com

(c) सर्वाधिकार सुरक्षित

अरुण प्रभा में प्रकाशित रचनाओं के साथ राजीव गाँधी विश्वविद्यालय, ईटानगर या सम्पादकों की सहमति अनिवार्य नहीं है।

मूल्य : एक प्रति पचास रुपये
वार्षिक सदस्यता राशि : १५०/-
द्विवार्षिक सदस्यता राशि : ३००/-

मुद्रक :
मास्टरमाइंड
एन. टि. रोड, लखिमपुर, असम।
पिन- ७८७००१
E-mail : masterminsnlp2015@gmail.com

Arun Prabha An half yearly journal in Hindi
Publised by Register, Rajiv Gandhi University, Rono Hills, Itanagar- 791112

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

अग्निशेखर और ... द्वारा ... पुस्तक ...

सम्पादकीय...

अंधकार है वहाँ, जहाँ आदित्य नहीं है।
मुर्दा है वह देश, जहाँ साहित्य नहीं है।

सभा-सम्मेलनों में अक्सर उद्धृत की जाने वाली हिंदी की ये प्रसिद्ध काव्य-पंक्तियाँ एक समूह, समाज या जाति के जीवन में साहित्य की महत्व की महत्ता का बखुबी बखान करती है। साहित्य किसी देश या समाज का बहुत बड़ा सम्बल होता है। हर्ष-विषाद को व्यक्त करने, सुख-दुख को बाँटने-काटने, जीवन-संघर्षो से जूझने एवं आगे बढ़ने हेतु साहित्य अपने जातीय जीवन में एक बड़े सहारे का काम करता है, उत्प्रेरक का काम करता है। यह मानना उचित नहीं होगा कि साहित्य किसी देश की जनता की चित्तवृत्तियों का संचित प्रतिबिम्ब मात्र होता है और उसकी उन चित्तवृत्तियों को परिष्कृत-परिमार्जित करने में कोई भूमिका नहीं होती। साहित्य युगीन परस्थितियों से प्रभावित ही नहीं होता, उन्हें प्रभावित भी करता है। और उस समाज की जीवन-यात्रा में साथ देते हैं। हिंदी का भक्ति-साहित्य इसका सबसे बड़ा प्रमाण है। स्वतंत्रता-आंदोलन में साहित्य के सहारे ही हँसते-हँसते अपने प्राण-न्योछावर कर देने वाले अमर शहीदों की गाथाएँ इसका साक्ष्य हैं। उनके द्वारा 'सरफरोशी की तमन्ना अब हमारे दिल में है, 'देखना है जोर कितना बाजुए कातिल में हैं' जैसी पंक्तियों या गीत को साथ लेकर एक बड़े उद्देश्य के लिये अपने जीवन को मामूली समझ, सहज अर्पित कर देना साहित्य की शक्ति का ही अहसास कराता है।

समाज, संस्कृति और साहित्य- इन तीनों में ही बड़ा अच्छा रिश्ता है। ये तीनों किसी चट्टान की भाँति ठस्स और जड़ नहीं होते, अपितु किसी चेतन वृक्ष के जैसे फल-फूल-छायादार एवं समयानुकूल परिवर्तन को स्वीकारने वाले होते हैं। समय और परिस्थितियों के अनुसार जब समाज बदलता है, साहित्य के सुर बदलते हैं तो संस्कृति को भी कुछ कदम आगे बढ़ना ही होता है। परन्तु ध्यातव्य यह है कि ये परिवर्तन अनायास नहीं होते। समाज के अग्रचेता लोग बदलाव की बयार बहाते हैं, साहित्यकार उसे समर्थन देकर अपने साहित्य के माध्यम से उसे और तीव्र करते हैं और तब कहीं जाकर समाज में सुधार और संस्कृति में परिष्कार देखने को मिलता है। आधुनिक कालीन नवजागरण के दौर में कितने ही सामाजिक आंदोलन चले, जिनसे तत्कालीन साहित्यकारों ने प्रेरणा ली। भक्तिकाल

CC-0. Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

में सामाजिक आन्दोलनकर्ता और साहित्यकार प्राय: एक ही थे। सन्त और भक्त ही उस समय के समाज के नेतृत्त्वकर्ता माने जा सकते हैं, जिन्होंने सामाजिक स्थितियों में सुधार के लिये साहित्य के महत्व को पहचाना और उसे एक ताकतवर माध्यम के रूप में इस्तेमाल किया।

राष्ट्रीय संकट, राष्ट्रीय समस्याओं की अनुगूँज, हिंदी साहित्य में हर समय सुनायी देती रही है, हर जगह दिखाई देती रही है- जहाँ-जहाँ यह लिखा गया है। हर युग में इसने अपने राष्ट्रीय दायित्व का बखूबी निर्वाह किया है। भक्तिकाल में जहाँ लोकजागरण एवं सामाजिक समरसता के स्वर अत्यन्त प्रखरता से उठे तो आधुनिककालीन साहित्य में जनसमस्याओं का कोई भी पक्ष अछुता नहीं बता। हिंदी ही नहीं, समूचे भारतीय कथा-साहित्य को एक अलग मुकाम देने वाले महान कथाकार मुंशी प्रेमचन्द्र ने कभी लिखा था- 'साहित्यकार बहुधा अपने देशकाल से प्रभावित होता है। जब कोई लहर देश में उठती है, तो साहित्यकार के लिये अविचलित रहना असम्भव हो जाता है और उसकी विशाल आत्मा अपने देश-बन्धुओं के कष्टों से विकल हो उठती है और इस तीव्र विकलता में वह रो उठता है। पर उसके रुदन में भी व्यापकता होती है। वह देश का होकर भी सार्वभौमिक होता है।'

प्रेमचन्द ने शुरु में आदर्शवादी कहानियाँ लिखीं, फिर आदर्शोन्मुखी यथार्थवादी और बाद में यथार्थवादी। पता नहीं क्यों, आलोचकों ने उनकी प्रारम्भिक कहानियों को कमतर मानना शुरू कर दिया। क्या वाकई में आदर्श इतनी घटिया, स्तरहीन, हेय और त्याज्य चीज है और यथार्थ ही सब कुछ है ? आज जनसामान्य तक पहुँच और प्रभाव की दृष्टि से देखें तो साहित्य से भी अधिक सशक्त माध्यम सिनेमा नजर आता है। पहले की फिल्में सोद्देश्य होती थीं और किसी समस्या का निदान दिखाती थीं और आज ? समाज कहता है उसमें नित्य-निरन्तर बढ़ती जा रही क्रूरता, हिंसा, अश्लीलता, व्यभिचार, अतिचार आदि के लिये फिल्में जिम्मेदार हैं और सिनेकार कहते हैं कि ये तो हमारे समाज का यथार्थ है, समय का सच है, जीवन की वास्ताविकता है, हम तो वही दिखा रहे हैं। तो क्या साहित्य या सिनेमा का कोई प्रभाव जनता पर पड़ता ही नहीं है और यदि पड़ता है तो फिर इन माध्यमों से एक सकारात्मक सन्देश देना, एक सही दिशा दिखाना गलत कैसे हो सकता है ? साहित्यकार एक प्रबुद्ध व्यक्ति होता है उससे यह अपेक्षा तो की जा सकती है कि वह मात्र समाज के बुरे-बुरे को ही दिखाने तक सीमित न रहे, बल्कि उसके दिमाग में भले की जो कल्पना है, उसके भी सामने रखे।

'अरुण प्रभा' का यह अंक आपके हाथों में है। हमेशा की तरह हमें आपकी सुझावों, टिप्पणियों, प्रतिक्रियाओं का इन्तजार रहेगा। पत्रिका के अगले अंक के सम्पादन का कार्यभार प्रो. हरीशकुमार शर्मा के जिम्मे में होगा।

- सम्पादक

Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा अनुशंसित
मूल्यांकनपरक पत्रिका (Reffered Journal)

अनुक्रम

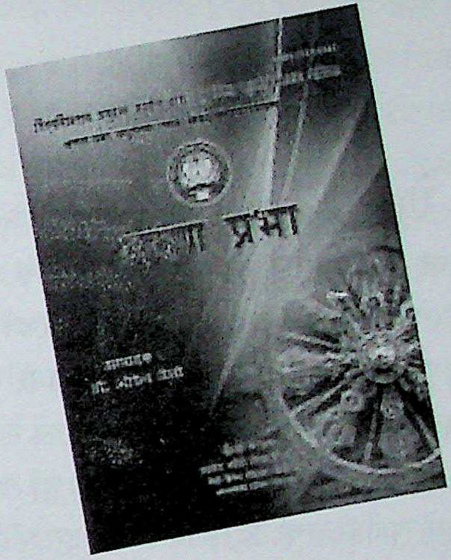

- रवीन्द्रनाथ ठाकुर के उपन्यासों में स्त्री जीवन की त्रासदी और विडम्बना
  //डॉ. एम. वेंकटेश्वर - 6
- असमिया संस्कृति पर श्रीमन्त शंकरदेव का प्रभाव
  //प्रो. हरीशकुमार शर्मा - 12
- मध्यकालीन काव्य का शास्त्रीय स्वरूप
  //प्रो. सुशील कुमार शर्मा- 16
- कबीर की दीपकधर्मी काव्य-संवेदना
  //डॉ. मधु सूदन शर्मा- 21
- साम्प्रदायिक सौहार्द के कवि दादू दयाल
  //प्रो. ओकेन लेगो- 29
- नाट्यतत्वों की कलात्मक अन्विति
  //डॉ. अनुशब्द-35
- आदिवासी विमर्श: वैचारिकी का प्रश्न
  //डॉ. अभिषेक कुमार यादव-38
- स्त्री-विमर्श के आलोक में अन्या से अनन्या आत्मकथा का मूल्यांकन
  //डॉ. जमुना बीनी तादर- 42
- अयोध्या प्रसाद खत्री और हिन्दी आलोचना
  //राजीव रंजन गिरि- 47
- भाषा विज्ञान का समाज भाषिक स्वरुप
  //डॉ. जोराम यालाम नाबाम-55
- अरुणाचल प्रदेश के 'नोक्टे' जनजाति में नारी चेतना
  //डॉ. दोन्वा तोंलुक-59
- वर्तमान परिदृश्य और 'मन:विकार' के सन्दर्भ में श्री राम चरितमानस की चिन्तन दृष्टि
  //डॉ. विश्वजीत कुमार मिश्र-63
- भूमण्डलीकृत समय-समाजपूर्व के कन्नड़-हिन्दी नाटकों में अभिव्यक्त राजनीतिक संवेदना
  //डॉ. मीना कुमारी-70
- हिंदी भाषा : प्रयोजनमूलक सन्दर्भ एवं विमर्श
  //राजीव रंजन प्रसाद- 81
- भक्ति आन्दोलन एवं शिवकुमार मिश्र के विचार
  //डॉ. सत्य प्रकाश पाल- 89
- भक्तिकाव्य के कालजयी कवि और हमारा समय
  //डॉ अभिषेक कुमार मिश्र- 93
- 'सारा आकाश' और स्त्री-विमर्श
  //डॉ रितेश कुमार मिश्र- 106
- देखिए, जब जिंदगी की तर्जुमानी है ग़ज़ल
  //लक्ष्मण प्रसाद गुप्ता- 111
- डॉ. बीरेन्द्र कुमार भट्टाचार्य के 'मृत्युंजय' का सामाजिक मूल्यांकन
  //मनोज कुमार कलिता- 121
- कुँवरनारायण की कविताओं में सामान्यजन का इतिहास और तद्युगीन सांस्कृतिक सौन्दर्य
  //अमरनाथ प्रजापति- 126
- नागार्जुन: मैं तुम्हारा कवि हूं
  //आशा सिंह- 131
- आदी लोक गीतों आदी समाज-संस्कृति का चित्रण
  //आईनाम ईरिंग- 138
- अन्तहीन पीड़ा की 'धार'
  //अंचला यादव-147

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

रवीन्द्रनाथ ठाकुर के उपन्यासों में स्त्री जीवन की त्रासदी और विडम्बना

●डॉ. एम. वेंकटेश्वर

ऐतिहासिक दृष्टि से अठारहवीं सदी के आगमन ने भारतीय उपमहाद्वीप में एक नए युग के आरंभ का शंखनाद किया। यह वह समय है जब भारतीय जनमानस मध्ययुगीन चेतना और संस्कारों से मुक्त होकर आधुनिक भाव बोध को ग्रहण करने की दिशा में अग्रसर हुआ। इस परिवर्तन एवं संक्रमण की प्रक्रिया को नवजागरण अथवा पुनर्जागरण कहा जाता है। मध्ययुगीन सामाजिक एवं धार्मिक कुरीतियों, मान्यताओं एवं परंपराओं की अतार्किक जीवन स्थितियों में परिवर्तन के लिए तदयुगीन आंदोलनकर्ताओं और विचारकों ने अथक प्रयास किए। भारतीय समाज में स्त्री मध्यकालीन अंधविश्वासों और अमानवीय प्रथाओं के बंधन में जकड़ी हुई नारकीय जीवन बिताने के लिए विवश थी। भारतीय समाज में स्त्री-पुरुष विभेद युगों युगों से चर्चा का विषय रहा है। इस परिवर्तनकामी नवजागरण आंदोलन का प्रारम्भ बंगाल की बौद्धिक भावभूमि से हुआ। नवजागरण आंदोलन के सामाजिक एवं सांस्कृतिक पक्ष को सार्थक स्वरूप प्रदान करने में तत्कालीन ब्रिटिश शासन तंत्र ने भी भारतीय आंदोलनकारियों की मदद की। भारतीय नवजागरणकालीन साहित्य के निर्माण में रवीन्द्रनाथ ठाकुर का योगदान अप्रतिम है। अठारहवीं सदी के उत्तरार्ध में बंगाल के परिवर्तनशील समाज और इसे प्रभाविन करने वाले नियामक कारणों को पहचाने बिना, रवीन्द्रनाथ के रचनात्मक संघर्ष एवं उत्कर्ष को समझना कठिन है। अठारहवीं सदी के आरंभ से भौगोलिक और राजनीतिक कारणों से कलकत्ता भारत की धुरी बनता जा रहा था। यह भारत का सामाजिक एवं सांस्कृतिक गतिविधियों का केन्द्र बन चुका था। ईस्ट इंडिया कंपनी की व्यापारिक महत्त्वाकांक्षा से सम्बद्ध कई योजनाएँ और अंग्रेज़ सरकार के विभिन्न कार्यकलाप में बंगाल के लोगों की सहभागिता से भी कलकत्ता के साथ आसपास के क्षेत्र और अंचल जुड़ते चले गए।

भारतीय नवजागरण आंदोलन के पुरोधा राजा राममोहन राय (१७७४-१८३३) ने निर्विवाद रूप से बंगाल, बंगाली समाज और बंगाली जाति को आधुनिकताबोध से अनुप्राणित किया। भारत में नवजागरण की चेतना जगाने वाले प्रथम समाज सुधारक राजा राममोहन राय ही थे। एक चिंतक और धर्मनीतिज्ञ के रूप में धर्म, संस्कृति, भाषा, शिक्षा आदि के क्षेत्र में उनके प्रयासों से बंगाल ही नहीं, बंगाल के बाहर भी शैक्षिक, सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तन की अनुगूँज सर्वत्र सुनाई देने लगी। बांग्ला, संस्कृत, फारसी के साथ लैटिन और हिब्रू में उनके द्वारा लिखित ग्रन्थों, व्याख्यानों और चिंतन परंपरा से उनकी समकालीन एवं अनुवर्ती पीढ़ियाँ लाभान्वित हुईं। वेदान्त प्रबंध, उपनिषदों के साथ भगवद्गीता के अनुवाद और तुहफातुल मुजाहिद्दीन (फारसी) आदि रचनाओं से उनकी विद्वत्ता के साथ साथ उनकी धार्मिक सदाशयता भी प्रकट होती है। उन्होंने १८२८ में ब्रह्म समाज की स्थापना इसी उद्देश्य से की थी ताकि विभिन्न धर्मावलम्बी सद्भाव और सहभाव के साथ परस्पर रचनात्मक संवाद कर सकें। ब्रह्म समाज कोई हिंदू विरोधी समुदाय या अभियान नहीं था बल्कि यह उसकी कट्टरता, धार्मिक

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

रूढ़िवादिता और संकीर्णता के विरुद्ध एक सुधारवादी विचारधारा थी। राजा राममोहन राय ने अपने आधुनिक विचारों से बंगाली समाज, संस्कृति और जीवनादर्श को नई ऊर्जा प्रदान की।

द्वारकानाथ ठाकुर (१७९४-१८४६) भी अपने गुरुतुल्य शुभचिंतक राजा राममोहन राय की तरह भारत को एक आधुनिक राष्ट्र के रूप में देखना चाहते थे। उनके इस स्वप्न को साकार करने के लिए राममोहन राय एक अंतरंग मित्र के रूप में आत्मीय सभा की साप्ताहिक बैठकों में हिंदू धर्म ग्रन्थों पर पाठ-चर्चा के अतिरिक्त समाज सुधार, धार्मिक उदारवाद और शिक्षा संबंधी विषयों पर विमर्श करते थे। रवीन्द्रनाथ के साहित्य में उपर्युक्त मनीषियों के विचारों एवं चिंतन का प्रत्यक्ष प्रभाव परिलक्षित होता है। समाज सुधार एवं आधुनिक भावबोध के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए रवीन्द्रनाथ ने अपने पूर्ववर्ती चिंतकों के विचारों को पूर्ण रूप में आत्मसात किया। रवीन्द्रनाथ साहित्य *'वसुधैव-कुटुंबकम्'* की विश्व-मानवतावादी चिंतन परंपरा से युक्त है। मनुष्य के अस्तित्व को परमतत्व से एकात्म होने की आध्यात्मिक संकल्पना रवीन्द्रनाथ की विशेष देन है जिसे उन्होंने अपने काव्य में सर्वप्रथम व्यक्त किया। काव्यचेतना से भिन्न रवीन्द्रनाथ का कथा साहित्य भारतीय समाज में व्याप्त सामाजिक विडंबनाओं और अंतर्विरोधों को मुखर रूप से व्यक्त करता है। उनके कथा साहित्य के केंन्द्र में स्त्री अक्षुण्ण रूप से जीवित है। तद्युगीन बंगाली समाज में सामाजिक विसंगतियों एवं कुरीतियों के मुक्तिरहित बंधन में जकड़ी स्त्री की पीड़ा का चित्रण रवीन्द्रनाथ के कथा साहित्य का श्रेय और प्रेय है। कन्याओं का बाल विवाह, अनमेल विवाह और बालिकाओं का शैशव और किशोरावस्था में वैधव्य की घटनाएँ तत्कालीन भारतीय समाज में सामान्य हो चुकी थीं। यह स्थितियाँ सर्वस्वीकृत हो चुकी थीं। स्त्री के वैधव्य को उसकी नियति और उसके भाग्य की परिणति घोषित कर उससे अमानवीय व्यवहार किया जाता था। समाज के सभी वर्गों में स्त्रियों का जीवन एक जैसा ही था। वे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और स्वेच्छा से कोसों दूर थी। इन स्थितियों को स्त्रियाँ अपनी नियति के रूप में स्वीकार करने के लिए विवश थीं। उन्हें ऐसी ही संस्कारों की दीक्षा माता-पिता और परिजनों द्वारा शैशवावस्था से ही दी जाती थी। इस जीवन विधान का अतिक्रमण समाज में भूचाल पैदा करने के लिए यथेष्ट और पर्याप्त था। रवीन्द्रनाथ के सम्मुख यही समाज विद्यमान था।

रवीन्द्रनाथ ने एक युगप्रवर्तक उपन्यासकार के रूप में बंकिमचन्द्र चटर्जी के ऐतिहासिक रोमांस के समानांतर, युगीन यथार्थ को आख्यानों में सँजोया। साथ ही इन्हें पारिवारिक समस्याओं से लेकर राष्ट्रीय प्रश्नों तक गहन विमर्श का विषय बनाया। देश-काल, पात्र एवं परिवेश में आदर्श को यथार्थ के आईने में रखने का आग्रह स्पष्ट तौर पर उनकी रचनाओं में विद्यमान है। व्यक्तिगत और सामाजिक प्रश्नों से जुड़े परस्पर विपरीत ध्रुवान्तों को निकट लाते हुए रवीन्द्रनाथ ने उपन्यास की आस्वादपरकता को बदला और साथ ही इसे तत्कालीन मानवीय प्रश्नों से जोड़ा। इसे जीवन-व्यवहार की जीवंत मानव-संहिता बनाया।

१९०२ में प्रकाशित 'नष्टनीड़' लघु-उपन्यास की रचना से रवीन्द्रनाथ की अतिविशिष्ट कथा-यात्रा के साथ साथ बांग्ला भाषा की एक नई यात्रा-कथा आरंभ हुई। यहाँ से रवीन्द्रनाथ की जीवन यात्रा का द्वितीय भाग भी आरंभ हुआ। वे अब अपनी आयु के चालीस वर्ष पूरे कर चुके थे। बीसवीं शताब्दी के प्रथम वर्ष में बांग्ला के यशस्वी कथाकार बंकिमचंद्र चटर्जी द्वारा प्रवर्तित एवं संपादित 'बंगदर्शन' पत्रिका को एक बार फिर नए रूपाकार के साथ प्रकाशित किया गया, रवीन्द्रनाथ इसके तीसरे संपादक बने। 'नष्टनीड़' रवीन्द्रनाथ का पहला आधुनिक एवं चर्चित उपन्यास है जो पहले 'भारती

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

पत्रिका' के लिए धारावाहिक तौर पर लिखा गया। इसके साथ साथ वे बंगदर्शन पत्रिका के लिए 'चोखेर बालि' (हिंदी अनुवाद- आँख की किरकिरी) उपन्यास भी धारावाहिक रूप में लिख रहे थे। रवीन्द्रनाथ ने नष्टनीड़ उपन्यास के द्वारा बंगाली समाज के उच्च-मध्य वर्ग की स्त्रियों की मनोदशा का प्रमाणिक और विश्वसनीय चित्र प्रस्तुत किया। इस उपन्यास की कहानी एक दैनिक समाचार-पत्र के अत्यंत व्यस्त संपादक से जुड़ी है। अपने कार्य दायित्व के प्रति अत्यधिक समर्पित और सक्रिय पति भूल जाता है कि उसकी युवा और सुंदर पत्नी घर पर उसकी प्रतीक्षा कर रही है। पत्नी के एकांत क्षणों और प्रतीक्षा के पलों में संपादक का प्रतिभावान भतीजा उसकी पत्नी का साथ देता है। एकांत पलों के इस साथी में साहित्य के प्रति गहरी रुचि है। साहित्य लेखन के लिए वे दोनों परस्पर एक दूसरे को प्रेरित करते हैं। परिणामस्वरूप कुछ समय बाद वे दोनों सफल नवोदित रचनाकार के रूप में उभरते हैं। उपन्यास में पारिवारिक तनाव और परस्पर अधिकार एवं अहंभाव के टकराव से उत्पन्न समस्या का दूसरा अध्याय यहीं से आरंभ होता है। उधर संपादक पति को भी यह प्रतीत होता है कि जिस पत्नी की वह अब तक उपेक्षा करता रहा था- वह अब काफी बदल चुकी है। इससे उसके पुरुष-सत्तात्मक अहं को चोट तो लगती है लेकिन अब वह गुजरे वक्त को लौटाने में सर्वथा असमर्थ है।

नष्टनीड़ में औपन्यासिक विस्तार का अभाव है परंतु कथानक के तीनों प्रमुख पात्रों की त्रिकोणात्मक मानसिकता को समझने से स्पष्ट हो जाता है कि रवीन्द्रनाथ ने आधुनिक समय और समाज के विरोधाभास और मनुष्य की स्थिति एवं नियति को रचनाकार की सूक्ष्म समाजशास्त्रीय दृष्टि से परखा था। रवीन्द्रनाथ की सोच अपने समय से काफी आगे थी। स्त्री-पुरुष संबंधों की जटिलता को सामाजिक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करने में उन्होंने यथार्थ को ही प्रस्तुत किया। उनका यह प्रयास परंपरागत रोमांटिक प्रेम प्रसंगों के वर्णन से भिन्न एक यथार्थवादी धरातल से जूझने और टकराने का अभिनव उपक्रम था। रवीन्द्रनाथ के इस उपन्यास से कथा-लेखन की एक नई परिपाटी का शुभारंभ हुआ।

चोखेर बालि (आँख की किरकिरी) उपन्यास का प्रकाशन १९०२ में हुआ। इसका आरंभ माँ राजलक्ष्मी और डॉक्टरी की पढ़ाई कर रहे उसके बेटे महेन्द्र के विवाह के प्रसंग से होता है। राजलक्ष्मी अपनी बचपन की सहेली हरिमती की बेटी विनोदिनी से उसका विवाह करना चाहती थी लेकिन महेन्द्र स्वीकार नहीं करता। विनोदिनी का विवाह विपिन नामक युवक से हो जाता है जो कुछ ही दिनों में गुजर जाता है। इधर महेन्द्र का विवाह आशालता नाम की लड़की से हो जाता है। आशालता भोलीभाली और थोड़ी सी नासमझ सी लड़की है जिसमें व्यवहार-कुशलता का पूर्णत: अभाव है। रवीन्द्रनाथ ने स्त्री-पुरुष संबंधों का मूल आधार परस्पर प्रेम के आदान-प्रदान को बताया है। पुरुष को स्त्री से और स्त्री को पुरुष से जब वांछित प्रेम नहीं मिलता तो जीवन दूभर हो जाता है। ऐसे में जीवन टूटकर बिखरने लगता है। ऐसे में व्यक्ति और समाज के मध्य टकराव की स्थिति स्वाभाविक है जिसका समाधान आसान नहीं। रवीन्द्रनाथ ने इन्हीं स्थितियों के मध्य कथानक का तानाबाना बुना है। महेन्द्र और आशा के दांपत्य जीवन में विनोदिनी का प्रवेश एक संकट को जन्म देता है। यह स्थिति विवाह की संस्था को चुनौती देती है। विनोदिनी अपने अनुरागमय व्यवहार और सेवा भाव से राजलक्ष्मी को मोहित कर अपने वश में कर लेती है। विनोदिनी का सौन्दर्य और उसका समर्पित आचरण महेन्द्र और उसकी पत्नी आशालता दोनों को बाँध लेता है। आशालता और विनोदिनी परस्पर प्रिय सहेलियाँ 'चोखेर बालि' बन जाती हैं। विनोदिनी, महेन्द्र और आशालता दोनों की

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

अंतरंगता हासिल कर लेती है। वह महेन्द्र से प्रेम करने लग जाती है। वह महेन्द्र को अपने प्रेम के मोहपाश में बांधकर अपने वैधव्य जीवन की रिक्तता को भर लेना चाहती है। कथानक के एक बिन्दु पर महेन्द्र और विनोदिनी दोनों सामाजिक बंधनों और नियमों का अतिक्रमण कर शाश्वत मिलन की कामना करने लगते हैं। महेन्द्र विनोदिनी से शाश्वत मिलन के लिए तड़प उठता है। एक ओर विनोदिनी, आशालता और महेन्द्र के संबंधों में बिखराव नहीं चाहती किन्तु वह महेन्द्रे से अपने प्रेम को नकार भी नहीं सकती। उसका यह द्वंद्व निरंतर उसे भटकाता रहता है। विवाहित महेन्द्र विनोदिनी के इतने निकट आ जाता है कि वह आशा से दूर छिटकता चला जाता है। वह घर-परिवार और समाज की मर्यादा त्यागकर विनोदिनी के साथ कहीं दूर जाकर जीवन बिताने का फैसला कर लेता है। उसे कभी विनोदिनी विलासी युवती तो कभी प्रेम तपस्विनी के रूप में दिखाई देती थी। वह विनोदिनी के अन्तर्मन को सही रूप से भाँप नहीं सकता है। विनोदिनी एक अबूझ पहेली बनकर उपन्यास में छाई रहती है। वस्तुत: विनोदिनी के चरित्र में रवीन्द्रनाथ ने ऐसे कई गुण भर दिए थे जिसे न तो महेन्द्र समझ सका और न उसका पूर्व प्रेमी बिहारी। विनोदिनी वास्तव में अपने लिए एक पहेली थी जिसे स्वयं रवीन्द्रनाथ ने रहस्यमय बनाए रखने का यत्न किया है। वह सोचा करती थी- ''जिस महेन्द्र ने मेरे जीवन की सार्थकता को नष्ट कर दिया, उसने मुझ जैसी स्त्री की उपेक्षा कर आशा जैसी मंदबुद्धि बालिका को कैसे अपना लिया? अब उसी महेन्द्र को वह चाहती है या उससे चिढ़ती है- वह यह तय नहीं कर पाती। क्या वह उसे इसकी सजा देगी या अपना हृदय सौंप देगी?'' लेकिन वह किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँच पाती। महेन्द्र ने सचमुच उसके हृदय में आग लहकाई थी- यह आग ईर्ष्या की थी या प्रेम की- या फिर इस आग में भी दोनों की मिलावट थी- वह काफी सोच-विचार कर भी यह समझ नहीं पाती थी। लेकिन जब तक वह कोई फैसला कर पाती तब तक बिहारी भी उसके हृदय के एक कोने में स्थान बना चुका था। महेन्द्र और विनोदिनी के बीच पनपने वाले प्रेम को, उन दोनों के भीतर सुलगने वाले प्रेम की आग को महेन्द्र की माँ राजलक्ष्मी की भी मौन स्वीकृति मिली हुई है- जिसे विनोदिनी अच्छी तरह समझ रही थी। वरना वह आशा की अनुपस्थिति में महेन्द्र के निकट आने का साहस जुटा नहीं पाती। महेन्द्र भी उसके प्रति इतना आग्रही नहीं हो पाता। स्थिति जब हद से आगे बढ़ने लगती है तो राजलक्ष्मी विनोदिनी पर ताना कसते हुए कहती हैं- ''मुझे यह पता नहीं था कि तू कैसी मायाविनी है?'' इस पर विनोदिनी भी पलटकर कहती है- ''तुमने ठीक ही कहा बुआ! कोई किसी के बारे में नहीं जानता। अपना मन भी क्या कोई जान पाता है। क्या तुमने अपनी बहू से ईर्ष्या करते हुए इस मायाविनी के द्वारा अपने बेटे का मन लुभाना नहीं चाहा था? एक बार ठीक से सोचकर तो देखो!''

रवीन्द्रनाथ ने महेन्द्र, विनोदिनी, आशालता और बिहारी- इन चार प्रमुख चरित्रों के इर्द-गिर्द उन प्रसंगों को बहुविध विस्तार दिया है जिनसे न केवल बाहरी क्रिया-कलाप द्वारा उनकी पात्रता सुनिश्चित हो बल्कि आंतरिक द्वंद्व भी अभिव्यक्त हो। बिहारी के प्रति आशा का खिंचाव और विनोदिनी का बिहारी के प्रति आदर भाव जताने वाले प्रसंग इसके उदाहरण हैं। यही नहीं, महेन्द्र का विनोदिनी के प्रति कातर प्रेम निवेदन वाले प्रसंग और सम्बद्ध संवाद अत्यंत सटीक हैं। अंत में महेन्द्र का प्रायश्चित इन वाक्यों में फूट पड़ता है- ''जब तक तुम मरती नहीं, तब तक मेरी प्रत्याशा भी नहीं मरेगी- मुझे छुटकारा नहीं मिलने वाला। मैं आज से, अपने अन्तर्मन से तुम्हारी मृत्यु की कामना करूँगा। तुम चली जाओ और मुझे मुक्त करो! न तो तुम मेरी बनो और न बिहारी की। मेरी माँ रो रही है, मेरी पत्नी बिलख रही है- दूर रहकर भी मुझे उनके आँसू जला रहे हैं। जब

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

तक तुम मर नहीं जाती तब तक मैं उनकी आँखों के आँसू नहीं पोंछ सकूँगा।''

दूसरी तरफ कथानक का एक और अत्यंत रोचक और जटिल संदर्भ उभरकर आता है। बिहारी के प्रेम निवेदन पर विनोदिनी कहती है- ''अगले जन्म में मैं तुम्हें पाने के लिए तप करूंगी। इस जनम में अब और कोई चाह नहीं और कामना भी नहीं। मैंने बहुत दु:ख दिया है और बहुत दु:ख पाया है। मुझे काफी सीख भी मिली है। अगर मैं उस सीख को भूल जाती तो मैं तुम्हे नीचा दिखाकर और भी हीन बन जाती। लेकिन तुम ऊंचे बने रहे, इसीलिए मैं आज अपना सिर फिर एक बार उठा पाई- मैं यह आश्रय धूल में नहीं मिला सकती।

उपन्यास के अंत में एक बार फिर आशा के मन में विनोदिनी के प्रति एक तरह की विषण्णता या कटुता का संकेत रवीन्द्रनाथ ने दिया है, जो उसकी चारित्रिक परिपक्वता की सूचक है। अब वह समझ गई थी कि विनोदिनी और महेन्द्र आपस में क्यों प्रेम करने लगे थे क्योंकि वह उसे वांछित प्रेम देने में सक्षम नहीं थी। महेन्द्र के लिए उसी प्रेम की दुहाई देती हुई विनोदिनी आशा से ही नहीं, सबसे दूर चली जाती है।

इस उपन्यास में रवीन्द्रनाथ ने एक जाना-पहचाना परिवेश और सुविस्तृत घर-परिवार निर्मित किया था, जो मध्यवर्गीय मूल्यों का पक्षधर था। यहाँ एक रूढ़िवादी लेकिन आत्मसम्मानी काकी थी, जो पुरातन मूल्य मर्यादा की कट्टर पक्षधर थी। एक ममतामयी माँ थी, लेकिन घर का बेता बिगड़ता चला जा रहा था। पत्नी लगातार प्रताड़ित होती रहती थी और इन तमाम उलझनों से सबसे ज्यादा उद्विग्न रहती थी- युवा विधवा विनोदिनी, जिसका पति विवाह के कुछ ही दिनों में गुजर गया था। उसके मन का अंतर्द्वंद्व और तन की अतृप्ति का अत्यंत प्रभावी एवं विश्वसनीय चित्रण ही उपन्यास की विशिष्टता बनी। एकाकी विनोदिनी की खामोशी ने और अवसरानुकूल टिप्पणी के साथ उसकी रचनात्मक ऊर्जा ने इस अंतरंग आख्यान को रोचक, उत्तेजक और आधुनिक बना दिया।

बाहरी तौर पर सामान्य प्रतीत होने वाली इस परिवार की दुनिया बड़ी शांत और संयत दिखाई देती है लेकिन समय पाकर यही सामान्य और साधारण परिस्थिति असामान्य और उद्धत हो जाती है, बल्कि उग्र उन्माद में बदल जाती है। स्पष्ट है कि इसका प्रशांत परिवेश अंदर ही अंदर सुलगता रहता है और अंत में उसी अंतर्दाह में सब कुछ जलकर राख हो जाता है। जब कि बाहर के लोगों को इसकी भनक तक नहीं पड़ती, क्योंकि उन्हें दूर से न तो कोई आग दिखाई देती पड़ती है और न धुआँ। विनोदिनी और महेन्द्र की प्रेम कथा की अकल्पनीय परिणति होती है। अंत में महेन्द्र विनोदिनी के पाँव छूता है। विनोदिनी भी इतना ही कह पाती है- ''मुझे माफ कर देना ईश्वर भला करे।'' तभी अपनी मृत्यु से पहले राजलक्ष्मी अपने लाड़ले बेटे महेन्द्र से कहती हैं- ''मेरे बक्से में दो हजार के नोट पड़े हैं, वे रुपये मैं विनोदिनी को दे रही हूँ। वह विधवा है, अकेली है, इन रुपयों से उसके दिन मजे में कट जाएँगे। लेकिन उसे अपने यहाँ मत रखना।''

इस उपन्यास के अंत को लेकर तत्कालीन आलोचकों और पाठकों द्वारा कई तरह की आपत्तियाँ दर्ज की गई थीं, विशेषकर विनोदिनी के प्रेम प्रसंग को लेकर। इसका संकेत डॉ सुकुमार सेन ने अपने *'बाङला साहित्य का इतिहास'* ग्रंथ में किया है। वे लिखते हैं- ''विनोदिनी की जीवन चर्या का कोई भी दूसरा अंत तत्कालीन समय के आधुनिक से आधुनिक

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

पाठक को भी अकारण आघात पहुंचाता जब कि रवीन्द्रनाथ की इस प्रकार के आकस्मिक आघात पहुंचाने में कोई आस्था नहीं थी और उन्होंने कभी अमर्यादित तौर पर मौलिक होने का प्रयत्न भी नहीं किया।

रवीन्द्रनाथ तत्कालीन समाज में स्त्री-पुरुष और पति-पत्नी संबंधों की भावात्मक स्थितियों और भूमिकाओं को उकेर रहे थे। पति-पत्नी और प्रेमी-प्रेमिका अपने व्यक्तिगत, सामाजिक और भावगत जीवन में एक दूसरे के प्रति कितने सहिष्णु और संवेदनशील होते हैं, इसका आकलन रवीन्द्रनाथ ने सूक्ष्मता और गहराई से किया है। वे केवल रोचक घटनाओं का घटाटोप नहीं खड़ा करते हैं बल्कि वे उस रहस्य को भी भेदना चाहते हैं जो परस्पर संबंधों को विच्छिन्न कर देता है और एक दूसरे के प्रति उन्हें निष्ठुर बना देता है।

'चोखेर बालि' ने जहां रवीन्द्रनाथ के पाठकों और प्रशंसकों को उद्वेलित किया, वहीं उन्हें स्तब्ध और विचलित भी किया है क्योंकि वे एक युवा विधवा के बहाने प्रेम की एक नई परिभाषा के साथ इसे सामाजिक संदर्भ से भी जोड़ते हैं। चोखेर बालि की रचना से रवीन्द्रनाथ 'बाउ-ठाकुरानीर हाट, राजर्षि और करुणा' जैसे आख्यानधर्मा उपन्यासों से सर्वथा अलग एक नई कथाभूमि का निर्माण कर रहे थे। रवीन्द्रनाथ ने स्पष्ट कर दिया कि अपने देशकाल की आकांक्षा और पात्रगत वैशिष्ट्य को पूरी प्रामाणिकता से उकेरे बिना कोई भी कृति अपने पाठक समाज को प्रभावित नहीं कर सकती। विनोदिनी की बेबसी और खामोशी का चित्रण रवीन्द्रनाथ ने मनोविज्ञान के स्तर पर किया था। तर्कसंगत कार्य-व्यवहार और संवाद से इसका वांछित प्रभाव इसके पूरे कथ्य पर पड़ा, जिसने इस उपन्यास को सर्वथा अलग पहचान दी।

फ्लैट नं.- ३१०, कांचरला टॉवर्स,
गीलकुण्डा रोड, मुर्शिदाबाद, हैदराबाद
पिन- ५०००२०

CC-0 Agam Nigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

असमिया संस्कृति पर श्रीमन्त शंकरदेव का प्रभाव

● प्रो. हरीशकुमार शर्मा

भारतीय साहित्य का भक्ति युग अपनी उपलब्धियों में निश्चय ही स्वर्ण-युग है। इस युग के साहित्य की सबसे बड़ी उपलब्धि है- उसका देश-व्यापी प्रसार और दूरगामी प्रभाव-विस्तार। भक्ति उपजी भले ही दक्षिण में, लेकिन वह विकसी पूरे देश में। ऐसा प्राय: बहुत ही कम अवसरों पर होता है कि किसी एक ही प्रकार की संवेदना से पूरे राष्ट्र की हृत्तन्त्री एक ही साथ झंकृत हो उठे और यह इस युग में हुआ। भक्ति-साहित्य प्रधान यह युग हमें कविता की ताकत का भी अहसास कराता है कि उससे कैसे बड़े-बड़े काम किये जा सकते हैं। भक्तिकालीन काव्य का उद्देश्य जनसामान्य को भक्ति में बेसुध कर संसार से विरक्त करना भर नहीं था, अपितु संसार में रहते हुए ही भक्ति के सहारे अपने भीतर इतनी आत्मशक्ति का संचय करना था कि जिससे जीवन का पथ सरल, सुगम और आश्वस्तिमय हो सके। कविता वही अच्छी जो जनरुचि के अनुकूल भी हो और उसे परिवर्धित-सवंर्धित भी करे। जनरुचि को परिवर्धित-संवर्धित वही कविता कर सकती है जो जनरुचि के अनुकूल होने की प्रथम शर्त को पूरा करे। क्लिष्ट पदावली वाली जनसाधारण के स्तर से हर तरह से बहुत ऊँची कविता जन का भला नहीं कर सकती। भक्तिकाल की कविता ने यह सिद्ध कर दिया कि साहित्य जनरुचि का संस्कार-परिष्कार भी करता है, जन-मन में विश्वास भी भरता है और जनजीवन का संबल भी बनता है।

भक्ति-आन्दोलन वस्तुत: धार्मिक से भी अधिक सामाजिक-सांस्कृतिक आन्दोलन था जिसने लोक जागरण का महती कार्य किया। सामाजिक संगठन और सामाजिक समरसता की दृष्टि से इसका बहुत बड़ा योगदान है। भिन्न-भिन्न क्षेत्रों के सन्तों, भक्तों और रचनाकारों ने भक्ति-चेतना को आधार बनाकर अपने-अपने क्षेत्रों में फैली सामाजिक विषमता की खाई को भरकर सामरस्य लाने का प्रयास किया और वर्ण, जाति, सम्प्रदाय, धर्म आदि के नाम पर बँटे-बिखरे समाज का एकजुट करने की चेष्टा की। असमिया समाज-संस्कृति को एक अपूर्व रंग से भर देने वाले श्रीमन्त शंकरदेव एक ऐसे ही तेजोमय महापुरुष थे। उत्तर और मध्य भारत में जो स्थान कबीर और तुलसी का है, वही स्थान असम में शंकर देव का है। श्रीमन्त शंकरदेव एक ऐसे दूरदर्शी मनीषी-महर्षि थे, जिन्होंने अपने कान्तिकारी विचारों से असमिया समाज-संस्कृति की भविष्य की दशा-दिशा निर्धारित की। देश-भ्रमण के द्वारा उन्होंने जो ज्ञान और अनुभव अर्जित किया, उसका उपयोग उन्होंने असम की जनता के हितार्थ किया और उसे भक्ति और मुक्ति का एक मौलिक पथ प्रदान किया। राजन्य वर्ग और पुरोहित वर्ग के चंगुल में फँसकर छटपटाती हुई जनता को उन्होंने भक्ति का ही नहीं, जीवन का भी एक सरल-सुगम रास्ता दिखाया। राजतन्त्रीय शासन-व्यवस्था वाले उस युग में राजन्य वर्ग की ओर से उन पर संकट भी कुछ कम नहीं आये, परन्तु अपने आत्मतेज के बल पर उन्होंने सबको परास्त किया।

किसी भी महापुरुष की अपने युग-विशेष में भूमिका और युग-परिवर्तन के महती अवदान को समझने के लिये उस युग की परिस्थिति को जानना-समझना आवश्यक होता है। पन्द्रहवीं शताब्दी के मध्य में जन्मे शंकरदेव ने जिस युग का नायकत्व किया, वह युग असम के जनजीवन का एक कठिन दौर था। राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक आदि सभी दृष्टियों

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

से आमजन की स्थिति बड़ी शोचनीय थी। चित्र महन्त ने उस युग की परिस्थितियों का आकलन करते हुए लिखा है- ''सामाजिक दृष्टि से यहाँ तीन वर्ग देखे जाते थे- राजन्य वर्ग, पुरोहित वर्ग, तथा साधारण वर्ग। साधारण वर्ग के ऊपर राजा तथा पुरोहित दोनों का शासन चलता था। सामान्य दोष के कारण राजा साधारण लोगों को सूली पर चढ़ा सकता था। दूसरी ओर पुरोहित और तान्त्रिक की अप्रसन्नता पर साधारण लोगों की देवी के सामने बलि तक दी जा सकती थी। साधारण लोगों को न राजनैतिक अधिकार था और न सामाजिक। राजनैतिक अधिकार चन्द राजा-मन्त्री, सामन्तों तक सीमित थे तथा ज्ञानार्जन एवं पूजा-अर्चना का अधिकार साधारण लोगों से छीन लिया गया था।'' (महापुरुष श्रीमन्त शंकरदेव : कृति और कृतित्व)

डॉ. कृष्णप्रसाद नारायण 'मागध' ने इस युग की परिस्थिति का विवेचन कुछ इस तरह किया है- ''समाज में चातुवर्ण्य का महत्त्व समाप्त हो गया था, तब भी ब्राह्मणों की श्रेष्ठता लोकमान्य थी। वे ही समाज में विद्वान, शास्त्रज्ञ और धर्माचार्य थे। वे धर्म-भावना के नाम पर समाज में नाना प्रकार की विकृतियाँ फैला रहे थे। यों तो भ्रष्ट सभी जातियाँ हो गयी थीं, पर ब्राह्मणों का भ्रष्ट हो जाना अधिक चिन्त्य था। भक्ति उनके कान में पड़ती ही नहीं थी। वे केवल भोजनभट्ट हो गये थे। ब्राह्मण मदिरापान करने लगे थे। धर्म-साधना के नाम पर तन्त्र-मन्त्र और कृच्छाचार का बोलबाला था। लोग हंस-छाग काटते थे। भैरव की पूजा में नरबलि दी जाती थी। तीर्थ-व्रत, वृक्ष-पूजा, सर्प-पूजा आदि का प्रचलन था। यज्ञ, जप-तप-योग साधन का प्रचलन था।''

एक ऐसे युग में जहाँ की जनता अन्धविश्वासों के गहन अन्धेरे में डूबी थी, वहां पर जनता में आत्मविश्वास, आपसी विश्वास और एक ईश्वर में विश्वास का उजाला शंकरदेव ने भरा। तन्त्र-मन्त्र तथा आडम्बरों के कुचक्र में फँसी जनता को भक्ति और मुक्ति का एक सरल-सुगम और मानवीय पथ दिखलाना ही कोई छोटी बात नहीं है, पर शंकरदेव का अवदान इससे कहीं अधिक बड़ा है। शंकरदेव ने अपनी साहित्य रचना हेतु संस्कृत भाषा को नहीं चुना, असमिया को नहीं चुना, मातृभाषा को चुना। ब्रजबुलि या ब्रजाबली में नाटक एवं बरगीतों की रचना करने के पीछे उनका प्रमुख उद्देश्य था अखिल भारतीय स्तर तक अपने विचारों को पहुंचाना तथा असमिया संस्कृति की भारत की अभिन्न संस्कृति के रुप में पहचान कराना। 'चित्र महन्त' ने शंकरदेव के इस कार्य का मूल्यांकन करते हुए लिखा है- ''असम के दो हजार वर्ष पुराने इतिहास में शंकरदेव ही ऐसे व्यक्ति थे, जिन्होंने देश के इस पूर्वाचल को एक राष्ट्र, एक वाणी तथा एक संस्कृति से सम्पन्न किया। शंकरदेव से पहले अन्य किसी भारतीय ने एक राष्ट्र, एक भाषा और एक संस्कृति से भारत राष्ट्र को बांधने की चेष्टा नहीं की।''

शंकरदेव द्वारा प्रचारित-प्रसारित धर्म को लोकधर्म कहा जा सकता है। उन्होंने भक्ति से सिर्फ अपने उद्धार की कामना नहीं की, अपितु लोक-कल्याण की भावना को ध्यान में रखकर अपने भक्ति-पथ का प्रवर्तन किया। शंकरदेव द्वारा प्रवर्तित धर्म को 'एकशरणीया' धर्म कहा जाता है। इसमे निर्गुण एवं सगुण दोनों भक्तिपथों का समन्वय हो जाता है। उनकी भक्ति के आलम्बन श्रीकृष्ण हैं और उनकी भक्ति का आधार-ग्रन्थ भागवत है। श्रीकृष्ण को उन्होंने पूर्ण ब्रह्म माना है और कृष्ण-भक्ति को छोड़कर 'तीर्थ-व्रत-यज्ञ' आदि को उन्होंने 'डिडम्बन मात्र' कहा है। भागवत के श्रीकृष्ण को शंकरदेव ने अपना आराध्य जरुर बनाया और अपने आराध्य की उपासना हेतु श्रवण, कीर्तन, स्तवन, सत्संगति आदि को भी महत्त्वपूर्ण माना है। परन्तु अपने युगधर्म के अनुकूल बनाने हेतु उन्होंने कृष्ण की परम्परा-प्रथित भक्ति में कई परिवर्तन किये। इन्होंने कृष्ण के रासबिहारी रुप की अपेक्षा उनके लोकरक्षक और लोकरंजक रुप को अधिक स्वीकार किया। इसीलिये इन्होंने राधा को भी अपने काव्य में स्थान नहीं दिया। भागवत में राधा का महत्व न होना भी इसका एक कारण हो सकता है। दूसरी जो महत्वपूर्ण बात शंकरदेव की भक्ति-पद्धति की है, वह यह कि इन्होंने कृष्ण के परम्परागत सगुण स्वरुप को तो अपनाया, पर

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

मूर्तिपूजा को स्वीकार नहीं किया। इनके यहां विग्रह नहीं होते, नामघरों में विग्रह के स्थान पर 'गुरु आसन' रखा जाता है और इस गुरु आसन पर भागवत की प्रतिष्ठा की जाती है।

असम में सामूहिक पूजा-स्थल 'नामघर' कहलाते हैं। ये शांकरीय भक्ति-पद्धति की ही देन हैं। इस भक्ति-पद्धति में नाम-स्मरण और कीर्तन पर अधिक बल दिया जाता है। अत: इन स्थानों को 'नामघर' या 'कीर्तनघर' कहते हैं। 'गोसाईघर', 'सत्र' आदि इनके अन्य नाम हैं। इन स्थलों का महत्त्व सिर्फ धार्मिक ही नहीं है, सांस्कृतिक, सामाजिक, न्यायिक आदि दृष्टियों से भी महत्त्व है। एक विद्वान के अनुसार, ''शंकरदेव के मत को लेकर यहां स्थान-स्थान पर सत्रों की प्रतिष्ठा हुई, जहाँ केवल धर्म-चर्चा ही नहीं, अपितु अन्य सामुदायिक क्रिया-कलाप भी होते हैं। वह इस प्रकार की संस्था थी जिसमें धर्म-चर्चा के अतिरिक्त एक स्वावलम्बी तथा सामुदायिक जीवन का प्रशिक्षण प्राप्त होता था। इसके अतिरिक्त वह न्यायालय भी था, पुस्तकालय भी था। शंकरदेव के मत में कर्मानुसार जाति-सम्प्रदाय का भेद नहीं था, कोई सब कुछ कर्म कर सकता था।''

डॉ. असमी गोगोई लिखती हैं- '' 'नामघर' और 'सत्र' शंकरी संस्कृति के मूल उपादान हैं। नामघर असमिया समाज का परिचायक हैं। असम के प्रत्येक गांव में प्रतिष्ठित नामघर केवल भगवान के भजन का ही स्थान नहीं है, अपितु यह एक सामाजिक संस्थान भी है। नामघरों में ही समाज की सामूहिक एवं सामाजिक समस्याओं पर विचार-विमर्श एवं निर्णय लिये जाने हैं। नामघर असमिया सांस्कृतिक कार्यक्रम का भी मूल केन्द्र है। यहीं गीत-नृत्य (भाओना के साथ गीत-नाटक का प्रदर्शन) की तैयारी की जाती है और सामूहिक रुप से सांस्कृतिक कार्यक्रम आयोजित किये जाते हैं। एक-एक नामघर को केन्द्र बनाकर समाज का गठन होता है।'' (असम की सांस्कृतिक परम्परा, पृ.३२)

अपने आराध्य के प्रति एकनिष्ठता प्राय: सभी भक्तों की विशेषता रही है और शंकरदेव की भी निष्ठा अपने आराध्य श्रीकृष्णदेव के प्रति अनन्य है, जिसके कारण इनके धर्म को 'एकशारणीया धर्म' कहा जाता है। उनका मानना था कि- 'एक देव, एक सेव, एक बिने नाहिं केव।' (एक ही देव को मानना, उसी एक की शरण लेना, एक के बिना दूसरा कोई नहीं हैं)। जाति धर्म के बन्धनों से समाज को मुक्त करने में भी शंकरदेव का कोई सानी नहीं है। इनकी भक्ति का मार्ग सभी के लिये खुला है। चाण्डाल भी हरि का नाम लेने से ब्राह्मण की ही भांति मुक्ति का अधिकारी बन सकता है, यह इनका मानना था। उनकी इस पंक्ति को तुलसीदास की 'सियाराममय सब जग जानी। करहुँ प्रनाम जोरि जुगपानी।' से जोड़कर देखा जा सकता है- 'कुकुर चाण्डाल गर्दभरो आत्माराम। जानिया सबाहि करिबा प्रणाम।' (कुत्ता, चाण्डाल तथा गधे की आत्मा में भी राम है, इसे जानकर उन्हें भी प्रणाम करना) इनकी भक्ति दास्य-भाव की है। श्रीकृष्ण के बल-वैभव, पराक्रमी लीला के वर्णन को प्रधानता देते हुए यह अपने को 'दासानुदास' मानते हैं-

'परम मुरुख हमु एक भकति न जाना।
दास दास बुलि तारहु एहु शंकर भाना।।

श्री चित्र महन्त के अनुसार ''वास्तव में शंकरदेव का उद्देश्य अपने मत का प्रचार करना नहीं था, अशुचि से युक्त गन्दे समाज को सब प्रकार से शुचिता का पाठ पढ़ाना भी था। सम्भवत: इन्हीं कारणों से असम के 'एकशरण भागवती समाज' में इतनी स्वच्छता है कि सारे भारत भर में ऐसा दूसरा उदाहरण प्राप्त नहीं होगा। दीक्षा-प्राप्त एक व्यक्ति के लिये स्वच्छता का पाठ सुबह विस्तर छोड़ने से लेकर रात को सोने तक का होता था।''(महापुरुष श्रीमन्त शंकरदेव: कृति और कृतित्व, पृ. ७७)

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

शंकरदेव प्रणीत रचनाओं में 'वरगीत', कीर्तनघोषा, तथा नाटकों का विशेष स्थान हैं। 'वरगीत' उनके आध्यात्मिक गीतों का संग्रह है तो कीर्तनघोषा में भक्ति की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए कीर्तन के विभिन्न महात्म्यों, यथा- ज्ञान, श्रवण, कीर्तन, भक्ति-योग, उत्तम भक्ति, उत्तम, मध्यम, प्राकृत भक्त, प्रार्थना, कलियुग के परम धर्म आदि का वर्णन करते हुए शारणागति की महिमा को विशेष स्थान दिया है। नाटकों में उनके कालियदमन नाट', 'पत्नीप्रसाद' केलिगोपालनाट', रुक्मिणीहरणनाट, पारिजात हरण, रामविजय, चिह्नयात्रा' आदि महत्त्वपूर्ण हैं। इनकी कथावस्तु पौराणिक होते हुए भी युगीन सन्दर्भ इन नाटकों को विशेष महत्त्व देते हैं।

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि भक्ति-युग के महान प्रज्ञा-पुरुषों में श्रीमन्त शंकरदेव का अपना एक विशेष स्थान है। उनके बारे में असम से बाहर के लोगों को भले कम जानकारी हो, पर उनके विचार असमिया समाज-संस्कृति के हृदय की धड़कन हैं। उन्होंने एक युग बदला है और एक नये समाज तथा संस्कृति को रचा है। श्री लक्ष्मीनाथ बेजबरुआ के शब्दों से इस लेख का समाहार करना उचित ही होगा कि, ''शंकरदेव ने विविध अमूल्य ग्रन्थों को रचकर असम को एक उच्च कोटि का धर्म प्रदान किया, तुलनीय साहित्य प्रदान किया, निर्मल चरित्र दिया, स्वच्छ आचार-व्यवहार दिया, असमिया को गीत दिया, नाटक दिया, अभिनय दिया, कुल मिलाकर उन्होंने असम को सब कुछ दिया। इन्होंने असम को जो कुछ दिया, इसकी तुलना विश्व भर में नहीं हो सकती। एक राष्ट्र के लिये जो-जो उपादान चाहिए, उन सबको उन्होंने असम को दिया। धर्म, संस्कृति, भाषा, समाज, रीति-नीति, सदाचार मनुष्यत्व, सत्यनिष्ठ संगीत-विद्या, तथा चित्रकला तक सब कुछ।'

भाषा संकायाध्यक्ष
राजीव गाँधी विश्वविद्यालय, रोनो हिल्स, दोइमुख
ईटानगर, अरुणाचल प्रदेश-791112

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

मध्यकालीन काव्य का शास्त्रीय स्वरूप

● प्रो. सुशील कुमार शर्मा

'शास्त्र' शब्द अपरिचित नहीं है। इस शब्द के उच्चारण मात्र से मन-मस्तिक में धार्मिक ग्रंथों का प्रतिबिम्ब उभरता है। पर, शास्त्र का स्वरुप इतना संकीर्ण नहीं है। विश्र्व के आदिग्रंथ कहे जाने वाले ऋग्वेद में शास्त्र शब्द को इस प्रकार परिभाषित किया गया है-

नहिं षस्तव नोमम शास्त्रे अन्यस्य रव्यति।

यो अस्मान्वीर आनयत्। १

मैत्रेयी उपनिषद में चार्वाक और वृहस्पति के संवादों के मध्य शास्त्र शब्द का जो उल्लेख हुआ है, वह भी ऋग्वेद के 'शास्त्र' शब्द के अभिव्यक्त अर्थ में-

बृहस्पतिर्वै शुक्रो भूत्वेन्द्रस्याभ्भयासुरेभ्यः

क्षयाये माम विदयामसृजत्।

तया शिवमशिवमित्युददिशन्य शिवमिति

वेदादिशास्त्रहिंसक धर्माभिध्यानमस्त्विति।। २

श्रीमद भागवत गीता में शास्त्र शब्द का उल्लेख निम्नानुसार हुआ है-

इतिगुह्यतमं शास्त्रमिदमुत्कं मयानघ।

एतद्बुद्ध्वां बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत। ३

'इंसाइक्लोपीडिया इन हिंदुज्म' में शास्त्र को इस प्रकार व्याख्यायित किया गया है-

. The word is generally used as a suffix in the Indian literature context, for technical or specillizd knowledge in a defined area of practic.

Shashtra has a similar meaning to English- logy, e.g. ecology, psychology, meaning scientific and basic knowledge on particular subject. Examples in terms of modern neologism include shautik shashtra- "Physics", rasayan shashtra- "Chemistory". Jivshashtra- "biology", vastushashtra- architectural science, shilpshashtra- science of politics, economics and nitishashtra compendium of ethics or right policy.4

'शास्त्र' वस्तुतः जीवन के विविध पक्षों को नियमित करने का लिखित विधान है। ''सृष्टि के प्रारंभ में जीवन और जीवन का प्रत्येक कार्य व्यापार अनियमित था। इसे नियमित करने का प्रयास किया गया। अनुभव और प्रयोग के आधार पर नियमों उपनियमों का निर्माण किया गया। इन्हें लिपिबद्ध किया गया। धर्म-दर्शन-अध्यात्म-कलाएँ- सब इन नियमों से नियंत्रित हुई। ऐसे ग्रंथों को शास्त्र कहा गया। शास्त्रों की संख्या तो छट्ट बताई गयी है, परन्तु इनसे इतर भी जो क्षेत्र हैं, उन्हे भी शास्त्र की संज्ञा से अभिहित किया गया। जैसे- न्याय शास्त्र, शिल्पशास्त्र, सौंदर्यशास्त्र, कामशास्त्र, खगोलशास्त्र, नाटयशास्त्र,

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

छन्दशास्त्र काव्यशास्त्र आदि।'' ५

मध्यकाल में सृजित साहित्य ही सामान्यत: मध्यकालीन साहित्य है। दस-बीस वर्षो के अन्तर से इसका काल-निर्धारण विद्धानों के मध्य मतैक्य स्थापित नहीं कर सका। मतभिन्नता के उपरान्त भी प्राय: सभी ने आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के द्वारा निर्धारित किये गये काल विभाजन का आश्रय ग्रहण किया है। आचार्य शुक्ल ने अत्यन्त विस्तृत मध्यकाल को अध्ययन सौकर्य की दृष्टि से दो उपविभागों में वर्गीकृत किया पूर्व मध्यकाल संवत १३७५ से १७०० और उत्तर मध्यकाल-संवत १७०० से संवत १९००। इसका नामकरण भी उन्होने क्रमश: भक्तिकाल और रीतिकाल रखा। इन दोनों कालों में सृजित काव्य भी क्रमश: भक्तिकाव्य और रीतिकाव्य कहलाया। भारतीय साहित्य परम्परा संस्कृत से प्रारंभ होती है। संस्कृत में काव्य रुपों का स्वरुप जिस प्रकार निर्धारित किया गया, हिन्दी साहित्य में भी उसे शास्त्रीय मानकर यथावत ग्रहण कर लिया गया। रस, रीति, वक्रोक्ति, कवि-समय, काव्य के गुण-दोष, अलंकार, ध्वनि आदि संस्कृत में जितने भी काव्य के अंग-उपांग निर्धारित किये गये, हिन्दी में उन्हें यथावत ग्रहण कर लिया गया।

शास्त्र को परम्परा पोषण देती है। धर्म का आवरण शस्त्र पर आच्छादित होता है। इसीलिए शास्त्र द्वारा निर्धारित किये गये मार्ग से च्युत होना धर्मविमुख कार्य समझा जाता है। मध्यकाल के साहित्य में शास्त्र का सामाजिक स्त्रर पर विरोध हुआ है तो उसकी पुष्टि भी हुई है। काव्य के क्षेत्र में शास्त्रीय परम्पराओं को विश्रृंखलित किया गया है, तो परम्पराओं को पूर्ण सम्मान भी प्रदान किया गया है।

पूर्व मध्यकाल को उसकी प्रवृत्तियों के आधार पर ज्ञानाश्रयी, प्रेम-मार्गीय, कृष्णभक्ति और रामभक्ति शाखा के रुप में विभाजित किया गया हैं। इनमें से प्रथम दो का संबंध निर्गुण भक्तिधारा तथा अंतिम दो का संबंध सगुण भक्तिधारा से है। तत्कालीन राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में आचार्य शुक्त का मत है कि- ''रामानुजाचार्य (संवत १०७३) ने शास्त्रीय पद्धति से जिस सगुण भक्ति का निरुपण किया था, उसकी ओर जनता आकर्षित होती चली जा रही थी।'' ७

यहाँ यह तथ्य उल्लेखनीय है कि रामानुजाचार्य की परंपरा में रामानंद हुए। रामानुजाचार्य ने जो कार्य दक्षिण भारत में किया, रामानंद ने वही कार्य उत्तर भारत में किया। रामानुजाचार्य ने भक्ति को शास्त्रीय स्वरुप प्रदान किया और वैष्णव भक्ति की नींव रखी। रामानंद ने शास्त्रीय परंपरा को नकारते हुए मानव-मानव के मध्य व्याप्त ऊँच-नीच के भेदभाव को समाप्त करने पर बल दिया। निर्गुण भक्ति धारा के कवियों के मध्य रामानंदजी की विचारधारा अत्यन्त लोकप्रिय हुई। यह इसलिए कि यह विचारधारा शास्त्र-पोषित परम्पराओं कों नकारती थी। शास्त्रों ने निम्न वर्ग के लोगों को भक्ति न करने का आदेश दे रखा था। इन संत कवियों ने इसके विरुद्ध विद्रोह किया। शास्त्र ने ब्राह्मण की सर्वोच्च सत्ता स्थापित की, निर्गुणियों ने इसका पुरजोर विरोध किया। कबीर ने कड़वा सच तो यहाँ तक व्यक्त किया कि-

तूँ बांभन जो बंभनी जाया। आन राह ह्वै व्योंन आया। ८

यह अभिव्यक्ति शास्त्रीय सत्ता के लिए चुनौती थी। चुनौती तो यह भी थी कि निर्गुणी कवि शास्त्र में लिखे हुए को नकार कर 'आँखन देखी' को स्वीकार कर रहे थे और इसे ही जीवन और जगत का सत्य स्वीकार कर रहे थे-

तेरा मेरा मनवा कैसे एक होई रे।
तू कहता कागद की लेखी मैं कहता हूँ आखिन देखी। ९

पूर्व मध्यकाल का निर्गुणी संत साहित्य शास्त्र को नकारता है, शास्त्र को हेय दृष्टि से देखता है, शास्त्र को समाज

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

का तोड़क मानता है और इसीलिए इस शाखा के कवियों का आदर शास्त्र के प्रति नहीं हैं। शास्त्र को आदर देने की अपेक्षा ये प्रेम को अधिक महत्व देते हैं-

पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ पंडित भया न कोय।
ढाई आखर प्रेम का, पढ़े सो पंडित होय।। १०

पूर्व मध्यकाल की प्रेममार्गीय शाखा के कवि शास्त्र के प्रति तटस्थ रहे। इसका कारण था। ये कवि प्रायः सूफी थे, मुसलमान थे और हिन्दू चरित्रों के आधार पर अपने मन का प्रचार करते थे। इसीलिए इन कवियों ने प्रत्यक्षतः न सही, अप्रत्यक्ष रुप से ही सही, भारतीय शास्त्र और शास्त्रीय सिद्धान्तों का आदर किया। शास्त्रों में जिन नियमों-उपनियमों की स्थापना की गई है, इन कवियों ने बिना किसी प्रतिवाद के उसे ययावत अपने काव्य में स्थान दिया। इतना ही नहीं, भारतीय काव्य शास्त्र की परंपरा का निर्वाह भी इन सूफी कवियों के द्वारा किया गया। भारतीय काव्य शास्त्र में ग्रंथ रचना के पूर्व ईश-वन्दना का प्रावधान है। सूफी भक्त कवियों ने इन परम्परा को सम्मान दिया। जायसी ने पदमावत का प्रारंभ इसी ईश वन्दना से किया है-

सुमिरौं आदि एक करतारू। जेहिं जिउ दीन्ह कीन्ह संसारू।
कीन्हेसि प्रथम जोति परकासू। कीन्हेसि तेहि पिरीत कैलासू।।
कीन्हेसि अगिनि पवन जल खेहा। कीन्हेसि बहुतै रंग उरैहा।
कीन्हेसि धरती सरग पतारू। कीन्हेसि बरन बरन औतारु।।
कीन्हेसि दिन, दिल अर ससि राती। कीन्हेसि नखत लराइन पाँती।
कीन्हेसि धुप सीउ औ छाँहा। कीन्हेसु मेघ बीजु तेहि माँहा।
कीन्हेसि सप्तमही बरम्हंडा। कीन्हेसि भुक्त चौदहों खंडा।।
कीन्हे सबै अस जाकर दूसर छाज न काहि।
पहिले नाकर नाँव लै कथा कहौं औगाहि।। ११

६९ चौपाइयों और १० दोहों सहित जायसी ने ईश वन्दना की है। १० वें दोहे के पश्चात वे इस्लाम के प्रवर्तक मोहम्मद साहब का स्मरण करते हैं-

कीन्हेसि पुरुष एक निरमरा। नाम मुहम्मद पूनौ करा।। १२

हजरत मोहम्मद साहब की स्तुति और चार खलीफाओं के पश्चात जायसी देश के राजा का गुणगान करते हैं-सेरसाहि देहली सुलतानू/चारिउ खंड तपै जस भानू।।

३५ चौपाइयों और ५ दोहों में राजा के स्तवन के पश्चात जायसी २१ चौपाइयों और ३ दोहों में अपने पीर अर्थात गुरु की बन्दना करते हैं और फिर अपना अर्थात कवि परिचय देते हैं।

जायसी द्वारा ग्रंथ रचना का यह समूचा उपक्रम शास्त्रीय निर्देशानुसार है। इतना ही नहीं, प्रकृति वर्णन ऋतु वर्णन, प्रमुख और सहायक रसों का निर्धारण, नायक-नायिका का निर्धारण, नाट्य संधियाँ, फल प्राप्ति सब कुछ काव्यशास्त्र के नियमों में आबद्ध है। अन्य सूफी कवियों ने भी जायसी के मार्ग का न्यूनाधिक अनुसरण करते हुए भारतीय शास्त्रीय काव्य परंपरा को सम्मान दिया है।

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

सगुण भक्ति काव्य की दोनों शाखाओं रामभक्ति और कृष्ण भक्ति शाखा में शास्त्रसम्मत नियमों का चरमबिंदु तक पोषण हुआ। शास्त्रों का निरादर करना घोर पाप का सूचक बन गया। इन्हें बेचने या इनके विरुद्ध चलने वालों की अधोगति प्राप्त होती है।

बेचहिं बेदु धरमु दुहि लेहीं। पिसुन पराय पाप कहि देहीं।। १२

नजि श्रुतिपंथु बाम पथ चलहीं। बंचक बिरचि बेष जगु छलही।। १३

रामभक्ति शाखा के प्रतिनिधि कवि तुलसी और इस शाखा के प्रतिनिधि ग्रंथ रामचरित मानस में ऐसे अनेक स्थल हैं, जहाँ शास्त्रों और शास्त्र-सम्मत व्यवहारों का समर्थन किया गया है और इसके विपरीत आचरण को त्याज्य व भर्त्सनायोग्य बताया गया है।

रामभक्ति शाखा के काव्यकारों में काव्यशास्त्रीय विधानों को यथावत ग्रहण करने की प्रवृति प्राप्त होती है। दोहा, चौपाई, चौपई, सोरठा, गीतिका, हरिगीतिका, चामर, सवैया, घनाक्षरी जैसे विविध शास्त्रीय छदों का यथोचित स्थान पर निर्दोष प्रयोग हुआ है।

रामभक्ति शाखा की भाँति ही कृष्णाभक्ति शाखा के कवियों ने काव्य-रचना के समय शास्त्रीय मर्यादाओं को ध्यान में रखा। शास्त्र भक्ति के जिन विविध प्रकारों का उल्लेख करता है, उनका निवेचन रामभक्ति शाखा की भाँति कृष्ण भक्ति शाखा में भी हुआ है। सूर के अनेक पदों में शास्त्रों की दुहाई दी गयी है। इतना ही नहीं संगीत के शास्त्रीय स्वरूप के अनुसार विविध राग-रागनियों में सूर ने अपने गेय पदों को निबद्ध किया है।

उत्तर मध्यकाल तक आते-आते परिस्थितियों में परिवर्तन परिलक्षित होने लगा था। इस काल में एक आश्यर्चजनक परिवर्तन यह दिखाई देता है कि समाज और राजनीति शास्त्रीय बंधनों से मुक्त हो रही थी, जबकी काव्य के क्षेत्र में शास्त्र मुखरित हो रहा था। शास्त्रों ने समाज की सुचिता के लिए जो बंधन निर्धारित किये थे, उनमें शिथिलता आने लगी थी, यद्यपि वर्ण व्यवस्था अब भी कठोर थी, पर उसमें कंपन होने लगा था।

काव्य-क्षेत्र में शास्त्रीय मान्यताओं की स्थापना इस काल की महत्वपूर्ण देन हैं। इसका कारण था।

दरबारी कवियों की संख्या इस काल में पर्याप्त पल्लवित हो रही थी। अपने आश्रयदाता को अपने ज्ञान से चमत्कृत करने और अन्य कवियों से स्वयं को श्रेष्ठ सिद्ध करने के लिए ये कविगण शास्त्रीय परम्परा का आश्रय ग्रहण करते थे, ताकि उनकी गणना कवियों के साथ-साथ आचार्यो की श्रेर्णी में भी हो सकें। हिन्दीं में लक्षण ग्रंथ की परिपाटी पर रचना करने वाले जो सैकड़ो कवि हुए हैं, वे आचार्य की कोटि में नहीं आ सकते। वे वास्तव में कबि ही थे। उनमें आचार्य के गुण नहीं थे। उनके अपर्याप्त लक्षण साहित्यशास्त्र का सम्यक बोध कराने में असमर्थ हैं। १४

आचार्य शुक्ल की मान्यता है कि हिन्दी में लक्षण ग्रंथों की परंपरा का श्रीगणेश तो केशव से बहुत वर्षो पूर्व हो चुका था। ''संवत १५९८ में कृष्ण राम योड़ा बहुत रस निरुपण कर चुके थे। उसी समय के लगभग चरखारी के मोहनलाल मिश्र ने 'श्रृंगार सागर' नामक एक ग्रंथ श्रृंगार संबंधी लिखा। नरहरि कवि के साथी करनेश कवि ने 'कर्णाभरण', 'श्रुतिभूषण', और 'भूपभूषण' नामक तीन ग्रंथ अलंकार संबंधी लिखे। रस.निरुपण और अलंकार निरुपण का इस प्रकार सूत्रपात हो जाने पर केशवदास जी ने काव्य के सब अंग का निरुपण शास्त्रीय पद्धति पर किया। १५

''समुचे मध्यकाल की यह भी एक रेखांकन योग्य विशेषता है कि ज्ञानमार्गी काव्यधारा, कृष्णभक्ति काव्यधारा

CDPF Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

तथा रीतिकाव्यधारा प्रवंध काव्यों से हीन रही है। इस बिंदु के प्रसंग में प्रेममार्गीय काव्यधारा और रामभक्ति काव्यधारा को समृद्धमाना जा सकता है। शास्त्र के निर्वहन का सामाजिक दायरा सगुण भक्ति काव्य में पर्याप्त विस्तृत है, जबकि काव्यशास्त्रीय प्रभाव रीतिकालीन काव्य पर सर्वाधिक है। निर्गुण काव्य के अंतर्गत शास्त्रीय प्रभाव और शास्त्र दोनों की ही अवहेलना की गयी है।''१६

हिन्दी साहित्य में मध्यकाल का विस्तार संवत १०५० से १९०० तक अर्थात लगभग ८५०-९०० वर्षों तक है। भारतीय शास्त्रों की रचना वैदिक संस्कृत से लेकर लोकिक संस्कृत तक में हुई। इन शास्त्रों से समाज को नियंत्रित व अनुशासित किया जाता रहा है। काव्य के अनुशासित सृजन हेतु नाट्यशास्त्रम् के द्वारा जिन नियमों-उपनियमों की रचना की गयी, कालान्तर में उनका सम्प्रदाय के रुप में विकास होता रहा, किन्तु धार्मिक और सामाजिक शास्त्रों की भाँति काव्य-शास्त्र भी आचार्य भरत से लेकर पंडितराज जगन्नाथ और इनके भी आगे तक संस्कृत देव भाषा में सृजित होता रहा। परिणाम यह हुआ कि पंडितों के मध्य तो वौद्धिक जुगाली के रुप में शास्त्रार्थ होते रहे, परन्तु आम जन इससे अपरिचित रहा। आम जन केवल पंडितों को 'लड़ने-झगड़ते' हुए देखता रहा और उनके ज्ञान से चमत्कृत होकर उन्हें नमन करता रहा।

मध्यकालीन साहित्य को नि:संदेह यह श्रेय प्राप्त है कि शास्त्र को उसने पंडितों के तर्क वितर्क की पोथियों से मुक्त किया। प्रथम बार आम जन इस तरह से परिचित हुआ कि कविता का भी अनुशासन होता है, काव्य का भी स्वतंत्र शास्त्र होता है। मध्यकाल का भक्ति काव्य यदि इस काव्य शास्त्र का व्यावहारिक पक्ष है तो रीतिकाव्य सैद्धांतिक पक्ष।

हिन्दी विभाग,
मिजोरम विश्वविद्यालय,
आइजॉल-७९६००४

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

कबीर की दीपकधर्मी काव्य-संवेदना

डॉ. मधु सूदन शर्मा

अब यह सभी स्वीकार कर चुके हैं कि भक्ति आंदोलन सामंतवाद और ब्राह्मणवाद से जनता की मुक्ति के लिए आरंभ हुआ जार्ज ग्रियर्सन के अनुसार बिजली की चमक की तरह छा जाने वाले इस अपूर्व, अद्‌भुत तथा व्यापक आंदोलन के लिए 'सैकड़ों वर्ष से मेघखण्ड एकत्र हो रहे थे' न यह पराजित मनोवृत्रि का परिणाम था और नही मुस्लिम राज्य स्थापना की प्रतिक्रिया ही। इस प्रभावी भक्ति-भावना की पृष्ठभूमि में आर्यो के दार्शनिक और आध्यात्मिक विचार भी थे पर इनका मूल दक्षिण तथा मोहनजोदड़ो-हड़प्पा के द्रविड़ो में था, वेबर, कीथ, ग्रियर्सन, विलसन आदि पाश्चात्य विद्वत्जन इसे ईसाई देन मान रहे थे जबकि डॉ. ताराचन्द हमायूँ कबीर और आबिद हुसैन आदि के विचार से समूचा भारतीय भक्ति आन्दोलन मुस्लिम संस्कृति के सम्पर्क की प्रतिक्रिया थी। सम्पूर्ण भारतीय साहित्य में अपने ढंग की अकेली इस भक्ति-चेतना पर ईसाई असर की अटकलों को तो आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी अनुत्तरेय मानते है। हिन्दी साहित्य की भूमिका में उनका आत्म विश्वासी स्वर गूँजता है, ''मैं जोर देकर कहना चाहता हूँ कि अगर इस्लाम नहीं आया होता तो भी इस साहित्य का बारह आना वैसा ही होता जैसा आज है। वे वास्तविक हिन्दी साहित्य का आरम्भ यहीं से मानते हैं। डॉ. रामविलास शर्मा तो इसे आधुनिक काल की परिधि तक में समाहित करने को तैयार हैं। इस आन्दोलन के आरंभिक छोर पर आलवार और आडयार भक्त हैं। जटिल तर जाति व्यवस्था वाले दक्षिण भारत के आलवार भक्तों में कई अछूत जाति के थे आंडाल तो थी ही। इनकी भक्ति भावना जन साधारण से जुड़ी थी जो शास्त्रों के सहारे सारे भारत में फैल गई उत्तर भारत में इस नवीन काव्य-धारा के भगीरथ रामानन्द और वल्लभाचार्य माने जाते हैं। भारतीय वर्ण व्यवस्था के दंश झेलते अनेक संत कवियों को इन्ही रामानंद का शिष्य बताया जाता हैं। हालांकि इस गुरु शिष्य संबंध पर अब प्रश्नचिहन भी लगने लगे हैं।

भक्ति कालीन साहित्य को मोह और मोहभंग के द्वन्द्व से उत्पन्न अन्तर्विरोधों का साहित्य कहा गया है। कबीर इस समूचे भक्ति-साहित्य में धर्म एवं जाति गत ऊँच-नीच, सामाजिक आर्थिक विषमता, शास्त्रीय जकड़न आदि के प्रतिरोध में एक कारगर हस्तक्षेप हैं।

'कबीर' का अर्थ है- महान, श्रेष्ठ और बड़ा। पद और पदार्थ का यह ऐक्य उनकी कथनी-करनी, अनुभूति अभिव्यक्ति में एकता की मिसाल है। उनका समय सामाजिक-सांस्कृतिक, राजनैतिक दृष्टि से अनास्था का समय था। यह विघटन और वर्जनाओं का काल भी था। उन्हें सिकन्दर लोदी का समकालीन माना जाता है। वे अपने समय के शासकों के धर्मगत भेदभाव, अत्याचारों, सामाजिक संत्रास और धार्मिक उम्माद से क्षुब्ध थे। इस सामंती व्यवस्था में अधिकार कुछ हाथों तक सीमित थे। भोग-विलास, ऊँच-नीच के भेद के साथ राजनैतिक सामाजिक असमानता का प्रभावशाली वर्ग द्वारा समर्थन किया जा रहा था। कबीर-वाणी में यह 'स्वामी होना सोहरा, दोहरा होना दास' वाला समय था। शासक एवं शासकीय अधिकारी यमराज सरीखे बन गए थे।

राजा देस बड़ो परपंची, रैयत रहति उजारी

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

इतते उत उतते इत रहहिं, जम की सॉड सवारी

कबीर पर अपने अनेक पूर्ववर्ती साधना सम्प्रदायों का प्रभाव माना गया हैं। अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध पुराणों को उनका गुण आध्यात्मिक पथ प्रदर्शक मानते हैं। डॉ. पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल ने अपने शोध प्रबंध 'द निर्गुन स्कूल ऑफ हिन्दी पोइद्री' (१९३४) में निर्गुण पंथ कबीर पर नाथ पंथियों के प्रभाव की विस्तार से चर्चा की है। डॉ. रामविलास शर्मा मानते हैं कि 'कबीर' तथा अपनी अन्य पुस्तकों में द्विवेदी जी ने योग और निर्गुण संतों पर जो कुछ लिखा है उसका बहुत कुछ डॉ. पीताम्बर के शोध ग्रंथ में मौजूद है। द्विवेदीजी पर अमौलिकता का यह आरोप असंगत है। बड़थ्वाल के अनुसार कबीर पर योग का प्रभाव रामानंद के माध्यम से आया है जबकी द्विवेदी जी आचार्य क्षिति मोहन सेन की तरह इसे सीधे कबीर की वंश-परम्परा से जोड़ते हैं। द्विवेदी जी का कबीर का जाति संबंधी मत भी भिन्न हैं। वे उनकी तरह न तो जुलाहा जाति को कोरी जाति का मुस्लिम संस्करण मानते हैं और न कबीर को मुस्लिम कुल में उत्पन्न ही। उनके विचार से नाथ मतावलंबी गृहस्थ योगियों की धर्मांतरित वंश-परम्परा में पालित-पोषित होने का कारण कबीर का उससे सीधा सम्बंध हैं। यूँ द्विवेदी जी अपने पूर्ववर्तियों से अलग कबीर संबंधी अनेक जन श्रुतियों को जाल से निकलकर आधुनिक अनुसंधानों के आलोक में विचार के लिए जाने जाते हैं, तथापि अपनी मान्यताओं के लिए वे प्रतिपक्षियों के प्रहारों से महफूज नहीं रह पाते। डॉ. रामविलास शार्मा के विचार से भारत का विराट जनवादी साँस्कृतिक आन्दोलन जिसे हम भक्ति आन्दोलन के नाम से जानते हैं इन कनफटे जोगियों और वामाचारी सिद्धों की प्रेरणा का मोहताज न हो सकता था।[1] डॉ. धर्मवीर के तो कबीर संदर्भित सम्पूर्ण लेखन (जिसे मैनेजर पाण्डेय 'विमर्श' तथा नामवर सिंह साहित्यिक आलोचना मानते हैं) के केन्द्रीय लक्ष्य आचार्य द्विवेदी ही हैं। इसके बावजूद कबीर की ख्याति और व्यापक स्वीकृति का श्रेय 'कबीर' को ही जाता है। इससे अलग कबीर के बारे में सोचने और कहने के लिए न तो कुछ बचता है और न आजादी से लेकर अबतक अपनी सीमाओं के बावजूद कबीर पर लिखी गयीं सैकड़ों पुस्तकों की फेहरिश्त में इससे बेहतर कोई दूसरी रचना ही नजर आती है।[2]

कबीर अपने समय की उपेक्षित, शोषित, दीन-हीन, प्रताड़ित निम्न जाति में पले और बढ़े थे। वे धार्मिक रुप से सत्तापक्ष सहधर्मी जरूर थे पर उन्हें कदम दर कदम यह अहसास भी हो रहा होगा कि समता और बराबरी की लालसा में धर्मांतरित जातियों की सामाजिक स्थिति में कोई बड़ा बदलाव नहीं आया था। कबीर का समाज न हिन्दुओं में समादृत था, न मुसलमानों द्वारा पूर्णत: स्वीकृत! उनकी रोष भरी विद्रोही शैली का यह भी एक कारण संभव है। दोनों ही जगहों की उपेक्षा ने 'पीहर जाऊँ न रहूँ सासरे जैसे भाव ईजाद किए। उपन्यासकार हाबर्ड फास्ट के विचार से यातना के दौर में लिखित साहित्य को हमें महानता के मानदंण्डों से नहीं नापना चाहिए, उसे नापना चाहिए उसकी जीवनी शक्ति (वायटेलिरी) से! कहना न होगा कि यातना के दौर से सृजित कबीर काव्य में निहित अपराजेय जीवनी शक्ति के कारण ही कबीर आज सर्वाधिक प्रासंगिक, आधुनिक और प्रगतिशील हैं। रवीन्द्रनाथ मानते हैं कि सच्ची आधुनिकता दिमागी स्वतंत्रता में है, रूचि की दासता में नहीं। दिमाग से दुरुस्त कबीर ने इंसानी नाबराबरी को सही उहराने वाले ब्राह्मणवाद के सभी रूपों पर लगातार प्रहार किए। चुनौती पूर्ण भाषा में उन्होंने कहा, ''ज्ञान का वरण करो अधंविश्वास बाह्माचार त्यागो।[3] अप्प दीप बनो। ब्राह्मणवाद की राजधानी काशी में उनकी ललकार गूँजती है :-

तू ब्राह्मण मैं काशी का जुलाहा
पूछहु मोर गियाना

कबीर की कविता संवाद की कविता हैं। अपने ज्ञान पर अटूट विश्वास उन्हें अपने प्रतिपक्षियों और 'साधो/हरिजन' से

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

सीधे संवाद की राह सुझाता हैं। वे किसी को जन्मना स्पृश्य नहीं मानते। उन्होंने अपने समय के समाज में मनुष्य की पूर्व निर्धारित पहचान- चाहे वह धर्मगत हो, जातिगत हो या धनगत- कभी स्वीकार नहीं की। सार्वभौम नैतिकता की प्रतिष्ठा और उत्तरदायी व्यक्तित्व के निर्माण के लिए जाति के तर्क को ध्वस्त करना जरुरी हैं। कबीर सामाजिक स्तर पर मानवतावादी हैं। वे लोकप्रियता में अपने प्रतिद्वन्दी तुलसीदास की तरह जाति पूछने पर तिलमिला नहीं जाते। जाति पर ज्ञान को वरीयता देने के बावजूद यदि जरुरी होता है तो बिना हीन भावना ग्रस्त अपनी जाति का बार-बार नामोल्लेख भी करते हैं। इस जातिगत 'अकारण दंड' के प्रति दो टूक विद्रोह उनकी शैली है:

तुक कत ब्राह्मण, हम कत सूद
हम कत लोहू तुम कत सूद
संतन जाति न पूछो निरगुनिया
साध ब्राह्मण, साध छत्तरी साधै जायति बनिया
साधन में बत्तीस कौम हैं तेढ़ी तोर पुछरिया

कबीर इन टेढ़ी पूँछ वालों- पंडित-काजी, मुल्ला-मौलवी तथा अवधू-जोगिड़ा के मजहबी ताम झाम पर उन्हें ललकारने तथा उन पर अपने तीशण व्यंग्य-वाणों को छोड़ने का कोई मौका नही चूकते। उनके विचार से अपने अपने प्रभाव क्षेत्रों में ये सब मानवीय समता और गरिमा को नष्ट करने, गिराने के लिए उत्तरदायी हैं। वे इन सब के उच्चता के दंभ के मूल आधारों पर ही वार करते हैं जिनमें वेद-कतेब, देवरा-मसीत, व्रत-रोजा, कंठी-माला, तिलक-छापे, अजान-उपासना आदि सभी बाह्याचार शामिल हैं। 'लोचन अनंत उधाड़िया' वाले सतगुरु ने उन्हें जो दिव्य दृष्टि बख्शी है उससे योग साधना में मस्त योगी भी नहीं बच पाते योग- क्रियाओं को भी एक तरह का ब्राह्याचार ही मानते हैं। वेशधारी कोई भी हो, कबीर के प्रचंड प्रहारों से बच नही सकता:

जोगी जो तुम पवना गगन चढ़ाओ करो गुफा में बासा
गगना-पवना दोनों बिनसैं, कहँ गया जोग तुम्हारा
वे मीठी चुटकी लेते हैं :
जोगी पड़े वियोग कहैं घर दूर है
पासहिं बसत हुजूर, तू चढ़त खजूर है

खजूर पर चढ़ना बड़ा सटीक मुहावरा है- खजूर जहाँ, 'पंछी को छाया नहीं फल लागे अति दूर' यानि सारहीन बड़प्पन!

अवधू भूले को घर लावै, सो गुरु अलख जगावै [4]

कबीर तथा उनके समाजी लोगों के लिए जाति व्यवस्था का फौलादी ढाँचा जीवन-मरण के सवाल से जुड़ा हैं। योगी तो खुद ही इस ढाँचे पर प्रहार करते हैं। कबीर बखूबी जानते हैं कि शोषण तथा गैर बराबरी का यह दानवीढॉचा पंडित मुल्लाओं ने अपनी किताबी जानकारी-वेद कुरान के द्वारा ही खड़ा किया है। इसलिए उनके हमले के मुख्य केन्द्र ये माध्यम ही हैं। सच यह भी है कि पुरोहितवाद पर इस उग्र आक्रमण को द्विवेदी जी बचागए हैं। उन्होंने बाह्याचारों पर प्रहार को तरजीह दी है।

कबीर पुनर्जन्मवाद, अवतारवाद, पैगम्बर परम्परा तथा जन्मांतर भक्ति के भी विरोधी हैं। वे तो अपने आराध्य की अभेद भक्ति को ही जानते हैं- 'बूँद समानी समुद में, सो कत हेरी जाइ' तथा 'तूँ-तूँ-करता तूँ भया, मुझमें रही न हूँ' के द्वारा वे पूर्णकार हो मुक्ति आकांक्षी हैं। 'जनम जनम रति राम पद' की चाह का संबंध तो कुलीनता और सवर्णता से है। जिन्हें पैदा

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

होने मात्र से जीवन में वर्चस्व मिल जाता है- वे सवर्ण ही ऐसा जीवन बार-बार चाहेंगे; अधिकार विहीनों को तो मुक्ति में ही राहत दिखती है। कुलीनता का संबंध पूर्वजन्म से है जबकि चारित्र्य इसी जन्म के कर्म से प्राप्त हैं। इसलिए वे आचरण पर जोर देते हैं- आर्ष ग्रंथों पर आश्रित कुलीनता को नहीं! कुलीनता से उनका पूछना है:

जो तू बांभन बंभनी जाया आन बाट से काहे न आया
बाह्मण गुरु जगत का, साधू का गुरु नॉहि
उरझि,पुरझि कर मरि रहा, चॉरितु वेदों मॉहि

प्रवंची, संग्रही ब्राह्मण उस साधु का गुरु कैसे हो सकता है जिसका स्वभाव सूप की तरह सारग्रही हैजो तलवार का मोल करता है, म्यॉन को छोड़ देता है तथा जिसकी करनी कुंदनवर्णी है। चतुर्वेदी पंडित वेदों के बाह्याचारों में उलझा रह जाता है, ईश्वर में नहीं रम पाता। कुलीनता आचरण से बड़ी नहीं हैं।

ऊँचे कुल के जनमियाँ करणी न ऊँची होइ
सोवन कलस सुरै भरया साधु निद्या सोइ

पिछले दिनों कबीर को सूफी परम्परा के साथ देखे जाने की चर्चा फिर शुरु हुई है। पुरुषोत्तम अग्रवाल की 'अकथ कहानी प्रेम की:कबीर की कविता और उनका समय', पर आयोजित एक गोष्ठी के अध्यक्ष नामवर सिंह ने यही कहा यह कोई नई बात नहीं थी। कबीर पर पहला आलोचनात्मक ग्रंथ जी. एच वैस्ट कॅाट का 'कबीर एण्ड द कबीरपंथ' माना जाता है। सन १९०७ में प्रकाशित इस पुस्तक में लेखक ने कर्नल मेल्कम के मतानुसार कबीर को मुसलमान और सूफी बताया है। कर्नल मेल्कम प्रो. विलसन, शिवसिंह सेंगर तथा गार्सादतासी की तरह उन विद्वानों में से एक हैं जिन्होंने कबीर पर संक्षिप्त चर्चा की है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर की १९१५ की कृति 'वन हंड्रैड पोइम्स ऑफ कबीर' की भूमिका में एवलिन अंडरहिल ने लिखा है कि १५ वीं सदी में भक्तिकाल में समन्वयवादी प्रवृत्तियाँ पूर्णत: विकसित थीं तथा हिन्दू सूफी आपस में मिलते थे। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डॉ. रामकुमार वर्मा, गोविन्द त्रिगुणायत आदि भी रहस्यवाद के क्षेल में कबीर को सूफियों से प्रभावित मानते रहे हैं। कबीर को सूफी या सूफीमत से प्रभावित मानने वालों में डॉ. ताराचंद तथा अली सरदार जाफरी भी शामिल रहे हैं। 'कबीर बानी' के प्राक्कथन में जाफरी कहते हैं। ''कबीरदास एक मुसलमान सूफी थे जो हिन्दू भक्ति की भाषा में बात कर रहे थे।''[5] जो ब्रह्म हिन्दुओं की विचार पद्धति में ज्ञान मार्ग का निरुपण था, उसी को कबीर ने सूफियों की तर्ज पर उपासना और प्रेम का विषय बताया। 'तलाश' के संपादक प्रो. शैलेश जैदी भी अबुल फजल के 'आइने अकबरी' शेख अब्दुल हक के 'खबारुल अखयार' तथा शेख मुस्ताकी के संदर्भ से कबीर को 'मुवहहिद' (एकात्मवादी) बताते हैं [6] जो शरीयत के अनुसार न तो मुसलमानों की श्रेणी में आते हैं और न काफिरों की में! गालिब भी खुद को मुवहहिद बताते है!

हम मुवहहिद हैं हमारा कीश (प्रवृत्ति) है तर्के-रुसूम (बाह्याचार-त्याग)
मिल्लतें जब मिट गयीं अजजा ए ईमां (ईश्वरीय आस्था) हो गई।

डॉ. शैलेश जैदी आरोप लगाते हैं कि हिन्दी आलोचकों ने एक सिरे से कबीर के इस रुप को न केवल खारिज किया बल्कि कबीर को रामानंद का शिष्य बताने में पृष्ठ दर पृष्ठ भरते चले गए। इस तरह वे डॉ. धर्मवीर की इस अवधारणा में भागीदार बन जाते हैं। ब्राह्मण समीक्षकों ने कबीर के दर्शन और सामाजिक संदेश के प्रति तनिक भी सम्मान नहीं बरता। उन्होंने कबीर की नहीं कबीर के भीतर रामानंद को बैठाकर उसकी प्रशंसा की हैं।[7] कथित 'ब्राह्मणवादी समीक्षकों' पर इस आरोप को इससे भी बल मिला है कि सतगुरु की प्रशंसा में रची गयीं ढेरों पंक्तियों में रामानंद का नाम मुश्किल से ही देखने को मिलता हैं। 'रामानंद चेताए' जैसी पंक्ति पर भी प्रक्षिप्त होने का साया है। कबीर के मूल स्वरूप पर पड़े आवरणों को

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

बेपर्दा करने के लिए लगभग इसी नाम से अपना आलेख लेकर आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री आगे आए। उन्होंने अनेक संदर्भ देकर कबीर के मुवहहिद रुप का खंडन किया। इसी तरह 'अकथ कहानी....' प्रसंग में डॉ. गोपाल राय ने भी नामवर के कबीर पर सूफी प्रभाव वाले कथन से असहमति दर्ज की हैं।[8]

डॉ. रामस्वरुप चतुर्वेदी ने 'जनसत्ता' रविवारी (१७ अक्टुबर १९९९) में प्रकाशित 'यहाँ से कबीर को देखिए' नामक अपने आलेख में कबीर पंक्तियों को उद्धृत कर कबीर की धर्मांतिरण-चिंता की चर्चा की तो इसके खंडन को अपनी पत्रिका 'आलोचना' के सहस्त्राब्दी अंक एक-दो में 'कबीर को भगवा' शीर्षक से नामवर जी आगे आए:

सुनति कराइ तुरुक जैं होना तौ औरति कों का कहिए
अरध सरीरी नारि न छूटै तातैं हिन्दू रहिए

पाठ-विवाद 'तातैं हिन्दु रहिए' पर केन्द्रित रहा। नामवर ने व्यंग्यात्मक शैली में आरोप लगाया कि रामस्वरुप जी ऐसे पाठ के द्वारा कबीर को हिन्दुत्व के लिए अगवा कर रहे हैं। शिष्टाचार से हटकर डॉ. रामविलास शर्मा की बरसी पर 'आलोचना' में 'इतिहास की शव साधना' नामक लेख के द्वारा वामपंथी नामवर ने डॉ. शर्मा पर वेद और दयानंद सरस्वती की तरफदारी को लेकर ऐसे आरोप लगाए थे। कमलेश्वर ने उनके इस कृत्य की 'बौद्धिक तालिबानीकरण' तथा विश्वनाथ प्रसाद तिवारी ने 'आलोचना का कट्टरवाद' कहकर भर्त्सना की थी। 'राष्ट्रीय सहारा' (४ नवम्बर २००१)के अपने लेख में कबीर की मनमानी व्याख्याओं के तमाशे का जिक्र करती हुई निर्मला जैन की टिप्पणी है, 'कुछ समय पहले तक जो नामवर जी कबीर के एक पद की व्याख्या के संदर्भ में रामस्वरुप चतुर्वेदी से बेतरह उलझ रहे थे वे ही आज रामविलास जी के मूल्याँकन के प्रश्न पर उन्हीं की पाली में चतुर्वेदी जी के साथ कंधे से कंधा मिलाए खड़े हैं।''[9] इस प्रसंग में डॉ. रामविलास शर्मा का प्रस्तुत कथन मानीखेज हैं, द्विवेदी जी के शिष्यों का यह भी एक महान योगदान है कि वे समूचे कबीर को नहीं स्वीकारते। कबीर जहाँ मुस्लिम कठमुल्लावाद पर प्रहार करते हैं वहाँ प्रो० नामवरसिंह और उनके सेक्युलर साथियों की बोलती बंद हो जाती हैं। (आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना) यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि 'प्रगतिशील लेखक संघ' (१९३६) के पहले घोषणा पत्र में भक्तिकालीन साहित्य को पलायनवादी कहा गया था।

स्वामी दयानंद वेद विरोधी होने के कारण कबीर पंथ की आलोचना करते हैं यद्यपि कबीर के तर्को और उनकी शैली में समानता नजर आती है। कबीर वेदों को दलित जातियों के खिलाफ ब्राह्मण के हाथों में एक हथियार के रुप में देखते थे:

पाण्डे कौन कुमति तोहि लागी
वेद पुरान पढ़त अस पाण्डे, खर चंदन जेहि भार

कबीर का विरोध इकहरा नहीं है। इसकी जद में काशी के मुल्ला तथा दंभी ब्राह्मण और उनका मजहबी जाल है। एक अदना-सा जुलाहा अपने अटल आत्मविश्वास और 'अन भै साँचा' के बल पर शक्तिशाली सम्पन्न वर्ग से उसी की सुरक्षित माँद में दो-दो हाथ कर रहा था। उसकी ललकार में अभय-युक्त अनुभव का सच था। कबीर नई वैकल्पिक व्यवस्था चाह रहे थे- एक ऐसी व्यवस्था जिसमें मानवीय संवेदना हो, समता भाव हो और हो मानवीय प्रेम और करुणा! उनकी प्रखर प्रश्नाकुलता दमनकारी सामंती वर्ण व्यवस्था तथा श्रेष्ठता के परम्परागत धार्मिक मानदण्डों के लिए स्थायी चुनौती थी। ब्राह्मणवाद ने जिस संस्कृत भाषा को देववाणी कहकर शोषण का साधन बना रखा था, कबीर ने 'कूपजल' कहकर उसकी उपेक्षा की इस भाषायी क्रांति ने लोकभाषाओं को उनका बाजिव हक दिलाया। भक्ति आंदोलन अपने इस रूप में मातृभाषाओं की मुक्ति का आंदोलन था। लोक संस्कृति लोक भाषाओं को पाकर मुखर हो उठी। वाणी के इस डिक्टेटर का विलक्षण प्रभाव परवर्ती समय और साहित्य पर अनवरत पड़ता रहेगा।

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

अपनी राह तू चले कबीरा
लोग मरमु न जानैं मेरा

कबीर जागृति के अमर दूत बनकर आए। इस दायित्व बोध ने उनकी स्थिति जागै और रोवै वाली बना दी थी। उन्हें जियावन हारा मिल चुका था, इसलिए 'हम न मरैं मरिहै संसारा' का आत्म विश्वासी बोध पा चुके थे। कबीर काव्य में आर्थिक असमानता और कंगाली के शब्द चित्र भी हैं, पर वे किसी भी रूप में भीख माँगने से मरना बेहतर मानते थे। 'ब्राह्मणस्य वृत्ति भिक्षा' की यह द्वन्द्वात्मक प्रतिक्रिया कही जा सकती है। विश्वभर में हमारी तरह कहीं भी भिक्षा को गौरवान्वित नहीं किया गया। आज भी 'दो आँक' पढ़ लेने वाला शारीरिक श्रम और उससे जुड़े लोगों को हेय मानता है।

अपनी पुस्तक 'भये कबीर कबीर' में कबीर पारखी प्रो. शुकदेव सिंह अपने समापन वाक्य में कहते हैं, ''प्रत्येक मनुष्य को विचार और कर्म का पूरा भाग देने शोषण मुक्त करने की लड़ाई जब तक चलती रहेगी, कबीर प्रासंगिक बने रहेंगे।''[10]

आज की मुक्त बाजार व्यवस्था इंसान को उत्पादक और उपभोक्ता में ढाल रही हैं। ऐसे में साहित्य ही मानवीय संवेदनाओं को बनाए रखने में समर्थ होगा। इस अमानवीय व्यवस्था में जहाँ मुटठीभर रातोंरात कुबेर बन रहे हैं, वहीं आर्थिक अपराध और असमानता भी उसी अनुपात में बढ़ रहे हैं। कबीर जैसे दृष्टिवान व्यक्ति से बाजार की यह हकीकत दबी-ढँकी नहीं थी। इसलिए वे बुलंदी से आह्वान करते हैं:

कबिरा खड़ा बजार में लिए लुकाठी हाथ
जो घर फूँकै आपनो चलै हमारे साथ

हाथ- 'हस्त' में यास्कमुनि ने 'हन्' धातु बताई है जिसका अर्थ है- प्रहार करना! इधर 'घर' के मूल में 'मान' है, इसी से मानुष शब्द बना है- घर में रहने वाला। 'घर' कामनाओं-वासनाओं संबंधो का प्रतीक है। इसे फूँक कर ही व्यक्ति किसी महान लक्ष्य की ओर बढ़ सकता है। प्रतिरोध की अनेक रचनात्मक कोशिशों के बावजूद बाजार ही आज साहित्य के स्वरूप के निर्धारण का दावा कर रहा हैं।[11] यहाँ सब बिकाऊ हैं। बाजार का पिंजरबद्ध हीरामन (जायसी) दो टूक अपना दर्द बयां करता है- पंडित होइ सो हार न चढ़ा। यहाँ बिकाय भूलि गा पढ़ा बाजार विद्धानों को भी दोराहा देने में समर्थ हैं- दुइ मारग देखों इंहिहाटा एक बर्बादी का रास्ता- बनिज न मिला, रहा पछतावा! दूसरा रास्ता बाजारु समृद्धि का है जो व्यक्ति को अंततः मानवीय संवेदना से छूछा' बनाकर महज लक्ष्मी का वाहन बना देता है, कबीर इन दोनों राहों और उनके राहगीरों से दूर हैं- 'अरे इन दोऊ राह न पाइ' ! भावभिन्न हो सकता है। बाजारु आकर्षण-विकर्षण से दूर रहकर ही वे सबकी खौरियत की कामना कर सकते हैं।

कबिरा खड़ा बजार में माँगे सबकी खैर
ना काहू से दोस्ती ना काहू से बैर

लुकाठी हाथ में और जेहन में सबकी खैरयत का भाव, खैरात नहीं! लुकाठी में लुक है जिसका अर्थ है- अंगारा, ज्वाला! आग्नेय कबीर-काव्य में विविध रुपा अग्नि प्रयोगों की कमी नहीं हैं। कारीगर बुनकर होने के कारण कबीर का बाजार से सीधा सरोकार था। पूँजीपति बनिया बुनकरों का कैसे शोषण करते थे, उनसे छिपा नहीं था। कबीर के लिए तो कुनबा उसका सकल हरामी वाली स्थिति है-

मन बनिया बनिज न छॉड़ै
जनम जनम का मारा बनिया अजहूँ पूर न तोलै

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

कबीर इस मायावी जग रुपी हार में अपना व्यापार पूरा कर चुके हैं अब वे आवागमन-पुनर्जन्म से भी मुक्त हैं- पूरा किया बिसाहुड़ा बहुरि न आवहिं हट्ट।

अपने अंतिम दिनों में कबीर के काशी से मगहर जाने के पीछे का कारण इस अंधविश्वास की पोल खोलना माना जाता है कि काशी मरण से स्वर्ग तथा मगहर में आखिरी सॉसें लेने से नरक मिलता है। यदि यह सच है तो 'रामहिं कहा निहोरा!'

अब्दुल बिस्मिल्लाह इस काशी-त्याग, मगहर-वास के पीछे कारोबारी कारणों को भी देखते हैं।[12] काशी के बड़े बाजार में ठगाई भी बड़ी होती होगी। इसलिए अनवरत नुकसान के कारण 'तननं बुननं छॉडियो रे कबीरा' की स्थिति बनी होगी और तत्कालीन बुनाई के एक और बड़े केन्द्र मगहर की ओर उन्होंने गमन किया होगा। सिकदंर लोदी द्वारा उन्हें काशीबदर करने की किंबदंती भी मगहर-प्रवास का कारण हो सकती है। यदि ऐसा न होता तो कबीर काशी त्यागने पर 'जल बिन मछली' की तरह पछताते नही:

तजिले बनारस मति भई भोरी
ज्यों जल छोड़ि बाहर भयो मीनां
कासी मगहर सम बीचारी

कबीर की प्रासंगिकता का आलम यह है कि भीष्म साहनी रचित नाटक 'कबिरा खड़ा बाजार में' को जब उन्नाव की एक संस्था ने मंचित कराना चाहा तो वहाँ के कट्टर प्रतिक्रियावादियों ने उसे रोकने के अनेक प्रयास किए उदय प्रकाश कहते हैं ''हर कोई जानता है कि बड़ा होने के लिए केशव और कबीर के अलग-अलग रास्ते हैं। हुजूरी, दरबारी और शहरी श्रेणी के लोग तो केशव को बड़ा मानते हैं लेकिन कबीर का रास्ता तो साधारण जनता के जीवन-यथार्थ की ऊबड़-खाबड़ पगदण्डियों से होकर गुजरता है।[13]

गूँगों की वाणी बने कबीर ने छह दशक पहले के समाज को अंध कूप से निकालने का काम किया। हमें मध्ययुग को उसके सही परिप्रेक्ष्य में समझना होगा-बिना किसी पूर्वग्रह के, बिना नियत संस्कारों कें; क्योंकि पूर्व नियत संस्कार हमारी नीयत को सही नहीं रहने देते और गलत नीयत से किए गए कार्यों के परिणाम भी गलत ही होंगे:

राह बिचारी क्या करे पंथि न चलै बिचारि
आपन मारग छॉड़ि कै फिरै उजारि उजारि

''मैं कहता सुरझावन हारी, तू राख्यौ भरुझाइ रे!'' जैसी चिंतन सरणियाँ आत्म ज्ञान की वाहिका हैं। चिंतन हीन प्रयाण में उलझनें होंगी ही और उलझेगा सो टूटेगा भी, टूटा तो गांठ पड़ना निश्चित है और गांठे यानी ग्रंथियाँ हमारे आत्म विस्तार को रोकेंगी- हमें संकुचित करेंगी- अँधेरे में कैद ब्रह्मराक्षस बनाएँगी। कबीर के राम 'दशरथ सुत तिहुँ लोक बखाना' वाले न होकर लोक संस्कृति, लोक हित और लोक चिंतन से जुड़े हैं- आधुनिक संदर्भो में लोकनीति और लोकतंत्र सापेक्ष्य हैं। वैसे एक स्थिति में कबीर लोक और वेद दोनों की सहज उपेक्षा करके आगे बढ़ जाते हैं। सत गुरु ने दीपक हाथ में थमा दिया तो अब परावर्तित प्रकाश की क्या दरकार? अप्प दीपो भव की पेरोकार कबीर-काव्य की यही दीपक धर्मी संवेदना हमें सीमातीत मुकाम तक पहुँचाएगी:

हद्द छोड़ बेहद गया रहानिरंतर होइ
बेहद के मैदान में रहा कबीरा सोइ।

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

संदर्भ ग्रन्थ

1. इन्द्रप्रस्थ भारती, अप्रैल-जून 2000, पृ. 78
2. आलेचना, जून-मार्च 2008, पृ. 37-38
3. वागर्थ, जून 2015, पृ. 10
4. हजारी प्रसाद द्विवेदी, कबीर, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 265
5. अली सरदार जाफरी, कबीर बानी, हिन्दुस्तान बुक ट्रस्ट, बम्बई, पृ. 16
6. तलाश, 2001-2002, पृ. 60
7. डॉ. धर्मवीर, कबीर के आलोचक (भूमिका), वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
8. समीक्षा, अक्टूबर- दिसम्बर-2010, पृ. 8
9. आलोक सिंह, रामविलास शार्मा और इतिहास की शव-साधना, पृ. 14
10. भारतीय वाङमय, सितम्बर- 2005, पृ. 11
11. नया ज्ञानोदय, मई- 2008, पृ. 104
12. इन्द्रप्रस्थ भारती, अप्रैल-जून 2000, पृ. 194
13. कथाक्रम, अक्टूबर- दिसम्बर-2015

इन्दिरा गाँधी शासकीय महाविद्यालय,
तेजु, लोहित (अरुणाचल प्रदेश)
मोबा. ०९४३६०५३२८०

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

साम्प्रदायिक सौहार्द के कवि दादू दयाल

• प्रो. ओकेन लेगो

हिन्दी साहित्य के 1200 वर्षों के इतिहास में जो कालखण्ड आन्दोलन के रूप में याद किए जाते है उनमें भक्तिकाल विषय की गम्भीरता एंव लम्बी कालावधि की दृष्टि से सबसे महत्वपूर्ण है। लगभग 400 वर्षो की इसकी लम्बी यात्रा में ऐसे कई कवि हुए जिन्होंने अपने लेखन से भारतीय समाज-संस्कृति और इतिहास की दशा और दिशा दोनों ही बदल डाला। हिन्दी साहित्य के इतिहास में यह काल 'स्वर्ण युग' के नाम से जाना जाता है। इस काल में लिखे गए उत्कृष्ट साहित्य के कारण ही इसका मूल्यांकन स्वर्ण युग के रूप में किया गया। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने साहित्य को जनता की चितवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब कहा है। इसमें कोई दो राय नहीं हो सकती। कवि अपने को देखता है, वह उसका प्रतिनिधित्व भी करता है तथा भविष्य-निर्माण के लिए निरन्तर चिन्तन करता रहता है। भक्तिकालीन कवियों ने विशेषकर संत कवियों ने अपने लेखन से दो महत्वपूर्ण दायित्व का निर्वाह किया। संत कवियों ने अपने लेखन से इतिहास को सुधारने तथा भविष्य को नई दिशा प्रदान करने की दृष्टि से बहुत ही उत्कृष्ट साहित्य की रचना की। ऐसा लगता है वे कवि कम, खोजी एंव समाज सुधारक ज्यादा थे। उनके लेखन से ऐसा प्रतीत होता है कि वे उन तमाम सूत्रों की खोज कर रहे थे जिनसे भारतीय समाज की तत्कालीन समस्याओं से निजात पायी जा सके। सन्तों ने सत्ता का मोह छोड़कर जनता की पीड़ा को वाणी प्रदान की।

हिन्दी सन्त-साहित्य में दादू का महत्वपूर्ण योगदान है। जितनी मिठास उनकी लेखनी में पायी जाती है उतनी ही कोमलता उनके स्वाभाव में भी थी। 'दयाल' उपाधि उन्हें इसी कोमल एवं दयालु प्रवृत्ति के कारण दी गयी थी।

दादू की प्रसिद्धि का प्रमाण यह भी है कि पंथ या सम्प्रदाय के धरातल पर दादू-पंथ सबसे बड़ा पंथ है। दादू के जीवनकाल में ही उनके शिष्यों की संख्या 152 बतायी जाती है जिनमें से 52 तो उनके अपने शिष्य थे जिन्होंने थांवों की स्थापना भी की। राघवदास ने अपन 'भक्तमाल' में दादू के 52 शिष्यों की गिनती इस प्रकार दी है।

"दादू जी के पंथ में ये बावन द्रिगसु महंत।
प्रथम ग्रीव, मसकीन, बाई, द्वै सुन्दर दासा।
रज्जब दयालदास, मोहन च्यारुँ प्रकारा।
जगजीवन, जगन्नाथ, तीन गोपाल वषनू।
गरीब जन दूजन, घड़सी, जैमल दवै जानूं।
सादा तेजनन्द, पुनि परमानन्द, बनवारि दवै।
साधू जन हरदासहू, कपिल चतुरभुज-पार।
चत्रदास दवै, चरण प्राग दवै, चैन प्रहलादा।
वषनों, जग्गों लाल, माषू, टीला अरू चाँदा।

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

हिंगाल, गिर हिरस्यंध, निरांइण, जइसौ, संकर।
झंझ बांशू, संत दास टीइं, स्यामहि वर।।
माधव, सुदाम, नागरि जाम जन राघो वाणि कहंत।
दादू जी के पंथ में ये बावन द्रिगसु महंत।

यह दादू पंथ की महानता ही है कि उस समय दादू के शिष्य विभिन्न वर्ग, जाति और धर्म से सम्बन्धित थे। उनके शिष्य परम्परा में रज्जब पठान थे, सुन्दरदास (बड़े) क्षत्रिय थे तो बखना एंव वाजिन्द जैसे मुसलमान शिष्य भी शामिल थे। वर्तमान में गद्दी पर विराजमान महन्त स्वामी गोपालदास भी जाति से जाट हैं।

मध्यकाल धार्मिक दृष्टि से भी संक्रमण का काल था। यह युग अनेक विशृंखलताओं का युग था। विभिन्न धर्म, मत एवं अनेक विचारों के एक साथ उभरने से टकराहट स्वाभाविक ही थी। इस तरह के अन्तर्विरोध के हालात में मूल्यों का टूटना एवं विघटित होना आम बात थी। एक दूसरे के विरोध में परस्पर विरोधी उक्तियों के कारण सामाजिक समरसता में बाधा पहुँच रही थी। हिन्दू और मुसलमान धार्मिक दृष्टि से दो परस्पर बड़े विरोधी सम्प्रदाय बनकर उभर रहे थे। इस्लाम की विस्तार नीति और हिन्दुओं की अस्तित्त्व की लड़ाई के कारण नैतिकता एवं आदर्श जैसे आवश्यक मूल्यों की हत्या रोज हो रही थी। दादू दयाल ने हिन्दु-मुस्लिम के बीच के सांस्कृतिक संघर्ष को बहुत करीब से देखा था। ऐसी सामाजिक विसंगतियों से पूरा उत्तर भारत ग्रसित था। दादू ने साम्प्रदायिक सौहार्द्र की स्थापना के लिए इस तरह के भेद-भाव का खण्डन करते हुए अपनी बात कही। दादू के यहाँ हिन्दू और तुरक में कोई भेद नहीं-

अलह राम छूटा भ्रम मोरा।
हिन्दू तुरक भेद कछु नाहीं, देषौं दरसन तोरा।
सोई प्रांण प्यंड सोई, सोई लोही मासा।
सोई नैन नासिका सोई, सहजै कीन्ह तमासा।[1]

इतना ही नहीं दादू ने सगुण और निर्गुण उपासना पद्धति में किसी अन्तर होने से इन्कार किया। वस्तुत: दादू के चिन्तन के मूल में जन-कल्याण का भाव ज्यादा प्रबल था। दादू हमेशा से ही धार्मिक रूढ़िवाद से टकराते रहे। उनका एकमात्र धार्मिक कट्टरता एवं रूढ़िवाद को त्यागकर मानवता की स्थापना रहा है। दादू ने उपासना पद्धति से ज्यादा उपासना में मन की शुद्धता पर विश्वास किया, यही कारण है कि निर्विवाद रूप से निर्गुण संत होते हुए भी, जब वे किसी शिष्य को निर्गुण के वर्चस्व की बात करते पाते हैं तो उसका भी खण्डन करने में विलम्ब नहीं करते हैं। निर्गुण संत होते हुए भी जब सगुण और निर्गुण उपासना सद्धति को लेकर विवाद होता है तो दादू कह उठते हैं-

सगुण निगुण ह्वै रहै, जैसा है तैसा लीन।
हरि सुमिरण त्यों लाइये, का जाणौं का कीन।[2]

मध्यकालीन समाज में शोषण के केन्द्र में धर्म था। शोषण का आधार भी धर्म था। दादू मध्ययुगीन धार्मिक ढाँचे में परिवर्तन चाहते थे। वे इसीलिए धार्मिक समता की बात करते हैं। उन्होंने धर्म और भक्ति के क्षेत्र में असमानता वाली मान्यता का भी खण्डन किया, क्योंकि वह जानते थे कि इस क्षेत्र में समानता का अर्थ है सामाजिक समानता। संतो ने परम्परा और परम्परागत रूढ़ियों का विरोध किया। इसका परिणाम यह हुआ कि जहाँ कबीर मगहर में मरना चाहते थे वही रैदास ने गंगा स्नान को महत्व नहीं दिया। रैदास के एक विचार ने बहुत बड़े जनमानस को आन्दोलित किया। उनके इस मन्त्र ने गंगा में नहीं

Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

नहा पाने वालों के भीतर स्वाभिमान को भरा। इतना ही नहीं उन्हें वंचित होने की पीड़ा से मुक्त कराया। दादू तथा अन्य संतो ने मोक्ष की कामना की, परन्तु वह सामूहिक मोक्ष की कामना करते थे, यानि किसी अकेले की तृप्ति एवं मोक्ष का उनके कोई महत्व नहीं था। यही कारण था कि सन्तों ने बाह्य पूजन का विरोध एवं खण्डन किया। संतो ने अपनी वाणी से बाह्यपूजन में निहित स्वार्थ और छल को उजागर किया। संत रैदास जानते थे कि वह तथाकथित नीच जाति से उत्पन्न हुए हैं और इसका बोध उन्हें जीवन भर होता रहा और वह यह भी जानते थे कि उनके जैसे उपेक्षितों की संख्या भी बहुत ज्यादा है। यही कारण था कि स्वयं के साथ उन तमाम वंचितों को इस हीनता की ग्रंथि से उबारना उनका लक्ष्य बन गया था। इसके लिए उन्होंने अपनी तुलना पूजा में प्रयुक्त सामग्रियों के साथ की। रैदास ने पूजा की पवित्र सामग्रियों को अशुद्ध घोषित किया है-

दूध बछरै थनहु बिटारिह। फुलु भँवरि, जलु मीनि बिगारिउ॥
माई गोविन्द पूजा कहालै चरावही। अवरु न फूलु अनूपुन न पावउ॥ [3]

दादू ने भी बाह्य पूजन का खण्डन करते हुए सांस-दर-सांस ईश्वर का ध्यान करने की बात कही है।

दादू नीका नाम है, हरि हिरदै न बिसतारि।
मूरति मन मांहे बसै सांस संभारी॥ [4]

भारतीय मीमांसा के अनुसार पुरुषार्थ के लिए काम, अर्थ, धर्म और मोक्ष की प्राप्ति अनिवार्य होती है और उन चार फलों में मोक्ष बहुत ही महत्त्वपूर्ण है, जिसका सीधा सम्बन्ध धर्म और ईश्वर-कृपा पर ही आश्रित था। तत्कालीन भारतीय समाज की धामिक एवं सामाजिक स्थिति की ठीक से पड़ताल करने पर इतना तो ज्ञात हो ही जाता है कि देश की अधिकांश जनता के लिए मोक्ष की प्राप्ति असम्भव ही थी। ऐसी परिस्थिति में सन्तों ने सामूहिक मोक्ष की कामना की। संत दादू दयाल की वाणियों के अध्ययन से यह पता चलता है कि दादू ने निर्गुण ईश्वर की व्याख्या करते हुए ईस्वर को अपने शरीर के भीतर ही विद्यमान माना। दादू ने भी सामूहिक मोक्ष की कामना की। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए दादू तथा उनके जैसे अन्य सन्तों को शंकराचार्य का 'अद्वैत' ब्रह्मास्त्र के रूप में मिला था। अद्वैत के दर्शन ने धार्मिक शोषण की शिकार के लिए अपने शरीर के भीतर ही ईश्वर का दर्शन कर लेने की अनुभूति किसी चमत्कार से कम नहीं थी। दादू ने सत्संग दौरान उपेक्षित जनता के समक्ष इन बातों को रखकर उनके भीतर स्वाभिमान को पुन: भरने का प्रयास किया। दादू ने भी कस्तूरी मृग का दृष्यान्त देकर आत्मा और परमात्मा की एकत्व वाली बात जनता तक सत्संग आदि के माध्यम से पहुँचायी।-

दादू घट कस्तुरी मृग के भ्रमत फिरै उदास।
अन्तर गति जानै नहीं ताथें सूँघे घास।
अपने नैनहुँ आप को जब आतम दैखै।
तहँ दादू पर आत्मा ताही कूँ पेखै॥

दादू ने ईश्वर की सर्वव्यापकता को स्वीकार किया। उन्होंने वर्गो द्वारा ईश्वर पर एकाधिकार का खण्डन करते हुए तीर्थों में ईश्वर को खोजने की व्यर्थता कीभी बात कही।

दादू केई दौड़े द्वारिका, केई काशी जांहि।
केई मथुरा को चले, साहिब घट ही मांहि॥ [6]

वह समय ऐसा समय था जब बातें जनसाधारण की समझ के बाहर की बातें रही होंगीं और ऐसे में जनता को इस बात

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

का विश्वास दिलाना भी बहुत ही कठिन कार्य रहा होगा। जनता के बीच कई प्रश्न और शंकाएँ उठी होंगीं कि ब्रह्म और जीव में तदाकार कैसे सम्भव है। इस प्रश्न के समाधान में दादू कहते हैं-

दादू ज्यों जल पैसे जल में, व्यूं पाणी मै लूंण।
औसे आतम राम सौ, मन हठ साधै कुण।[7]

यानि ईश्वर तक पहुँचने के लिए जितना कठिन मार्ग समाज में प्रचलित था उतना ही आसान रास्ता दादू ने ईश्वर प्राप्ति के लिए सुझाया। धर्म के माया जाल से छली हुई जनता एवं मंदिर से वंचित लोगों के लिए ईश्वर से साक्षात्कार के लिए इससे आसान रास्ता कहीं हो हीं नहीं सकता था। अपने भीतर ईश्वर के होने का गर्व ने वंचितों, शोषितों एवं उपेक्षितों में एक तरह से एक नवीन उर्जा का संचार कर दिया। रैदास तथा अन्य सन्तों की वाणी में भी 'अद्वैत दर्शन' सूत्र के प्रभाव देखे जा सकते हैं-

माधो भरम कैसहु न बिलाइ, तातते द्वैत दरसै आई।
कनक कुंडल सूत पट जुदा, रजु भुअंग भ्रम जैसा॥[8]

भारत में जातिवाद की समस्या बहुत पुरानी है परन्तु जितनी यह पुरान समस्या है उतने ही पुराने इसके निवारण के प्रयास भी रहे हैं। यह सर्वविदित ही है कि भक्ति दक्षिण से उत्तर को ओर आयी। इसने बारह आलवारों की परम्परा से होते हुए रामानुजाचार्य के माध्यम से पूरे उत्तर भारत में अपना विस्तार किया। रामानुजाचार्य की परम्परा से रामानंद आते हैं। भक्ति के क्षेत्र में रामानन्द का आविर्भाव एक ऐतिहासिक घटना से कम नहीं है। भारतीय समाज एवं भक्ति के क्षेत्र में स्वामी रामानन्द का महत्त्व कई दृष्टियों से है। रामानन्द ने भक्ति का द्वार सबके लिए खोल दिया था। उनकी दृष्टि में भक्ति और ईश्वर पर किसी विशेष व्यक्ति, जाति या समाज का एकाधिकार नहीं हो सकता। उन्होंने स्त्री एवं शूद्रों के साथ-साथ हिन्दू और मुसलमान सभी के लिए भक्ति को सुलभ और सम्भव बनाया। हिन्दी के अधिकांश संत या भक्त, फिर चाहे वे कबीर के रूप में निर्गुण संत हो या तुलसी के रूप में सगुण उपासक, सभी रामानन्द को ही अपना मूल प्रेरणा-स्त्रोत मानते हैं। भक्ति के क्षेत्र में इतनी उदारता की कल्पना रामानन्द के पहले नहीं हो सकती थी। हालांकि, इसकी पृष्ठभूमि में यदि हम रामानुजाचार्य की बात करें तो पायेंगे कि वहीं इस उदार भक्ति की नींव पड़ चुकी थी। रामानुजाचार्य ने उपनिषदों का भाष्य लिखा। उन्होंने गीता का भी भाष्य लिखा। यहीं नहीं, वेदों को भी सबके लिए सुलभ बनाया। रामानुजाचार्य के समय उदारता का जो बीज अंकुरित हो गया भा वह रामानन्द के समय तक आते-आते वृक्ष के रूप में विकसित हो रहा था। रामानन्द ने शूद्रत्व और द्विजत्व का विरोध किया। रामानन्द की इस उदार भक्ति पद्धति का सन्तों, भक्तों एवं कवियों पर व्यापक प्रभाव पड़ा। यही कारण था कि ''जाति-पाति पूछे नहीं कोय, हरि का भजे सो हरि का होय'' जैसा उत्कृष्ट एवं श्रेष्ठ विचार समाज के सामने आ पाया। यहाँ 'हरि' का सन्दर्भ केवल ईश्वर नहीं है बल्कि-वहाँ स्वतन्त्रता, समानता और न्याय का भी सन्दर्भ था। यानि समाज में सभी स्वतंत्र, सबकी समानता और सबके लिए न्याय। दादू ने अपनी रचनाओं के माध्यम से बिल्कुल इसी बात को बहुत ही सरल ढंग से जनता तक पहुँचाया। दादू ने ईश्वर को पक्षपाती होने के आरोप से बरी किया। ईश्वर के समदृष्टि होने पर लोगों को सन्देह होने लगा था। परन्तु दादू ने बहुत सहज रूप में इस सन्देह को समाप्त किया।

भाई रे, ऐसा पंथ हमारा।
दवै पख रहित पंथ गह पूरा, अवरण एक आधारा।
वाद-विवाद काहू सौ नांही, माहिं जगत तै न्यारा।

CC-0.Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

समदृष्टि स्वभाव सहज में, आपहि आप विचारा॥ [9]

दादू का यह भी कहना था कि जब एक ही तरह से भूख सबको लगती है, सबकी प्यास एक तरह से यानि जल से ही तृप्त होती है, तो फिर मनुष्य और मनुष्य में भेद किस बात का है। उनका कहना था कि संसार में सभी मनुष्यों की बनावट एवं शारीरिक संरचना भी एक जैसी है, वही शरीर, उसी तरह के हाथ-पांव तो अनावश्यक अन्तर का कोई औचित्य नहीं है-

सोई भूख सबन को व्यापै, एक युक्ति सोई जागै।
सोई संधि बंध पुनि सोई सुख सोई पीरा।
सोई हस्त पाँव पुनि सोई, सोई एक शरीरा॥ [10]

दादू ने ईश्वर के साथ प्रेम तत्व को जोड़ा। उनका तो यह कहना था कि ईर्ष्या, द्वेष, घृणा तथा नफरत के माहौल में ईश्वर का वास असम्भव है। जिस प्रेम तत्व की कमी ने देश को विभिन्न जाति, धर्म एंव समुदायों में बांट दिया था, उसी प्रेम तत्व को दादू ने समाज में स्थापित करने का प्रयास किया। दादू कहते हैं-

दादू इसक अलह की जाति, इसक अलह का अंग।
इसक अलह औजूद है, इसक अलह का रंग॥

जहाँ तक देश में जातिवाद और सम्प्रदायवाद का पश्न है, यह अनादि काल से भारत की सबसे बड़ी सामाजिक समस्याओं में से है। परन्तु ऐसा नहीं है कि इसके समाधान के लिए उचित प्रयास नहीं किए हों। हम दयानन्द सरस्वती, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, ईश्वरचन्द विद्यासागर, गांधी जी तथा अन्य महान समाज-सुधारकों के योगदान को नहीं भूल सकते जिनके कारण स्थितियों में सुधार एवं परिवर्तन भी आए। परन्तु, जब-जब यह समाज-सुधार का प्रयास करते हैं, तब-तब औपनिवेशिक ताकतों एवं अन्यान्य वाद-वादों के ठेकेदारों ने अपनी विचारधारा के विस्तार के लिए जातिवाद एवं सम्प्रदायवाद को हथियार के रूप में इस्तेमाल किया। रैदास जब कहते है- 'कहे रैदास चमारा' तो वहाँ जाति स्वाभिमान की सूचक थी, परन्तु आज वह वोट बटोरने का बहुत बड़ा हथियार है। बाबा साहब ने गरीबों एवं शोषितों के उत्थान के लिए संविधान में बहुत प्रावधानों को सम्मिलित किया, इस उद्देश्य से कि हाशिए की भावना को दूर कर सकें, वंचितों को अवसर मुहैया करा सके तथा समाज में भावात्मक दूरियों को घटा सकें। परन्तु विडम्बना यह है कि आज बाबा साहब स्वयं राजनीतिक रस्सा-कस्सी में रस्सी बना दिए गए हैं। वर्तमान में दुर्भाग्यवश देश की पुरानी और गलत परम्परा और रूढ़ियों को देश की समस्या समझकर उसका समाधान खोजने के बजाय उसे सवर्ण और दलित की चिर शत्रुता की तरह पेश किया जा रहा है। यहाँ इतना जरूर है कि इसका अर्थ यह कतई नहीं कि ब्राह्मणवाद इसके लिए पूरी तरह से जिम्मेदार नहीं है, परन्तु इसे केवल इसी के मत्थे डाल देने पर एक प्रश्न अनायास उठता है कि आपने क्या नया किया? आज का सबसे बड़ा सवाल यही है कि दलितों, शोषितों एवं वंचितों का दुश्मन कौन है? भिन्न-भिन्न धर्म एवं सम्प्रदाय के लोगों को लड़वाते कौन हैं? समाज में किनके कारण अशान्ति फैल रही है?

भक्तिकालीन साहित्य व्यापक दर्शन और विचार के साथ रचा गया। भक्तों एवं सन्तों ने उन-उन दर्शनों एवं विचारों की खोज की जिनसे अराजकता वाले तबके समाज में समरसता का भाव जागृत हो सके। कवियों एवं गायकों ने उन सूत्रों को ढूँढ़ा, जिनसे समाज में फैली असहिष्णुता को खत्म किया जा सके। भक्तिकालीन साहित्य में व्यक्त विचारों के निहितार्थ को फिर से टटोलना आज खासा आवश्यक है। चूँकि पहले भी कहा गया कि कवि भविष्य का वक्ता भी होता है। ऐसे में वर्तमान की समस्याओं के समाधान के लिए भी भक्तिकालीन कवियों ने कुछ-न-कुछ सूत्र जरूर छोड़े होंगे। दादू पंथी सन्तों ने अनेक

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

सामाजिक, धार्मिक साहित्यिक कार्य किये। दादू पंथ को मध्यकाल की संत-परम्परा में सबसे महत्त्वपूर्ण मानने का एक बहुत बड़ा कारण इस पंथ में सबको सोचने और कहने की आजादी प्राप्त होना था। मनुष्य को जड़ताओं में कैद करने वाली मान्यताओं को दादू ने हमेशा ही दूर रखा। दादू ने एक तरह से निर्भय होकर अपनी बात कहने का एक द्वार खोल दिया था और यही कारण है कि दादू के अनुयायियों के साथ जनता का सामन्जस्य बहुत ही स्वाभाविक रूप से बन पाया। निर्गुण साहित्य, मध्यकालीन युग एवं वर्तमान भारत को समझने के लिए एक ठोस कसौटी हो सकता है।

संदर्भ ग्रंथ

1. (सम्पादक) परशुराम चतुर्वेदी, संत काव्यधारा, पृ. 137
2. उपर्युक्त, पृ. 141
3. उपर्युक्त, पृ.114
4. उपर्युक्त, पृ.141
5. स्वामी नारायण दास, श्री दादूवाणी, पृ. 438
6. उपर्युक्त, पृ. 439
7. दादू दयाल ग्रंथावली, पृ. 22
8. परशुराम चतुर्वेदी, संत-काव्यधारा, पृ. 113
9. स्वामी नारायण दास, श्री दादूवाणी, पृ. 508
10. परशुराम चतुर्वेदी, संत-काव्यधारा, पृ.138
11. उपर्युक्त, पृ. 142

अध्यक्ष एवं प्रोफेसर, हिन्दी विभाग

राजीव गाँधी विश्वविद्यालय, रोनो हिल्स, दोइमुख

ईटानगर, अरुणाचल प्रदेश-791112

eGangotri Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

नाट्य-तत्वों की कलात्मक अन्विति

● डॉ. अनुशब्द

संस्कृत व्याकरण ने 'तत्व' शब्द की व्युत्पत्ति दी है: 'तनोति सर्वं इति तद तस्य भावः तत्वम्'। गरज कि जिसकी व्याप्ति सर्वत्र रहे, उसे तत्व कहते हैं। परंतु यह व्युत्पत्यर्थ नाट्य तत्व को परिभाषित करने में पूर्णतः समर्थ नहीं है। साहित्य-सृष्टि के संदर्भ में नाट्यतत्व एक पारिभाषिक पद है। यह नाट्यविधान के उन विशिष्ट अवयवों का ज्ञापक है जिनके विनियोग से नाट्य-प्रभाव की सृष्टि होती है। प्रसिद्ध नाटककार एवं नाट्यालोचक डॉ. सिद्धनाथ कुमार लिखते हैं कि 'तत्व तो केवल उन मूल पदार्थों को कहते हैं जिनसे किसी वस्तु का निर्माण होता है।'[१] यह परिभाषा वस्तु के संदर्भ में जितनी सार्थक है उतनी विधा के संबंध में नहीं। कारण कि नाटक के सर्वस्वीकृत तत्व नाटक के कच्चा माल नहीं होते। रामगोपाल सिंह चौहान की दृष्टि में 'किसी भी रचना के मूल तत्व होने का गौरव वही तत्व प्राप्त कर सकते हैं जिनकी अवहेलना रचनाकार किसी भी दशा में न कर सके और अन्य रचना विधानों से उसके पार्थक्य को स्पष्ट कर सके।[२] प्रस्तुत संदर्भ में, नाट्यकृति और नाट्य-प्रस्तुति की प्रक्रिया में जिन सक्रिय अंगों और उपांगों का सहयोग प्राप्त होता है, वे सभी नाट्य-तत्वों की सीमा में आते हैं। दूसरे शब्दों में, नाट्य-तत्व उन समस्त साधनों को कहते हैं जिनके सहयोग से नाट्य-प्रस्तुति में सहृदय को रसोद्रेक होता है। तात्पर्य यह कि नाट्य-तत्व रस-निष्पत्ति का कारण है। इसी वजह से डॉ. मांधाता ओझा लिखते हैं- 'भारतीय नाट्य-चिंतन के अनुसार नाट्य-तत्व रस-निष्पत्ति का हेतु है जिसकी विवृत्ति अवस्थानुकृति या अभिनय द्वारा की जाती है।' बहरहाल, प्रभाव-सृष्टि और नाट्यानुभव में सहायक एवं समर्थ अंगोंपांगों को नाट्य-तत्व कहते हैं।

भारतीय नाट्यदर्शन में नाटक के अंगोंपांगों का सूक्ष्म विवेचन-विश्लेषण साकल्य में हुआ है, लेकिन कहीं भी नाट्य-तत्वों की स्थिति सुनिश्चित एवं सुनिर्धारित नहीं हैं। आद्याचार्य भरत ने नाट्योद्भव के प्रसंग में चार तत्वों का संकेत किया है। उनकी नजर में पाठ्य, गीत, अभिनय, और रस नाटक के मूलभूत तत्व हैं और इन सभी के उपजीव्य वेद हैं।[३] परवर्ती आचार्यों ने इस संदर्भ में इन तत्वों की अनुशंसा की है। आचार्य धनंजय ने 'दशरुपक' में नाटक के भेदक तत्वों की चर्चा की है, सामान्य तत्वों की नहीं। 'वस्तुनेतारसस्तेषां भेदको'। धनिक ने अपने भाष्य में स्पष्ट किया है कि 'वस्तु, नेता, रस के भेद से रुपक के भेद होते हैं।' महत्वपूर्ण नाट्यरूपों का स्थापत्य भी इस कारिका के मूल अभिप्राय को प्रमाणित करता है। वैसे रुपकों की संख्या दस हैं। किन्तु पूर्णांक रुपक मात्र तीन है: नाटक, प्रकरण और नाटिका। नाटक और प्रकरण में वस्तु-भेद है। नाटक की कथावस्तु प्रख्यात और प्रकरण की उत्पाद्य होती है। नाटिका में इन दोनों कथानकों का योग होता है। इन तीनों में नायक-भेद या नायकान्तर भी होता है। नाटक का नेता धीरोदात्त, प्रकरण का धीरप्रशांत और नाटिका का धीरललित। इनमें रस-भेद गौण होता है। शृंगार रस की योजना इन तीनों में स्वीकृत है। नाटक और प्रकरण में वीर रस की योजना भी वैकल्पिक रुप से संभव है। इन तथ्यों से सत्यापित होता है कि धनंजय दवारा कथित नाटक के त्रितत्व नाटक के सामान्य तत्व नहीं हैं। ध्यातव्य है कि कुछ सुधी विद्वानों ने इन त्रितत्वों को ही नाटक का मूलभूत तत्व मान लिया है। डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल नाट्य-तत्वों का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि 'नाटक के तीन मूलभूत तत्व हैं: वस्तु, नेता और रस।

CC-0. Gandhigram Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

डॉ. सुरेन्द्रनाथ दीक्षित लिखते हैं, इतिवृत्त, नेता और रस'- नाटक के तीन प्रधान तत्व हैं।[४] इस भ्रांति का खंडन धनंजय के 'दशरुपक' से ही हो जाता है। उसके 'तृतीय प्रकाश' में पूर्वांग और वृत्तियों का भी सविस्तार उल्लेख है। आचार्य सीताराम चदुर्वेदी ने तत्व रुप में वस्तु, नेता और रस की मान्यता का खंडन किया है। उन्होंने तीन और तत्वों का उल्लेख किया है- कथा, संवाद और रंगनिर्देश। उनके अनुसार कथा प्रथम तत्व है जिसके अंतर्गत घटनाओं एवं पात्रों का समावेश हो जाता है। दूसरा है संवाद जिसके अंतर्गत नाटक का श्रव्य अंश आ जाता है। और, तीसरा है रंगनिर्देश जिसके भीतर वे सभी आदेश-निर्देश आ जाते हैं जो अभिनेताओं, रंग-व्यवस्थापक, प्रकाश-व्यवस्थापक, नेपथ्य-विधायक तथा संगीत-व्यवस्थापक की क्रियाओं के लिए आवश्यक होते हैं। डॉ. त्रिगुणायत ने भी धनंजय के आशय को सही परिपार्श्व में ग्रहण किया है और 'शास्त्रीय समीक्षा के सिदधांत में पाँच नाट्य-तत्वों की चर्चा ने भी नाटक के मूलभूत स्वरुप और प्रधर्म से संबंध अनिवार्य तत्वों की संख्या चार बतलायी है, और कार्यव्यापार (कथानक), चरित्र, संवाद और दृश्यात्मक परिकल्पना को नाटय तत्व स्वीकार किया है। डॉ. रघुवंश ने सात नाट्यतत्वों की चर्चा की है: रस, वस्तु, चरित्र, कथोपकथन, शैली, प्रभाव और उद्देश्य। डॉ. रघुवंश ने दृश्यविधान की उपेक्षा की है। यह भी नाटक का अपरिहार्य अंग है और इसकी परिव्याप्ति नाटक में सर्वत्र होती है। इसलिए रंगसंकेत भी नाटक का अनिवार्य तत्व है। इसीलिए डॉ. सिद्धनाथ कुमार ने कथानक, पात्र, संवाद, उद्देश्य, देशकाल, भाषा-शैली और रंग-संकेत सात नाट्यतत्वों को स्वीकृति दी है।[५]

नाट्यशास्त्र के प्रथम पाश्चात्य आचार्य अरस्तू ने भी नाटक के पाँच प्रधान तत्व माने हैं- कथावस्तु, चरित्र, शैली, विचार, शिल्प एवं संगीत।[६] हडसन ने भी नायक के पाँच तत्वों का उल्लेख किया है- कथावस्तु, चरित्र, संवाद, देश और काल, तथा जीवन-दर्शन।[७] एरिक बेंटले ने भी 'द लाइफ ऑफ द ड्रामा' के अंतर्गत नाटक के पाँच आयामों का उल्लेख किया है- कथानक, चरित्र, संवाद, विचार एवं अभिनय। बहरहाल, पश्चिम में नाट्य-तत्वों की संख्या या उपस्थिति को लेकर विवाद नहीं है। प्रकारांतर से अरस्तू के नाट्य-तत्व सर्वस्वीकृत हैं। हाँ, विवाद है तो उनके सापेक्षिक महत्व को लेकर। समीक्षको के विभिन्न शिविरों में किसी ने कथानक को, तो किसी ने चरित्र को प्रमुखता दी है, किसी ने संवाद को तो किसी ने अभिनय को प्रधानता दी है। अरस्तू के अनुसार नाटक में प्रधान तत्व कथानक है क्योंकि घटना-संघटन के द्वारा चरित्र-चित्रण अनिवार्यत: हो ही जाता है। गरज कि कथानक नाटक की आधारशिला है और इसी पर नाटक का सम्पूर्ण भवन निर्मित होता है। इसीलिए कांपटन बर्नेट की शब्दावली में- 'कथानक मनुष्यों की अस्थियों की तरह है जो अभिव्यक्ति एवं अनुभव-चिह्नों की तरह दिलचस्प तो नहीं, लेकिन सबका आधार है।' इसके बरक्स ड्राइडन का विचार है कि कथानक का नाटक में न्यूनतम महत्व है।[८] वैनब्रफ ने इसकी संपुष्टि की है- ''मुझे विश्वास है कि मैं सिद्ध कर सकता हूँ कि मुख्य मनोरंजन एवं नैतिक संदेश घटनाक्रम की अपेक्षा चरित्र एवं वाग्वैदग्ध्य पर अधिक निर्भर हैं।[९] जार्ज सांतायना चरित्र-चित्रण को कथानक-निर्माण से उच्चतर कार्य बताते हुए लिखते हैं कि 'कथानक के निर्माण को हम आविष्कार कहते हैं, पर चरित्र के निर्माण को सृष्टि कहकर गौरवान्वित करते हैं।[१०]

इसी प्रकार संवाद एवं कार्यव्यापार की महत्ता के विषय में भी विद्वानों में द्वंद्व एवं संघर्ष है। एरिक बेट्ले की दृष्टि में 'नाटक मूलत: एवं सर्वांशत: वार्तालाप है। नाटककार के प्रवृत्त होने का केन्द्रीय मकसद दर्शकों से बातचीत है। और दर्शक भी दैनंदिन जीवन की असंगत बातचीत से ऊबकर खूबसूरत बातचीत सुनने के लिए सबकुछ छोड़कर नाट्यशाला में उपस्थित होता है। गरज कि कला क्षतिपूरक है। इसी तर्ज पर नाटक जीवन की बदसूरत बातचीत का स्थापन्न (सबस्टीट्यूट) है। दूसरी ओर रुसी नाटककार एलैसी आर्बुजोफ नाटक के लिए शब्द को आवश्यक ही नहीं मानते। उनका मन्तव्य है कि नाटककार की पाण्डुलिपि के अभाव में भी एक अच्छा नाटकीय प्रस्तुतीकरण संभव है। यहाँ तक कि बिना शब्दों के भी।[११]

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

दरअसल, ये दोनों ही वक्तव्य अतिवादी ध्रुवांत हैं और वाक्य एवं कार्य के प्रति विशेष आग्रह एवं व्यामोह के सीमांत हैं।

हकीकत इनके ठीक बरक्स है। नाटक में तत्वों का कोई स्वतंत्र एवं सर्वात्म अस्तित्व नहीं होता। उसके सभी तत्व एक दूसरे के संपूरक एवं सहयोगी होते हैं और उनमें अविनाभाव संबंध होता है। इसीलिए लाजोस एग्रि लिखते हैं कि 'कोई नाटक अलग-अलग तत्वों का पुंज नहीं होता, वह एक जीवित वस्तु होता है, उसकी एक जैविक संरचना होती है जिसमें सभी नाटय तत्व एकाकार होते हैं।

रिचर्ड साउदर्न का भी अभिमत यही है कि किसी एक तत्व या चीज का नाम रंगमंच-कला या नाटक नहीं है, वह एक संश्लिष्ट एवं समन्वित कला है। 'रंगमंच प्याज के दाने की तरह है, उसके एक-एक छिलके को निकालते जाइए तो लगेगा कि यही रंगमंच-कला है यानी कभी दृश्यसज्जा, कभी संवाद और कभी अभिनय। एक-एक छिलके को अलग छीलते जाएँगे तो रंगमंच का सही स्वरुप हाथ नहीं लगेगा। रंगमंच की कला तो सम्पूर्ण वस्तु है और उसी में उसका सारतत्व निहित है।'[१२]

स्पष्ट है, नाटक का अस्तित्व एकांगिता में नहीं है। समग्रता एवं साकल्य में है। प्रगीतों की तरह ही नाटक की संरचना स्फटिक या 'क्रिस्टल' के रुप में होती है- एक काटी-तराशी हुई पाषाण प्रतिमा की तरह सख्त और सर्वांग सुंदर। जे. एल. स्टायन ने भी 'द एलिमेंट्स ऑफ ड्रामा' में लिखा है कि एक महान नाटक में नाटककार के सारे साधन-संवाद और संवादेतर नाट्यनुभाव की अभिव्यक्ति के अभिन्न माध्यम होते हैं और अविभाज्य होते हैं।

संदर्भ ग्रन्थ

1. डॉ. सिद्धनाथ कुमार, हिन्दी एकांकी की शिल्प विधि का विकास, पृ. 57
2. वही, पृ. 58
3. सुरेन्द दीक्षित, भारत और भारतीय नाट्यकला, पृ. 63
4. वही, पृ. 158
5. डॉ. सिद्धनाथ कुमार, हिन्दी एकांकी की शिल्प विधि का विकास, पृ. 59
6. एफ. एल. ल्यूक्स, ट्रेजेडी, पृ. 146
7. हडसन, ऐन इंट्रोडक्सन टू द स्टडी ऑफ लिटरेचर, पृ. 172
8. साहित्यकोश, पृ. 414
9. वही, पृ. 414
10. (सं.) इरविंग सिंगर, एसेज इन लिटेरेरी क्रिटिसिज्म ऑफ जॉर्ज सांत्यायना, पृ. 350
11. (सं.) नरनारायण राय, आधुनिक हिन्दी नाट्यालोचन, नयी भूमिका, पृ. 126 पर उद्धृत
12. रिचर्ड साउदर्न, सेवन एसेज ऑफ थियेटर, पृ. 21 (रंगमंच, गोविन्द चातक, पृ. 31)

असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी विभाग

तेजपुर विश्वविद्यालय

तेजपुर, असम

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

आदिवासी विमर्श: वैचारिकी का प्रश्न

डॉ. अभिषेक कुमार यादव

आदिवासी विमर्श के बनने-बढ़ने और गढ़ने के इस दौर में उसके साहित्य की विचारधारा पर बात करना बहुत जरूरी है। आदिवासी विमर्श का यह पक्ष इतना महत्वपूर्ण है कि आने वाले दिनों में इस विमर्श का स्वरूप और इसकी दिशा क्या होगी, इसे निर्धारित करने में इस पक्ष की निर्णायक भूमिका होगी। आदिवासी साहित्य की विचारधारा पर बात करने से पहले थोड़े शब्दों में मैं आज के दौर में आदिवासी समाजों की स्थितियों पर चर्चा करना चाहता हूँ। हम सब जानते हैं कि सहित्य का समाज और राजनीतिक-आर्थिक व्यवस्थाओं से बहुत गहरा और जटिल रिश्ता होता है इसीलिए इस पक्ष पर बात करना आवश्यक है।

भारत के आदिवासी समुदाय आज अपने लम्बे कारूणिक इतिहास के सबसे दु:खद दौर में हैं। इस बात को भी विभिन्न दृष्टिकोणों से देखने-समझने की जरूरत है। आज आदिवासी समाजों की भाषा, संस्कृति, सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था पर सबसे खतरनाक हमला है साथ ही कई जगहों पर तो उनके भौतिक अस्तित्व पर ही खतरा पैदा हो गया है। देवासुर संग्रामों की क्रूर हकीकत और आदिवासियों तथा उनके समाजों के चालाकी भरे मिथकीकरण की बात मैं बाद में करूंगा। पहले आज हमारे समय में आदिवासी समुदायों के साथ क्या हो रहा हैं इसकी चर्चा करना चाहता हूँ। बहुत सीधे शब्दों में कहा जाय तो हम आज भी देवासुर संग्राम में मुब्तला हैं। एक तरफ हैं दिल्ली-नरेश (यह साकेत-नरेश की तर्ज पर उठाया गया जुमला है। आपको याद होगा कि एक देवासुर संग्राम में साकेत नरेश दशरथ ने भी हिस्सा लिया था) और तमाम पूंजी के बड़े-बड़े केन्द्र जो अत्याधुनिक हथियारों और ग्रेहाउंड कमाडोस् से लैस हैं और दूसरी तरफ हैं अपने जल-जंगल-जमीन को बचाने के लिए कतारबद्ध निहत्थे आदिवासी (याद कीजिये जगतसिंहपुर में पोस्को का विरोध करते आदिवासी)।

मैं ऑपरेशन ग्रीनहंट की बात कर रहा हूँ और न जाने कितने अनकहे छुपे हुए मिशन जिनके चलते आदिवासी भाषाएँ खत्म होती जा रही हैं और आदिवासी संस्कृति, संग्रहालयों या उत्सवों में दिखावे की चीज बनती जा रही है। आदिवासी समाजों की इस स्थिति को समझे बिना हम आदिवासी साहित्य की विचारधारा पर बात नहीं कर सकते। ऐसे वक्त में मुझे झारखण्ड के आदिवासियों और कारखानों के मजदूरों के प्रसिद्ध नेता कॉमरेड ए.के. राय की वह बात याद आ रही है जो उन्होंने झरखण्ड मुक्ति मोर्चा के स्थापना सम्मेलन में कही थी- 'झारखंड और लालखंड के विचारों को एक साथ चलना होगा। वही रास्ता सही मायने में झारखंड के आदिवासियों के सपनों को पूरा करेगा'। आज झारखंड के हालत् देख लीजिए आपको कॉमरेड ए.के. राय की बात एकदम सही लगेगी। यह लालखंड क्या है? यह सही मायनों में एक समतावादी और शोषणमुक्त व्यवस्था के निर्माण का सपना है। एक तरफ ये स्थितियाँ हैं तो दूसरी तरफ उत्तर-पूर्व के राज्यों में आदिवासी समाजों के सामने दूसरी विकट स्थितियाँ मुँह बाये खड़ी हैं। जहाँ एक तरफ आर्म्ड फोर्स स्पेशल पॉवर एक्ट है, तो दूसरी तरफ निजीकरण और भूमंडलीकरण का तेज होता हमला है। इसने उनकी भाषा-संस्कृति पर जोरदार प्रहार कर दिया है। एक वर्गहीन समाज में तेजी से कई वर्ग बनते जा रहे हैं। कुल मिलाकर कमोबेश हालत यह है कि आदिवासी समाजों की अस्मिता और अस्तित्व पर ही

CC-0.Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

खतरा उत्पन्न हो गया है। ऐसी स्थितियों के बीच साहित्य और समाज में आदिवासी विमर्श का जो स्वरुप बन रहा है उसकी वैचारिकी पर मैं कुछ रचनाओं के माध्यम से अपनी बात स्पष्ट करूँगा।

मैं आप लोगों से एक ऐसे उपन्यास का परिचय कराना चाहता हूँ जिससे प्रायः हिंदी के पाठक परिचित नहीं हैं। येसे दोरजी थोंगछी एक महत्वपूर्ण गैर हिंदी भाषी लेखक हैं जिन्हें साहित्य अकादमी पुरस्कार भी मिल चुका है। वे असमिया में लिखते हैं। उनके कई उपन्यासों का विभिन्न भाषाओं में अनुवाद हो चुका है। वे अरुणाचल प्रदेश में रहने वाले शेरदुकपेन आदिवासी समुदाय से सम्बन्ध रखते हैं। 'सोनाम' उनका प्रसिद्ध उपन्यास है जिसका हिंदी अनुवाद प्रकाशित हो चुका है। यह उपन्यास सोनाम नाम की एक आदिवासी युवती के जीवन की दास्तान है। अरुणाचल में ब्रोकपा नाम का एक आदिवासी समुदाय रहता है। यह मूलतः पशुपालक समुदाय है जो भूटान के सीमावर्ती इलाकों और तावांग के आस पास पहाड़ों पर रहता है। ब्रोकपा समुदाय में बहुपतित्व की प्रथा है। जिसको खोर-देपका कहा जाता है। सम्भवतः किसी जमाने में समुदाय ने अपनी सहूलियत के लिए इस व्यवस्था को जन्म दिया होगा क्योंकि पुरूषों को अक्सर पशुओं की देखभाल के लिए पहाड़ों के ऊपरी हिस्सों में रहना पड़ता था जहाँ चारागाह होते थे। दो पति होने से एक चारागाह जा सकता था और दूसरा घर पर रहकर घर की देखभाल कर सकता था। अक्सर ये पति भाई हुआ करते थे। लेकिन इस व्यवस्था से एक महिला को किन मानसिक तनावों को झेलना पड़ता है, उपन्यास इसको रेखांकित करता है। भावनाओं को लगभग मशीनी तरीके से संयत करके जीवन को चलाना जिससे परिवार में दिक्कत न हो यह जिम्मेदारी या कहें बोझ उठाते-उठाते एक युवती जीवन के बदरंग शक्ल को देखती है। उपन्यास में इसका बहुत मार्मिक चित्रण है। सोनाम कोई विद्रोहिणी स्त्री नहीं है और न ही तथाकथित नायिका लेकिन आखिर में वह अपना जीवन देकर या खोकर यह साबित करती है कि यह प्रथा उसके जैसी तमाम महिलाओं के लिए किस तरह प्रताड़ना का संस्थागत तरीका बन गई है। लेखक ने बहुत ही सधे तरीके से ब्रोकपा समुदाय की इस प्रथा के कुरूप चेहरे को दिखाया है और साथ ही बदल रहे आदिवासी समाज व्यवस्था की तरफ भी इंगित करता है। उपन्यास के आखिर में छिरिंग दैमा (सोनाम की छोटी बहन) का विवाह लोबजांग (सोनाम का पति) के साथ हो जाता है। छिरिंग दैमा लोबजांग को बताती है कि सोनाम ने अपने अंतिम क्षणों में छिरिंग दैमा से कहा था कि वह उसकी मृत्यु के बाद लोबजांग से विवाह कर लें पर कभी भी 'खोर-देपका' न करे। वे दोनों पशुपालन का व्यवसाय छोड़कर कृषि व्यवसाय करने की उम्मीद में तावांग की तरफ चले जाते हैं। यदि ध्यान से देखे तो लेखक की विचार प्रक्रिया में एक अनूठी चीज हमे हासिल होगी। आदिवासी समाजों को देखने की जो दो निगाहें हैं एक बेहद रोमांटिक तरीके से और दूसरी दुश्मन की तरह, लेखक इन दोनों निगाहों से दूर है। वह ब्रोकपा समुदाय की अपनी कमजोरियों को भी पकड़ रहा है पर उसे हीन साबित करने के लिए नहीं बल्कि बेहद अपनापे के साथ। साथ ही वह ब्रोकपाओं के लिए किसी रोमांटिक निगाह से बचते हुए उनकी बदल रही सामाजिक व्यवस्था, आर्थिक व्यवस्था को भी चिन्हित कर रहा है। यह वह विचार प्रक्रिया है जिसकी आज आदिवासी साहित्य को सख्त जरूरत है।

इसी विश्लेषण को आगे बढ़ाते हुए मैं हरिराम मीणा के उपन्यास 'धूणी तपे तीर' का जिक्र करना चाहता हूँ। इस मुल्क की आजादी के संदर्भ में भगत सिंह ने कहा था कि 'यदि कांग्रेस के तरीके से आजादी हासिल होती है तो यह गोरे साहबों के राज भूरे साहबों के राज में रूपांतरण होगा।' आजादी के बाद के भारत की राजनीति, समाज और इतिहास पर नजर डालें तो भगत सिंह की यह बात एकदम सटीक साबित होती है। यह उपन्यास औपनिवेशिक भारत में ब्रिटिश हुकूमत के विरूद्ध बगावत का झंडा बुलंद करने वाले आदिवासियों की दास्तान है। इतिहास किनका और किनके पक्ष में लिखा जाता रहा है यह बहुत दबी-छुपी बात नहीं है। इसलिए 'धूणी तपे तोर' एक ऐतिहासिक महत्व की पुस्तक है। विचारधारा पर बात करें तो बाबा रामदास का आग्रह सिर्फ इतना भर नहीं है कि इस मुल्क से ब्रिटिश राज टूट जाए बल्कि उसके साथ ही साथ उनकी मांग उनके अनुयायियों और साथियों की जिंदगी से ताल्लुक रखती है। यह पूरी समाज व्यवस्था को बदलने वाली बात है।

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

आदिवासी विश्वदृष्टिकोण की इसी खूबी से आदिवासी विमर्श कि वैचारिकी का निर्माण होता है।

आदिवासी साहित्य की विचारधारा के सिलसिले में जिन दो रचनाओं का जिक्र करना मैं जरूरी समझता हूँ उनमें एक है रणेन्द्र का उपन्यास 'तलोबल गाँव के देवता' और निर्मला पुतुल का काव्य संग्रह ''नगाड़े की तरह बजते शब्द'। रणेन्द्र अपने उपन्यास में रूमझुम असुर के माध्यम से उन सारे मिथकों की पोल खोलते हैं जिन्हें आदिवासियों के खिलाफ रचा गया है। वे सारे नरसंहार जो सिर्फ भारत में ही नहीं, पूरी दुनिया में रचे गये। इन सारे संग्रामों या कहें नरसंहारों में एक चीज हमेशा समान रही और वह थी कि हर बार आदिवासियों को मरना पड़ा। सिकंदर और समुद्रगुप्त का इतिहास लिखने वालों ने कभी इस बात की जहमत नहीं उठाई कि इन नरसंहारों को भी इतिहास में दर्ज किया जाय। क्रूरता की हद तो यह कि जब-जब इन्हें दर्ज किया गया तो यह दिखाते हुए कि ये नरसंहार जरूरी थे। अब याद कीजिए अमरीका-इराक युद्ध जिसमें लाखों मासूम मारे गये और अमरीका इसे जरूरी साबित करने में लगा रहा। लेकिन यह उपन्यास महज इतिहास के इन अनछुए या कहें विकृत किए गए पहलुओं को ही नहीं उठाता बल्कि आज की पूंजीवादी और उदारवादी व्यवस्था में आदिवासियों की स्थिति को भी सामने लाता है। यह पूरा भूमंडल एक गाँव हो गया है, इस बात का प्रचार तो जोर-शोर से हो रहा है लेकिन उपन्यास इस बात की पड़ताल करता है कि यह किनके लिए गाँव हो गया है, किन उदेश्यों से गाँव हो गया है और वे कौन हैं जो इस गाँव के मालिक हैं? आखिर में ग्लोबल गाँव के देवता हैं कौन ? ये पूंजी के बड़े-बड़े सरमायेदार और बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ हैं, जिनके शिकंजे में यह पूरी दुनिया सिकुड़ती चली जा रही है और शायद एक दिन ही जाय। असुर आदिवासियों के मिटते चले जाने या व्यवस्था द्वारा उन्हें मिटाये जाने के दौर में आखिर वह कौन-सा विचार, कौन-सा रास्ता है जो उन्हें बचा सकता है? उम्मीद की किरण हैं कहाँ ? उपन्यास में वह उम्मीद हमें लालचन असुर और ललिता असुर से होते हुए सुनील असुर तक दिखती है कि अपनी संस्कृति और अपने अस्तित्व को बचाए रखने के लिए संघर्ष करना ही एकमात्र रास्ता है। कुछ लोग एक झटके में कह देते हैं कि आदिवासियों को चाहिए कि वे तथाकथित मुख्यधारा में शामिल हो जाय। बदले में आप उन्हें क्या दीजियेगा ? जो व्यवस्था स्वयं अपनी ही बहुसंख्यक आबादी को शूद्र के नाम पर त्याज्य मानती है उसमें आदिवासियों की मुक्ति कैसे संभव है ?

उपन्यास इन सारे सवालों का उत्तर ढूंढने की कोशिश करता है। धर्म के ढकोसले को बेहद सटीक तरीके से उजागर किया है रणेन्द्र ने। जनेऊ के ठेकेदारों की कुत्सित मानसिकता और घिनौनी हरकतों पर से परदा उठा दिया है रणेन्द्र ने। एक बात को उल्लिखित किया जाना जरूरी है। लोक विश्वास और धर्म दो अलग-अलग चीजें हैं। लोक-विश्वास किसी समुदाय के सदियों के अनुभव से निर्मित होता है, जबकि धर्म उन्हीं विश्वसों और भय को आधार बनाकर तैयार की गई शोषणकैारी संस्था है। इस पूरे चक्रव्यूह की पेचों को खोलने का काम किया है रणेन्द्र ने। यहीं मैं निर्मला पुतुल का जिक्र करना चाहता हूँ। 'नगाड़े की तरह बजते शब्द' से गुजरते हुए बार-बार यह लगता है कि जैसे मुक्ति की महागाथा को सिरजा गया हो। यहाँ आदिवासी स्त्रियों के दुःख को सिर्फ स्थूल निगाह भर से नहीं देखा गया है बल्कि किस तरह व्यवस्था उनकी त्रासदी को रच रही है इसे उल्लिखित किया गया है। मैं 'आविासी स्त्रियां' कविता की इन पंक्तियों को उल्लिखित करना चाहता हूँ-

''वे नहीं जानतीं कि
कैसे पहुंच जाती हैं उनकी चीजें दिल्ली
जबकि राजमार्ग तक पहुँचने से पहले ही
दम तोड़ देतीं है उनकी दुनिया की पगडण्डियाँ
नहीं जानतीं कि कैसे सूख जाती हैं
उनकी दुनिया तक आते-आते नदियाँ

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

तस्वीरें कैसे पहुँच जाती हैं उनकी महानगर
नहीं जानतीं वे नहीं जानतीं ॥''

और यह क्रम सदियों से अनवरत चल रहा है। आदिवासियों के जल-जंगल-जमीन पर जबरन कब्जे का यह इतिहास बहुत पुराना है। उनके संसाधनों पर कब्जा और उनकी संस्कृति को म्यूजियम का सामान बना देने का हमारा दौर बड़ी क्रूरता के साथ अपना काम कर रहा है। ठीक इसी समय निर्मला पुतुल लिखती हैं-

''और अगर किसी तरह हारी इस बार भी
तो कर लो नोट दिमाग की डायरी में
आज की तारीख के साथ
कि गिरेंगी जितनी बूँदे लहू की धरती पर
उतनी ही जनमेगीं निर्मला पुतुल
हवा में मुठ्ठी-बंधे हाथ लहराते हुए।''

यह ऐलान उम्मीद के जिंदा होने का ऐलान है। यह मुक्ति के संघर्षशील रास्ते की पहचान करता है। पूंजीवाद और उसके दलालों, जो हित में दुनिया की सारी विविधा को मिटाने पर आमदा है (इसके ज्यादा शिकार आदिवासी समुदाय ही हैं) के खिलाफ संघर्ष ही वह विचारधारा है जिसकी आदिवासी साहित्य को जरूरत है। मुक्ति का दर्शन ही वह विचार-प्रणाली है जिससे चलकर आदिवासी साहित्य सही दिशा में आगे बढ़ सकता है। आदिवासी समाज आज जिस तरह के हमलों का सामना कर रहा है और जिस प्रकार उससे लड़ रहा है उससे इतर जाकर क्या हम आदिवासी साहित्य की विचारधारा के बारे में सोच सकते हैं ? मेरा जवाब है-नहीं। आदिवासी साहित्य की विचारधारा का स्रोत एक बेहतर दुनिया के सृजन की विचारधारा में ही निहित है।

सहायक प्राध्यापक,
राजीव गाँधी विश्वविद्यालय, रोनो हिल्स,
दोइमुख, ईटानगर, अरुणाचल प्रदेश-791112
मो.-09436682837

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

स्त्री-विमर्श के आलोक में अन्या से अनन्या आत्मकथा का मूल्यांकन

डॉ. जमुना बीनी तादर

वर्षों से आज तक जिस आत्मचेतना से युक्त शिक्षा से नारी को इसलिए दूर रखा गया कि जो भी परिस्थितियाँ उनके लिए बनाई गयी वे स्वयं को सीमित रखें, उन्हें अस्वीकार करने का दुस्साहस न करें, अब वे नई सहस्राब्दि में बदलने लगी है। विज्ञान ने ज्ञान को सर्वसुलभ बना दिया है, लोकतांत्रिक व्यवस्थाएँ शिक्षा को घर-घर पहुँचाने का भरसक प्रयास कर रही है। फलस्वरूप स्त्रियाँ अपनी असम्मानजनक स्थितियों पर पहली बार विचार करने लगी और उन कारणों का गंभीरता से अध्ययन और विश्लेषण करने लगी हैं जिनके चलते उन्हे पराधीन बनाकर रखा गया था, एक स्वतंत्र व्यत्तित्व की पहचान से वंचित कर दिया था। परिवार, विवाह और नैतिकता जैसे संस्कारों को अपनी अधिनता के लिए उत्तरदायी मानते हुए स्त्रियों ने उन्हें कटघरे में खड़ाकर आक्रामक जिरह शुरु कर दी है। यह जिरह ही स्त्री-विमर्श का प्रस्थान बिन्दु है। अब प्रश्न यह है कि यह स्त्री-विमर्श है क्या और विमर्श माने सिद्धांत ? 'वास्तव में किसी विषय या अवधारणा के बहस, चर्चा और बातचीत के माध्यम से किसी अन्य अभिलक्षित सिद्धांत या अवधारणा या विचारधारा तक पहुँचाने की प्रक्रिया को विमर्श कहा जा सकता है। विमर्श स्वयं कोई सिद्धांत नहीं है, यह एक निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया है, जो विमर्शित विषय को कई आयामों के माध्यम से किसी अभिलक्षित लक्ष्य तक पहुँचाने का कार्य करती है। विमर्श के इस सन्दर्भ में विमर्श का अर्थ है स्त्री की परम्परागत छवि और पहचान से अलग एक नई पहचान एक नई छवि का निर्माण करना। स्त्री के अस्तित्व, उसके अधिकारों, उसकी अस्मिता उसके एक मानवीय के रूप में प्रतिष्ठित होने के संघर्ष को स्त्री-विमर्श कहा जा सकता है।'[1] अत: स्त्री का स्वयं अपने को एक मानवीय इकाई के रूप में देखना और इसे प्रतिष्ठापित करने की प्रक्रिया को स्त्री विमर्श कहा गया है।

नई सहस्राब्दि में अब स्त्रियाँ माँग करने लगी है कि उनकी उन समस्याओं पर विचार करने का समय आ गया है, जिन्हें पुरुषवादी समाज ने पैदा किया। प्रख्यात स्त्रीवादी लेखिका मैत्रेयी पुष्पा का मानना है स्त्रियों की बुनियादी समस्याएँ जिन्हें समाज अब तक नजरअंदाज करने का अभ्यस्त रहा है, बेझिझक दर्ज होनी चाहिए, यही स्त्री-विषय है। इसी की आज जरुरत है। स्त्री को पुरुषों से स्त्रीवादी की परिभाषा नहीं सुननी है। उनके स्त्री-विमर्श में कपड़े पहनने के कायदे, चुप रहने की तहजीब और सिर झुकाने की शालीनता आज भी कायम है। इसी विमर्श ने नई सहस्त्राब्दि पुरुष प्रधान समाज में खलबली मचा दी है।

इस शताब्दी की नारी यदि वैदिककालीन नारी की भाँति पुरुष समान स्वतंत्र एवं सम्मानित नहीं है तो अट्ठारहवीं एवं उन्नीसवीं शताब्दी की नारी की भाँति बन्धनों में जकड़ी हुई भी नहीं है। परन्तु गंभीरता से विचार करने पर निश्रय ही आधुनिकता तथा तथाकथित स्वतंत्र नारी भी बन्धनों में जकड़ी हुई परिलक्षित होती है। क्योंकि समाज के द्वारा स्त्री का शोषण एवं दमन कई स्तरों पर किया जाता रहा है। दया, ममता, स्नेह, त्याग, सहनशीलता, नैतिकता आदि स्त्रियोचित गुण पुरुष सत्ता द्वारा निर्धारित प्रतिमान है। जिन प्रतिमानों का पालन कर स्त्री हमेशा शोषित हुई है और इन प्रतिमानों को मानने से मना करने वाली स्त्रियों को समाज में व्यापक अवहेलना का शिकार होना पड़ा।

स्त्री उत्पीड़न के विरुद्ध स्त्रियों में अस्वीकार अथवा विरोध की भावना आज जागृत हुई है। वर्तमान संदर्भ में नारी

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

अपनी हीन दशा को मौन स्वीकृति न प्रदान करके समाज की इस शोषणकारी व्यवस्था का प्रतिकार करती है। प्रभा खेतान यह मानती है कि अतीत में स्त्री ने विरोध की भाषा नहीं सीखी थी आज स्त्री प्रतिरोध की भाषा जानती है। वह जानती है कि स्त्री समस्या को वह वृहत्तर सामाजिक संरचनाओं से जोड़ पायेगी और उसे नये संदर्भों में समझी जायेगी। वह जानती है कि समाज में शोषण और दमन कई स्तरों पर होता है। और इन शोषणकारी संरचनाओं के खिलाफ होने वाले संघर्ष से जुड़े बिना स्त्रीका संघर्ष आगे नहीं बढ़ सकता। स्त्री-विमर्श का मुख्य उद्देश्य पितृसत्तात्मक व्यवस्था से मुक्ति है। यह सही है कि परम्परा के खिलाफ उद्दण्ड होने के बजाय विनम्र होना चाहिए पर विनम्रता का यह अर्थ नहीं कि जिस परम्परा ने स्त्री का दोहन किया है, उसका ही महिमामण्डन किया जाये और ब्राह्मणवादी संस्कृति के आधार पर निर्मित विरोधी पुराण, गाथाओं, स्मृतियों के श्लोकों नवीन व्याख्या प्रस्तुत की जाए। अतः वर्तमान स्त्री अतीनोन्मुखी नहीं है। वह अतीत का विरोध करती है।

आज कुछ लोग स्त्री विमर्श पर कई प्रकार के आरोप लगा रहे हैं। पहला स्त्री विमर्श अभारतीय है। यह पश्चिम से आयातित है। जब कि वास्तविकता यह है कि स्त्रियों की सामाजिक स्थिति और उनके अधिकारों की विशेष बात यह थी कि पुरुषों ने स्त्रियों अधिकारों के लिए लड़ाई लड़ी थी। बाद में गाँधी जी के असहयोग आंदोलन और मार्क्सवाद से प्रेरित समाजवादी आँदोलनों में स्त्रियों की महत्वपूर्ण भूमिका रही। स्वाधीनता के बाद स्त्री मुक्ति आँदोलनों को पश्चिम की विचारधारा ने सैद्धान्तिक और वैचारिक आधार प्रदान करने में सहायक सिद्ध हुआ, इसको भी स्वीकारते है। हमें यह नहीं भुलना चाहिए कि महादेवी वर्मा ने अपने लेखन में भारतीय स्त्री के चुभते सवालों को बड़ी तीव्रता के साथ उठाया है। इस दृष्टि से उनकी पुस्तक 'श्रृंखला की कड़ियाँ' का ऐतिहासिक महत्व है। यह पुस्तक 1942 में प्रकाशित हुई थी, जबकि स्त्री विमर्श पर दुनिया भर में तहलका मचाने वाली सिमोन द बौउआ की 'द सेकेंड सेक्स' १९४८ में छपी। बड़ी बात यह है कि यह पुस्तक उस हिंदी पट्टी में लिखी गई थी जो अपने वैचारिक और सांस्कृतिक पिछड़ेपन के लिए कुख्यात रहा है।'[२] अतः स्त्री-विमर्श को नितांत अभारतीय कहना युक्ति संगत नहीं है।

दूसरा आरोप यह है कि अपने दृष्टिकोण में स्त्री-विमर्श पुरुष विरोधी है। स्त्री-विमर्श पुरुष विरोधी नहीं है। यह केवल भ्रांतियाँ फैलाई ज रही हैं कि स्त्री-विमर्श पुरुष विरोधी है। यह उस मानसिकता का विरोधी है जो स्त्री को पुरुष के अधीन बनाये रखने में काम आती है। ऐसा नहीं कि स्त्रियाँ कोई पुरुष विहीन समाज चाह रही है। स्त्री किसी व्यक्ति-पुरुष के खिलाफ नहीं बल्कि उस दमनकारी पुरुष-सत्ता के खिलाफ है। और तीसरा आरोप है कि प्रकृति में स्त्री-विमर्श देहवादी है। देह को ही अधिक महत्व देती है। 'अधिकतर लोग स्त्री-स्वतंत्रता को यौन-उच्छृंखलता का ही पर्याय मानते हैं। जबकि ऐसा नहीं है। नारीवाद केवल नर-मादा के आन्तरिक संबंधों का ही उल्लेख नहीं करता। यह स्त्री की यौनिकता को स्थापित जरुर करना चाहता है और उस बोध को हासिल करना चाहता है। जिसके बारे में अब तक स्त्री खामोश रहती आई है।'[३] किन्तु कुछ लोग स्त्री-विमर्श के साथ देहवाद को घुला-मिला कर इसे हल्का और उथला बना दिए हैं। इसलिए सुप्रसिद्ध आलोचक सूरज पालीवाल अत्यंत दुखी होकर कहते हैं-''कहने की आवश्यकता नहीं कि हिन्दी में जो स्त्री-विमर्श पिछले दो दशक से चल रहा है, वह स्त्री की स्वतंत्रता और उसके संघर्षों को रेखांकित न कर देह मुक्ति तक सीमित हो गया। ऐसी स्थिति में लेखकों से लेकर पाठक मजाक करने लगे हैं कि स्त्री जिस देह के शोषण से मुक्ति चाहती थी, वह मुक्ति उसे मिली नहीं अपितु देह शोषण की स्वतंत्रता अवश्य मिल गई।''[४] जो व्यक्ति स्त्री-विमर्श को मात्र देहवाद के रूप में प्रस्तुत करता है असल में वह इस विमर्श की दशा को भटकाने का प्रयास कर रहा है।

साहित्य में विशेष कर हिन्दी साहित्य जब कोई वाद या विमर्श चल पड़ता है तो उससे प्रभावित होकर अनेक विधाओं में कई चीजें लिखी जाती है। स्त्री-विमर्श से भी प्रभावित होकर कविता, कहानी, उपन्यास आदि लिखे गए। पर में समझती हूँ कि इस विमर्श से सर्वाधिक निकट अगर कोई विधा है तो वह है आत्मकथा। समकालीन हिन्दी साहित्य में स्त्री लेखिकाओं

CC-0. In Public Domain. Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

द्वारा अलग-अलग विधाओं में बहुतायत लिखे जा रहे लेकिन जो सच्चाई उनकी आत्मकथाओं में देखने को मिलती है दूसरे अन्यत्र विधाओं में देखने को नहीं मिलती है। स्त्री लेखन की मूल और अंतरंग अनुभूतियों के लिए आत्मकथा विधा अभिव्यक्ति का सफल माध्यम बनता जा रहा है। स्त्री लेखिकाओं ने अपने कथा-पात्रों के जीवन की अपेक्षा अपने स्वयं के जीवन के माध्यम से स्त्री जीवन से जुड़े महत्वपूर्ण प्रश्नों को पाठकों के सामने रखने का साहस किया है। चन्द्रकिरण सौनरिक्सा के 'पिंजरे की मैना', मन्नू भंडारी की 'एक कहानी यह भी', प्रभा खेतान की 'अन्या से अनन्या', पदमा सचदेव की 'बूँद बावड़ी', मैत्रेयी पुष्पा की 'कस्तुरी कुण्डल बसै' तथा 'गुड़िया भीतर गुड़िया', कुसुम अंसल की 'जो कहा नहीं गया' और कृष्णा अग्निहोत्री की 'लगता नहीं है दिल मेरा' आदि उल्लेखनीय आत्माकथाएँ हैं।

प्रभा खेतान द्वारा लिखित 'अन्या से अनन्या' एक ऐसी स्त्री की आत्मकथा है जो उच्च जाति की है, आर्थिक रूप से सम्पन्न है किन्तु फिर भी वह हाशिएकरण की शिकार होती है। इस आत्मकथा के माध्यम से प्रभा ने एक दूसरी औरत के जीवन के विविध छुए और अनछुए पहलुओं को पूरी ईमानदारी और सच्चाई के साथ प्रस्तुत किया है। प्रभा ने कभी शादी नहीं की। वह आजीवन डॉ. सर्राफ की दूसरी औरत बनकर रही। उनके भीतर जबरदस्त निर्णय-स्वातंत्र्य का भाव भरा हुआ था। अपने चुनाव की पूरी जिम्मेदारी अपने ऊपर लेने के पश्चात् वह उस चुनाव के परिणाम भुगतने को भी तैयार थी, उन्होंने डॉ. सर्राफ को चुना था, पूरी तरह से और हर तरह से, जैसा भी वह था। प्रभा के भीतर प्रेम पाने की एक पागल सी इच्छा थी। असल में 'प्रेम पाने की भरसक पागल इच्छा इसलिए होती है, क्योंकि स्त्री को प्रेम, सच्चा प्रेम नहीं मिलता।'[5] डॉ. सर्राफ से भी प्रभा को कहाँ सच्चा प्रेम नसीब होता है। जिस डॉ. सर्राफ को उसने टूटकर प्रेम किया, जिस डॉ. सर्राफ के लिए उसने आजीवन शादी न करने का कठोर निर्णय लिया, वही डॉ. सर्राफ उनके प्रति अंत तक कहाँ वफादार रह पाता है। ऐसा क्यों होता है कि प्रेम की सारी एकनिष्ठता सिर्फ स्त्री से ही अपेक्षा की जाती है और पुरुष से नहीं। प्रभा और डॉ. सर्राफ का प्रेम बिल्कुल दोतरफा था लेकिन कटघरे में केवल प्रभा को ही खड़ा किया गया। इसलिए आत्मकथा में प्रभा कहती है- 'स्त्री को ही सारे लांछन सहने पड़ते हैं। पुरुष से कोई कुछ क्यों नहीं कहता। संबंध तो दो व्यक्तियों का होता है। दोनों ही इसके लिए उत्तरादायी हैं।'[6] पर समाज केवल स्त्री को ही इसका उत्तरदायीं मानता है, इसलिए प्रभा की झोली में दुनिया भर की लांछन एवं तिरस्कार और डॉ. सर्राफ के हिस्से में पद्मश्री पुरस्कार।

आत्मकथा में यह भी उल्लिखित है कि लकीर से हटकर चलने के कारण सामाजिक अस्वीकृति और ताने उसे दिन-रात झेलनी पड़ी। सदा एक चरम मानसिक यंत्रण को भोगते रहने को, एक स्थायी आतंक को झेलते रहने को वह बाध्य रही। शादी न करने का उनके निर्णय के कारण में आने वाले प्रत्येक व्यक्ति प्रभा से यही सवाल करता कि आखिर उसने शादी क्यों नहीं की। इस बात को लेकर उनके ऊपर फिकरे कसे गए और स्कैंडल भी बना। समाज जितनी जल्दी एक अविवाहिता स्त्री को शक की निगाह से देखता है उतना शक विवाहिता पर नहीं करता। उनकी माँ कहा करती कि बेटी ब्याह कर ले, लाल घाघरे में सारे दाग छुप जाते हैं। मगर सफेद आँचल में एक भी दाग बड़ा भद्दा लगता है। एक स्त्री जिसके पास अपना काम है, बैंक में बेलेंस है पर इसके बावजूद समाज के नजर में वह पथभ्रष्ट और अपवित्र है, सिर्फ इसलिए कि उसने शादी नहीं की।

इस विवाह स्त्री संस्था का इतना महिमामंडन क्यों ? आखिर स्त्री विवाह करे भी तो क्यों ? जिस विवाहित जीवन में ऐसा कोई छोटा सा कोना नहीं जहाँ स्त्री बैठकर कुछ सोच सके। स्त्री अधिकारों के प्रबल समर्थक 'जॉन स्टुअर्ट मिल'[7] ने परिवार और विवाह की संस्थाओं के स्त्री-उत्पीड़क, अनैतिक चरित्र के ऊपर से रागात्मकता के आवरण को नोंच फेंका और उन नैतिक मान्यताओं की पवित्रता का रंग-रोगन खुरच डाला है जो सिर्फ स्त्रियों से ही समस्त एकनिष्ठता, सेवा और समर्पण की माँग करती है और पुरुषों को उड़ने के लिए लीला-विलास का अनन्त आकाश मुहैया कराती है। पितृसत्ता में बचपन से ही समर्पण, निर्भरता, त्यागपूर्ण प्रेम और वफादारी के आदर्शो व नैतिक शिक्षाओं से स्त्री की सोच को अनुकूलित करके उन्हें

Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

दिमागी गुलाम बनाने का पूरा प्रयास किया गया है। मिल के अनुसार, प्राचीन काल में बहुत से स्त्री-पुरुष दास थे। फिर दास-प्रथा के औचित्य पर प्रश्न उठने लगे और धीरे-धीरे यह प्रथा समाप्त हो गयी। लेकिन स्त्रियों की दासता धीरे-धीरे एक किस्म की निर्भरता में तब्दील हो गयी। मिल स्त्री की निर्भरता को पुरातन दासता की ही निरन्तरता मानते हैं जिस पर तमाम सुधारों के रंग-रोगन के बाद भी पुरानी निर्दयता के चिह्न अभी भी मौजूद हैं और आज भी स्त्री-पुरुष असमानता के मूल में 'ताकत' का वही आदिम नियम है जिसके तहत ताकतवर सब कुछ हथिया लेता है।

इसी ताकतवर और वर्चस्वादी व्यवस्था की उन्मूलन का आह्वान प्रभा खेतान ने 'अन्या से अनन्या' में किया है। किन्तु यह इतना आसान नहीं है। पुरुष हमेशा स्त्री पर भारी पड़ता रहा है। 'चूँकि सारे विधान, सारी संहिताएँ, सारे नियम, धर्म, कानून पुरुषों ने रचे हैं इसलिए हर कानून, हर रीति-रिवाज और परम्परा का पलड़ा उनके पक्ष में झुका हुआ है।'[८] पुरुष सदा स्त्री शोषण के नये-नये औजार के ईजाद में व्यस्त है। पहले सामंती और अब पूँजीवाद, दोनों ही व्यवस्था स्त्री शोषण के घातक औजार है। 'सामन्तीय व्यवस्था कुछ ही अर्थों में व्यक्ति को खास तौर से स्त्री को वस्तु की तरह इस्तेमाल करती थी, अन्ततः वह उसके लिए एक चेतन इकाई थी- चाहे पत्नी के रूप में या फिर वेश्या के रूप में। पूँजीवादी व्यवस्था मनुष्य को वस्तु में तब्दील करने के लिए उसकी चेतना को भी जड़ बनाती जा रही है और उसे किसी भी रूप में मानवीय इकाई के बने रहने के लिए तैयार नहीं है।'[९] पूँजीवाद ने स्त्री को स्वतंत्र असल में शोषण करने के लिए जिस मिथ को गढ़ा है वह सौन्दर्य का मिथक। इस मिथ के अनुसार किसी स्त्री का सांवली होना उसकी बदसूरती है और यह अपराध है। आलोच्य आत्मकथा में हम स्पष्ट रूप से यह देखते है कि प्रभा के साथ भी रंग के आधार पर भेद-भाव किया जाता है। प्रभा अपने साँवले रँग के कारण अपराधबोध से ग्रस्त होती है। प्रायः उनकी चाची-ताई उन्हें दाई की बेटी कहकर उनके अबोध मन को आघात पहुँचाती थीं। एक तो लड़की और उस पर साँवली रंगत, इस कारण प्रभा की माँ ने कभी उसे प्रेम नहीं किया। वह अपनी माँ के बदले दाई से अधिक जुड़ाव महसूस करती थी। सांवले रंग के कारण उनके भीतर हीनता का भाव था, इसलिए जब उम्र में अट्ठारह साल बड़े डॉ. सर्राफ ने उनकी प्रशंसा की तो उनके मन का खाली पात्र लबालब भर गया और वह पूरे मन से डॉ. सर्राफ की ओर आकृष्ट होती है। बचपन में दाई माँ से और जवानी में डॉ. सर्राफ से, इन दोनों से ही प्रभा को अपार प्रेम मिला। अपनी माँ के साथ हमेशा एक दूरी का अनुभव किया।

स्त्री-विमर्श के संदर्भ में जिस आत्मनिर्भरता की बात उठाई जाती है- दैहिक आत्मनिर्भता, मानसिक आत्मनिर्भरता तथा आर्थिक आत्मनिर्भर। यह सब प्रभा के पास था। पर आर्थिक आत्मनिर्भरता प्रभा के पास प्राचुर्य थी। अपनी आत्मकथा में उन्होंने बताया कि किस प्रकार उन्होंने मात्र तीन सौ रुपये के वेतन से अपनी जिंदगी शुरू की थी। कहने को तो वह बड़े घर की बेटी थी पर उनके पास न कोई सोने का आभूषण और न बेंक बेलेंस था। एक अंधी जिद हमेशा उसके साथ रही कि आर्थिक स्वतंत्रता स्त्री स्वतंत्रता की पहली शर्त है। औरत की सारी स्वतंत्रता उसके पर्स में निहित है- सीमोन के इन शब्दों को बीज-मंत्र की तरह उन्होंने अपने जीवन में स्वीकार कर लिया। यह जानते हुए भी कि बड़ी फिसलन-भरी होती है व्यवसायिक सफलता की दुनिया। वह चमड़े के निर्यात के व्यापार में कूद पड़ी। शुरूआत में उन्हें विरोध भी झेलना पड़ा, पर वह हटी नहीं। उनके अनुसार औरतें जितनी गंभीरता से प्रेम को लेती हैं, उतनी ही गंभीरता से काम को लें तो कहाँ से कहाँ नहीं पहुँच सकती। आर्थिक असुरक्षा ने कभी उसे नहीं डराया। वह सीमोन की आर्थिक आत्मनिर्भरता की बात को गुरुमंत्र के रूप में गाँठ बाँध चुकी थी। सच में सीमोन प्रभा की गुरु और मित्र दोनों ही थी। प्रभा ने स्वीकारा भी है कि सीमोन से बड़ा बौद्धिक मित्र उसे आज तक नहीं मिला। उनके मेज पर गीता के साथ सीमोन की 'सेकेंड सेक्स' किताब भी पड़ी रहती। 'सेकेंड सेक्स' में बिल्कुल सही लिखा है कि औरत की पहली लड़ाई अर्थ की दुनिया से शुरू होती है। प्रभा ने भी जीवन जीते जीते हुए यही सीखा है कि पैसा कमाने से स्त्री निर्णय लेना सीखती है और निर्णय की क्षमता उसके संघर्ष को मजबूत करती है।

अरुण प्रभा

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

आलोच्य आत्मकथा में प्रभा ने 'यूनिवर्सल सिस्टरहुड' की मुद्दा को भी उठाया है। उन्होंने आत्मकथा में अमेरिकी समाज में स्त्री जीवन की पीड़ा, असहायता और अकेलेपन को गहरी संवेदना के साथ चित्रित किया है। स्त्री चाहे भारतीय हो या अमेरिकी, साड़ी-ब्लाउज पहने या पेंट-शर्ट, हर देश में और हर वेश में वह प्रताड़ित होती है। मिसेज डी के संदर्भ में कही आइलिन की यह बातें कि दुनिया का ऐसा कोई कोना बताओं, जहाँ औरत के आँसू नहीं गिरे हो, एक सनातन सत्य को उजागर करता है। मन में यह प्रश्न कौंधना स्वाभाविक है कि अमेरिकी प्रगतिशील समाज में डॉ.डी के प्रवंचना के बावजूद भी मिसेज डी डॉ. डी से क्यों जिसकी रहना चाहती है। सिर्फ इसलिए कि कैथोलिक समाज में तलाकशुदा स्त्री को आदर की दृष्टि से देखा नहीं जाता। क्या यह अमेरिकी समाज की प्रगतिशीलता है ? स्त्री का यह सार्वकालिक और सार्वभौमिक शोषण और प्रताड़ना कब खत्म होगा। प्रभा अत्यंत व्यथित होकर कहती है- 'तमाम इतिहास और भूगोल की सीमाओं से परे कहीं हम स्त्रियों का दर्द एक ही है। स्त्री के जीवन में दर्द के प्रसंग में एक बड़ी ठोस सार्विकता है जिसकी उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए। यह हाशिए पर पड़े हुए लोगों का दर्द है। यह उनकी सार्विकता है, उनकी समग्रता है।'[१०]

इस प्रकार स्त्री-विमर्श जो पिछले तीन दशकों से हिन्दी साहित्य में निरन्तर अपनी महत्वपूर्ण उपस्थिति दर्ज कराता रहा है उसे लेखन विशेषतया आत्मकथाओं ने एक नया आयाम दिया और विकसित भी किया है। स्त्री आत्मकथाएँ स्त्री अस्मिता को दृढ़ करने के औजार के रूप में कार्य करती दिखाई देती है। और इन आत्मकथाओं में 'अन्या से अनन्या' आत्मकथा का मूर्धन्य स्थान है।

संदर्भ सूची-

1. स्त्री-विमर्श और पूंजीवाद का दुष्चक्र, कुमार जैन, आलोचना त्रैमासिक, सहस्राब्दी अंक 48, जनवरी- मार्च 2013, पृ.101
2. आधी आबादी का सच, जैनेन्द्र कुमार पाण्डेय, साहित्य के दर्पण में स्त्री, संपा-डॉ. सियाराम, ओमेगा प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण: 2013, पृ.89
3. हंस की नारीवादी उड़ान, प्रभा खेतान, पितृसत्ता के नये रूप, संपादक मंडल-राजेन्द्र यादव: प्रभा खेतान: अभयकुमार दुबे, राजकमल प्रकाशन प्रा.लि., नई दिल्ली-110002, संस्करण: 2010, पृ.16
4. स्त्री मुक्ति के सपने और यथार्थ, सूरज पालीवाल, वर्तमान साहित्य, वर्ष 25, मार्च 2008, पृ 09
5. हिन्दी साहित्य में स्त्री आलोचना: शुरूआत के दिन, सविता सिंह, आलोचना त्रैमासिक, अंक 51, अक्तूबर-दिसम्बर 2013, पृ.75
6. अन्या से अनन्या, प्रभा खेतान, राजकमल प्रकाशन प्रा.लि. नई दिल्ली-110002, संस्करण: 2014, पृ.244
7. स्त्रियों की पराधीनता, जॉन स्टुअर्ट मिल, राजकमल प्रकाशन प्रा.लि., नई दिल्ली, संस्करण: 2009, पृ 25-26
8. स्त्रीत्ववादी विमर्श समाज और साहित्य, क्षमा शर्मा, राजकमल प्रकाशन प्रा.लि., नई दिल्ली, संस्करण: 2012, पृ.100
9. स्त्री-विमर्श और पूंजीवाद का दुष्चक्र, संजीव कुमार जैन, आलोचना त्रैमासिक, सहस्राब्दी अंक 48, जनवरी- मार्च 2013, पृ.103
10. हंस की नारीवादी उड़ान, प्रभा खेतान, पितृसत्ता के नये रूप संपादक मंडल-राजेन्द्र यादव, प्रभा खेतान: अभयकुमार दुबे, राजकमल प्रकाशन प्रा.लि., नई दिल्ली-110002, संस्करण: 2010. पृ. 21

असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी विभाग
राजीव गाँधी विश्वविद्यालय, रोनो हिल्स, दोइमुख
ईटानगर, अरुणाचल प्रदेश-791112

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

अयोध्या प्रसाद खत्री और हिन्दी आलोचना

●राजीव रंजन गिरि

"हिन्दी के हृदय में खड़ीबोली की कविता का हार प्रभात की उज्ज्वल किरणों से खूब ही चमक उठा है...।"

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' ('परिमल' की भूमिका से)

"अब ब्रजभाषा और खड़ीबोली के बीच जीवन-संग्राम का युग बीत गया, उन दिनों मैं साहित्य का ककहरा भी नहीं जानता था। उस सुकुमार माँ के गर्भ से जो वह ओजस्विनी कन्या पैदा हुई है, आज सर्वत्र इसी की छटा है, इसकी वाणी में विद्युत है। हिन्दी ने अब तुतलाना छोड़ दिया, वह 'पिय' को 'प्रिय' कहने लगी है। उसका किशोर कंठ फूट गया, अस्फुट अंग कट-छंट गए, उनकी अस्पष्टता में एक स्पष्ट स्वरुप की झलक आ गई, वक्ष विशाल और उन्नत हो गया, पदों की चंचलता दृष्टि में आ गई; वह विपुल विस्तृत हो गई; हृदय में नवीन भावनाएं नवीन कल्पनाएं उठने लगी; ज्ञान की परिधि बढ़ गई, चारों दिशाओं में त्रिविध समीर के झोंके उसके चित्त को रोमांचित करने लगे, उसे चाँद में नवीन सौन्दर्य, मेघ में नवीन गर्जन सुनाई देने लगा...।" (सुमित्रानंदन पंत, 'पल्लव' की भूमिका से)

'पल्लव' और 'परिमल' के दौर में खड़ीबोली हिन्दी कविता स्थापित हो गई। इस दौर को देखने पर इसके पहले का संघर्ष नहीं दिखता है। लेकिन 'पल्लव' और 'परिमल' के दौर के पहले खड़ीबोली कविता को स्थापित करने की लम्बी कोशिश हुई। इस लम्बी कोशिश की बुनियाद अयोध्या प्रसाद खत्री ने रखी। यह ऐतिहासिक विडंबना है कि जिन लोगों ने खड़ीबोली कविता को सराहा, उन्होंने इस आन्दोलन के प्रवर्त्तक के महत्त्व पर विचार नहीं किया। कुछ लोगों ने विचार किया भी तो व्यंग्यपूर्वक। अयोध्या प्रसाद खत्री के बारे में इस तरह के विचार जीवन-काल से ही आने शुरु हो गये थे। बाबू श्यामसुंदर दास सरीखे लेखकों ने खत्री जी के अवदान को कभी स्वीकार नहीं किया। 'खड़ी बोली-पद्य-आन्दोलन' की चर्चा करते हुए खत्री जी की चर्चा नहीं करना, उनके साहित्य-अवदान को स्वीकार नहीं करना, हिन्दी-आन्दोलन की सीमा और संकीर्णता को बताता है।

अयोध्या प्रसाद खत्री ने 'खड़ी बोली का पद्य' का संपादन कर ब्रजभाषा कविता की जगह हिन्दी कविता को स्थापित करने की कोशिश की। खत्री जी द्वारा संपादित यह किताब उन्नीसवीं सदी के साहित्य की सर्वाधिक विवादास्पद किताब बनी।[१] यह सभंव नहीं है कि कोई जागरुक साहित्यकार खड़ी बोली पद्य आन्दोलन की शुरुआत करने वाले अयोध्या प्रसाद खत्री की भूमिका से बेखबर हो। बाबू श्यामसुंदर दास ने जनवरी १९०१ ई. में 'सरस्वती' में खड़ी बोली पद्य की जरुरत पर बल देते हुए लिखा- 'अभी तक लोगों का ध्यान हिन्दी पद्य की ओर बहुत कम हुआ है। हिन्दी पद्य से हमारा आशय उस पद्य से है जो आजकल की हिन्दी में लिखा हो और न कि प्राचीन ब्रजभाषा में, ब्रजभाषा की कविता चाहे मधुर हो पर यह बात हिन्दी भाषा के लिए बड़ी निंदा की है और उसके एक बड़े भारी अभाव को दिखाती है कि गद्य तो एक प्रकार की भाषा, जो उन्नीसवीं सदी में उत्पन्न हो संपन्न हुई, लिखा जाय और पद्य पुरानी भाषा में।" कहने की जरुरत नहीं कि बाबू श्यामसुंदर दास ने उन्हीं बातों को दुहराया है जिसे खत्री जी काफी पहले कह चुके थे। श्यामसुंदर दास की बात से लगता है

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

कि इनके पहले किसी ने हिन्दी कविता के लिए कोई कोशिश नहीं की है। अपने लेख में श्यामसुंदर दास ने न तो 'खड़ी बोली का पद्य' की चर्चा की है, न अयोध्या प्रसाद खत्री की।'

बाबू श्यामसुंदर दास ने अयोध्या प्रसाद खत्री की भूमिका को कभी स्वीकार नहीं किया। 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' की स्थापना के बाद श्यामसुंदर दास इसके मंत्री बनाये गये। इसके गृह-प्रवेश के समय पंडित सुधाकर द्विवेदी ने सर डिग्गस लाटूश का स्वागत 'धनि भाग आज या भवन में नाथ तिहारे पग पड़ै' कहकर स्वागत किया। इसके बाद पंडित मदन मोहन मालवीय ने अंग्रेजी में भाषण दिया। मालवीय जी ने इस भाषण में सर डिग्गस लाटूश को 'गच्छ गच्छ सुरश्रेष्ठ' कहा था। चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' ने खत्री के निधन के बाद 'बाबू अयोध्या प्रसाद के संस्मरण' समालोचक (अगस्त १९०५ ई.) में लिखा। इसमें गुलेरी जी ने विस्तारपूर्वक कई पहलुओं का उल्लेख किया।[२] गृहप्रवेश के मौके पर अयोध्या प्रसाद खत्री भी उपस्थित थे। दूसरे दिन, बातचीत के दौरान खत्री जी ने गुलेरी जी से कहा कि "एड्रेस गंवारी बोली में क्यों दिया गया, यदि वह खड़ी बोली में होता तो हम मुसलमानों को भी अनुकूल कर सकते।" आगे खत्री जी ने कहा कि "जब तक यह गंवारी हमारे सभ्य साहित्य का पल्ला न छोड़ेगी तब तक इसकी उन्नति न होगी।" खत्री जी की बात लिखने के बाद चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' ने लिखा है कि "बाबू साहेब को उन कठिनाइयों का ज्ञान न था जो खड़ी बोली में एड्रेस देने पर भाषा को पड़ती, क्योंकि सबके सामने पॉलिसी में 'सरल भाषा के पक्षपाती' बनने वालों को निखालिस उर्दू शब्द काम में लेने पड़ते और काशी के नाम को कुछ गौरव से रहित करना पड़ता।"[३]

चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' के लिखे संस्मरण से दो महत्त्वपूर्ण बातों का पता चलता है- एक, सार्वजनिक जीवन के हरेक पहलू से अयोध्या प्रसाद खत्री ब्रजभाषा को बेदखल करना चाहते थे। इसके जरिए वे मुसलमानों को भी करीब लाना चाहते थे। हिन्दी उर्दू को एक-दूसरे के निकट लाना चाहते थे। दो, अयोध्या प्रसाद खत्री की जो चिंता थी, वह 'नागरी प्रचारिणी सभा' वालों की चिंता नहीं थी। खत्री जी खड़ी बोली का प्रयोग करके मुसलमानों को साथ लेना चाहते थे जबकि 'नागरी प्रचारिणी सभा' वाले मुसलमानों और उर्दू से बचना चाहते थे। सरकार के समक्ष, सैद्धांतिक तौर पर 'नागरी प्रचारिणी सभा' सरल भाषा का पक्ष लेती थी; जबकि व्यवहार में सरल हिन्दी का प्रयोग इसलिए नहीं करती थी कि उर्दू शब्दों का भी प्रयोग करना पड़ेगा। काशी जैसी पवित्र जगह में नागरी जैसी पवित्र भाषा यावनी शब्द (उर्दू) के प्रयोगमात्र से अपवित्र जो हो जाती! बाबू श्यामसुंदर दास, यहाँ राधाचरण गोस्वामी और प्रतापनारायण मिश्र की कतार में खड़े दिखते हैं। 'भारतेन्दु मंडल' की भाषा नीति से 'नागरी प्रचारिणी सभा' की भाषा-नीति मिलती-जुलती है। दोनों उर्दू-फारसी से अपनी नागरी को बचाना चाहते थे। अंतर इतना ही है कि भारतेन्दु मंडल के साहित्यकार खड़ीबोली कविता का विरोध कर रहे थे। नागरी प्रचारिणी सभा वाले इसका विरोध नहीं करते थे। दरअसल, यह अयोध्या प्रसाद खत्री के आन्दोलन का प्रभाव था, जिससे सबको खड़ी बोली-कविता की ऐतिहासिक जरुरत का अहसास हो गया था। लेकिन श्यामसुंदर दास जैसे लोग इसका वाजिब श्रेय खत्री जी को देना नहीं चाहते थे।

मार्च १९०१ ई. में 'नागरी प्रचारिणी सभा' ने खड़ी बोली कविता को महारानी विक्टोरिया के राज्य-काल की एक बड़ी घटना कहा। इस आलेख में खड़ीबोली आन्दोलन का विस्तृत विवेचन किया गया। फिर भी इसमें अयोध्या प्रसाद खत्री की भूमिका की कोई चर्चा नहीं की गई। खत्री जी के आन्दोलन के प्रखर समर्थक श्रीधर पाठक की भूमिका का जिक्र करके पत्रिका ने अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ ली। अयोध्या प्रसाद खत्री को नागरी प्रचारिणी पत्रिका का यह रवैया बुरा लगा। इसका इजहार करते हुए इन्होंने श्रीधर पाठक को एक पत्र लिखा। पत्र में इसकी वजह बताते हुए खत्री जी ने कहा- "सभा वालों ने खड़ी बोली कविता में आपको सम्मानपूर्वक आसन दिया है परंतु जहाँ आप हैं वहीं आपका सेवक मैं भी हूँ। परन्तु

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

मेरा नाम नहीं लिखा गया। इसका कारण यह है कि मैंने तो 'एक अगरवाले के मत पर एक खत्री की समालोचना' लिखी थी और आपने 'हरिश्चन्द्राष्टक' की १००० प्रति बांटी थी।''[४] नागरी प्रचारिणी पत्रिका का रवैया खत्री जी को बुरा लगना स्वाभाविक था। इन्होंने अपने खर्च से 'खड़ी बोली का पद्य' छपवाकर बंटवाया था। खड़ी बोली में कविता रचने के लिए इनाम की घोषणा की थी फिर भी 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' में इनके नाम का जिक्र करना भी वाजिब नहीं समझा गया। खत्री जी के आन्दोलन के दौरान खड़ी बोली कविता के महत्ता पर सवाल उठाए गए और जब इसकी अहमियत सिद्ध हो गई, इस आन्दोलन का श्रेय खत्री जी को नहीं देने की मुहिम शुरु हुई। इस मुहिम की शुरुआत बाबू श्यामसुंदर दास ने जनवरी १९०१ ई. के 'सरस्वती' से की जो काफी बाद तक चलती रही। बाद के ज्यादातर विद्वानों ने या तो इसके आंदोलन एवं इसकी भूमिका पर व्यंग्य किया या इनके महत्त्व को कम करके आंका।

अयोध्या प्रसाद खत्री और श्रीधर पाठक 'खड़ी बोली पद्य-आन्दोलन' के साथ-साथ सक्रिय थे। फिर श्रीधर पाठक की भूमिका को स्वीकार करने वाले खत्री जी की उपेक्षा क्यों करते थे? वास्तव में खत्री जी ने ही इसे आन्दोलन का रूप दिया था। वे इस आन्दोलन के नेता भी थे। उनकी उपेक्षा के कई कारण हैं। एक, अयोध्या प्रसाद खत्री हिन्दी-उर्दू को एक करने की कोशिश कर रहे थे। श्रीधर पाठक ऐसा नहीं कर रहे थे। खत्री जी जिस 'मुंशी हिन्दी' को आदर्श हिन्दी कहते थे, उसमें उर्दू-फारसी शब्दों से परहेज नहीं था। बल्कि ऐसे आमफहम शब्दों का प्रयोग निहायत जरुरी था। ऐसे शब्दों के प्रयोग से तत्कालीन साहित्यकारों की धार्मिक भावनाएँ आहत होती थीं। वे लोग इन शब्दों से बचने की पूरी कोशिश करते थे। श्रीधर पाठक संस्कृतनिष्ठ हिन्दी लिखते थे, इसी की सिफारिश करते थे। ऐसे में, श्रीधर पाठक की भाषा-नीति से इन्हें परेशानी नहीं थी। दो, अयोध्या प्रसाद खत्री ब्रजभाषा को 'गंवारी बोली' कहते थे। ब्रजभाषा की कविता को हिन्दी कविता मानने से इंकार करते थे, खड़ी बोली हिन्दी कविता को ब्रजभाषा की परंपरा से जोड़ने का विरोध करते थे। इसके साथ खड़ी बोली उर्दू कविता की विरासत से खड़ी बोली हिन्दी कविता को जोड़ने पर बल देते थे। जबकि श्रीधर पाठक खड़ी बोली हिन्दी कविता के साथ-साथ ब्रजभाषा में कविता करते थे। पाठक जी ब्रजभाषा को न तो 'गंवारी भाषा' मानते थे, न ही इसे खड़ीबोली कविता की विरासत मानने से इंकार करते थे। तीन, तत्कालीन साहित्यकारों के पूज्य भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के प्रति अयोध्या प्रसाद खत्री भक्ति-भाव नहीं रखते थे। बल्कि उनकी तीखी आलोचना करने से भी नहीं कतराते थे। श्रीधर पाठक भारतेन्दु के प्रति भक्ति भाव रखते थे। भारतेन्दु के निधन के बाद पाठक जी ने 'हरिश्चन्द्राष्टक' की एक हजार प्रतियां छपवाकर बांटी थी। इस लिहाज से भी वे इनके कोपभाजन नहीं थे। श्रीधर पाठक ने खड़ी बोली में जितनी कविताएं लिखी हैं, सब संस्कृतनिष्ठ हिन्दी (जिसे खत्री जी 'पंडित हिन्दी' कहते थे) में लिखी गई है। श्रीधर पाठक ने भारतेन्दु की मृत्यु के बाद 'हरिश्चन्द्राष्टक' कविता लिखी इसकी भाषा तो हिन्दी लगती ही नहीं है। इसमें हिन्दी और संस्कृत का कोई भेद नहीं दिखता है। ऐसी भाषा-नीति वाले पाठक जी तत्कालीन विद्वानों के लिए असहज नहीं थे।

सन १९०२ ई. में पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी 'सरस्वती' के संपादक बन गए। सितंबर १९०२ ई. में 'सरस्वती' में 'खड़ी बोली का पद्य' शीर्षक से एक कार्टून छपा हैं, इसमें एक पुरुष का चित्र है, जिसके पांच सिर हैं। उसके साथ छपा है- मुंशी शैली, मौलवी शैली, पंडित शैली, यूरेशियन शैली, यूरोपियन शैली। चित्र के नीचे महावीर प्रसाद द्विवेदी रचित दोहा छपा है- ''दो पैरों पर एक धड़, फिर सिर पांच अनूप। मुझ पंचरंगे पद्य का, देखो सुधर स्वरुप।''

द्विवेदी जी ने अयोध्या प्रसाद खत्री द्वारा किए गए खड़ीबोली हिन्दी के बँटवारे पर व्यंग्य किया है। हालांकि द्विवेदी जी पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने अयोध्या प्रसाद खत्री की भूमिका को भी रेखांकित किया। 'सरस्वती (फरवरी- मार्च १९०३ ई.) के संपादकीय में इन्होंने लिखा कि ''कुछ दिनों से हिन्दी के लेखकों का ध्यान पद्य की भाषा की ओर गया है। अब तक

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

हिन्दी का पद्य ब्रजभाषा में ही था। अब बोलचाल की भाषा में भी कविता होने लगी है। इस विषय की ओर पहले पहल बाबू अयोध्या प्रसाद खत्री जी का ध्यान गया। बोलचाल की भाषा में कविता अवश्य होनी चाहिए। कोई कारण नहीं देख पड़ता कि हम लोग बोलें तो एक भाषा और कविता करें दूसरी भाषा में।''

हिन्दी साहित्य के पहले व्यवस्थित इतिहासकार आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'आधुनिक काल' पर विचार करते वक्त लिखा है- ''रीतिकाल के भीतर हम दिखा चुके हैं कि किस प्रकार रसों और अलंकारों के उदाहरणों के रुप में रचना होने से और कुछ छंदों की परिपाटी बंध जाने से हिन्दी कविता जकड़-सी उठी थी। हरिश्चन्द्र के सहयोगियों में काव्यधारा को नये-नये विषयों की ओर मोड़ने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ी, पर भाषा ब्रज ही रहने दी गई और पद्य के ढांचों, अभिव्यंजना के ढंग तथ्य प्रकृति के स्वरुप निरीक्षण आदि में स्वच्छंदता के दर्शन न हुए।''[५]

शुक्ल जी ने अपनी स्थापना को दुहराते हुए आगे लिखा है कि- ''कुछ नूतन भावनाओं के समावेश के अतिरिक्त काव्य की परंपरा पद्धति में किसी प्रकार का परिवर्तन भारतेन्दु काल में न हुआ। भाषा ब्रजभाषा ही रहने दी गई और उसकी अभिव्यंजना-शक्ति का कुछ विशेष प्रसार न हुआ।''[६] आचार्य शुक्ल ने सही लिखा है कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के सहयोगियों ने काव्यधारा को नये-नये विषयों की ओर मोड़ने की कोशिश की। साथ ही ब्रजभाषा के साथ भाषा के स्तर पर कोई छेड़छाड़ नहीं की। इस प्रकार भाषा के स्तर पर साहित्य मध्यकालीन रहा। खड़ी बोली की ऐतिहासिक जरुरत को गद्य के स्तर पर भारतेन्दु मंडल के साहित्यकार समझ रहे थे। पद्य के लिए इसकी महत्ता बगैर समझे, ब्रजभाषा पर जोर दे रहे थे। सवाल उठता है कि क्या आचार्य शुक्ल ने उन लोगों पर विचार किया है, उन्होंने खड़ी बोली को कविता की भाषा बनाने की कोशिश की ? आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अयोध्या प्रसाद खत्री के बारे में दो जगहों पर लिखा है। आधुनिक काल में गद्य के विकास पर विचार करते हुए शुक्ल जी ने लिखा है कि 'खड़ी बोली पद्य' का झंडा लेकर घूमने वाले स्वर्गीय बाबू अयोध्या प्रसाद खत्री चारों और घूम-घूमकर कहा करते थे कि अभी हिन्दी में कविता हुई कहाँ; सूर, तुलसी, बिहारी आदि ने जिसमें कविता की है वह तो 'भाखा' है 'हिन्दी' नहीं। संभव है इस सड़े गले ख्याल को लिये अब भी कुछ लोग पड़े हैं।''[७] यहाँ शुक्लजी ने इंशाअल्ला खां के जरिए कहा है कि मुसलमान संस्कृत मिश्रित खड़ी बोली या ब्रजभाषा को 'भाखा' कहते थे। मुसलमानों के 'भाखा' प्रयोग के आधार पर शुक्ल जी ने खत्री जी को खारिज किया है। गौरतलब है कि खत्री जी मुसलमानों के प्रयोग के अर्थ में 'भाखा' को उपयोग नहीं करते थे। वे ब्रजभाषा के लिए 'गँवारी बोली' या 'भाखा' का प्रयोग करते थे। इस लिहाज से खत्री जी की बात सच है। हिन्दी साहित्य के इतिहास के दायरे में भले ही सूर, तुलसी, बिहारी की रचनाएँ शामिल कर ली जाती है, क्या वास्तव में इनकी रचनाएँ हिन्दी की रचनाएँ हैं ? खड़ीबोली के लिए साहित्यिक रूप-उर्दू की रचनाओं को हिन्दी की रचना के तौर पर स्वीकार नहीं किया जाता है। इस स्थिति में यह सवाल और भी महत्त्वपूर्ण है।

आचार्य शुक्ल ने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में अयोध्या प्रसाद खत्री ने 'खड़ीबोली पद्य-आन्दोलन' की भावनाओं को समझने की कोशिश नहीं की। इन्होंने खत्री जी के प्रति व्यंग्य किया। 'मुजफ्फरपुर के बाबू अयोध्या प्रसाद खत्री खड़ी बोली का झंडा लेकर उठे। संवत् १९४५ में उन्होंने 'खड़ी बोली आंदोलन' की एक पुस्तक छपाई, जिसमें उन्होंने बड़े जोर-शोर से यह राय जाहिर की (कि) अब तक जो कविता हुई, वह तो ब्रजभाषा की थी, हिन्दी की नहीं। हिन्दी में भी कविता हो सकती है। वे भाषा-तत्त्व के जानकार न थे। उनकी समझ में खड़ी बोली ही हिन्दी थी। अपनी पुस्तक में उन्होंने खड़ीबोली पद्य की पाँच स्टाइलें कायम की थीं- जैसे-मौलवी स्टाइल, मुंशी स्टाइल, पंडिल स्टाइल, मास्टर स्टाइल। उनकी पोथी में और पद्यों के साथ पाठक जी का 'एकांतवासी योगी' भी दर्ज हुआ। और कई-कई लोगों से भी अनुरोध करके उन्होंने खड़ी बोली की कविताएँ लिखाई। चंपारण के प्रसिद्ध विद्वान और वैद्य पं. चन्द्रशेखरधर मिश्र, जो भारतेन्दु जी के

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

मित्रों में से थे, संस्कृत के अतिरिक्त हिन्दी में भी बड़ी सुन्दर और आशु कविता करते थे। मैं समझता हूँ कि हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल में संस्कृत वृत्तों में खड़ीबोली के कुछ पद्य पहले पहल मिश्र जी ने ही लिखे। बाबू अयोध्या प्रसाद खत्री जी उनके पास भी पहुंचे और कहने लगे- 'लोग कहते हैं कि खड़ीबोली में अच्छी कविता नहीं हो सकती। क्या आप भी यही कहते हैं ? यदि नही तो मेरी सहायता कीजिए।' उक्त पंडित जी ने कुछ कविता लिखकर उन्हें दी, जिसे उन्होंने अपनी पोथी में शामिल किया। इसी प्रकार खड़ी बोली के पक्ष में जो राय मिलती, वह भी उसी पोथी में दर्ज होती जाती थी। धीरे-धीरे एक बड़ा पोथा हो गया, जिसे बगल में दबाए वे जहाँ कहीं हिन्दी के संबंध में सभा होती, जा पहुँचते। यदि बोलने का अवसर न मिलता या कम मिला तो वे बिगड़कर चल देते थे।''[८]

अयोध्या प्रसाद खत्री जी का मूल्यांकन शुक्ल जी ने इन्हीं पंक्तियों में किया है। शुक्ल जी ने खत्री जी के संदर्भ में गलत तथ्यों का उल्लेख किया है। अयोध्या प्रसाद खत्री ने १८८७ ई. में 'खड़ी बोली का पद्य' भाग एक और दो छपवाया था। शुक्ल जी ने १८८८ ई. में जिस साल का जिक्र किया है, उस साल उक्त किताबें नहीं छपी थीं। शुक्ल जी ने लिखा है कि खत्री जी ने खड़ी बोली पद्य की पाँच स्टाइलें कायम की। यह सच है। लेकिन शुक्ल जी ने उदाहरण के तौर पर सिर्फ चार स्टाइलों का उल्लेख किया है। इन चार स्टाइलों में तीन स्टाइल के नाम सही है जबकि एक का नाम बिल्कुल गलत लिखा है। खत्री जी ने 'मास्टर स्टाइल' जैसा कुछ नहीं कहा था। खत्री जी की पांच स्टाइलें हैं- ठेठ हिन्दी, पंडित स्टाइल, मुंशी स्टाइल, मौलवी स्टाइल और यूरेशियन स्टाइल। खत्री जी मानते थे कि जबकि हिन्दी में कविता नहीं हुई है ब्रजभाषा की कविता को हिन्दी की कविता मानना ठीक नहीं है। शुक्ल जी ने इस मान्यता के आधार पर खत्री के बारे में लिखा है कि- 'वे भाषा-तत्त्व के जानकार न थे।' भाषा-तत्त्व के आधार पर खत्री जी की मान्यता सही है। शुक्ल जी, खत्री जी की सही मान्यता को गलत बता रहे हैं। हिन्दी के साहित्येतिहासकार ने शुक्ल जी की मान्यता को आधार बनाकर खत्री जी का मूल्यांकन करते रहे, जो सरासर गलत है।

'कुछ नूतन भावनाओं के समावेश के अतिरिक्त काव्य की परंपरागत पद्धति में किसी प्रकार का परिवर्तन भारतेंदु काल में न हुआ। भाषा ब्रजभाषा ही रहने दी गई।' अपनी इस मान्यता का सही विकास शुक्ल जी ने नहीं किया। इन्होंने जिस काल-खंड को (१८५०-१९००) के साहित्य पर विचार के दौरान अयोध्या प्रसाद खत्री का आन्दोलन अपेक्षित रह जाए ? क्या खत्री का आन्दोलन इतना कमजोर था, जिस पर ध्यान न दिया जाए ? डॉ. रामविलास शर्मा ने 'भारतेन्दु युग और हिन्दी भाषा का विकास-परंपरा' में इस कालखंड पर विचार किया है। डॉ. शर्मा की यह किताब १९६२ ई. में 'भारतेन्दु युग' नाम से छपी थी। कुछ निबंधों को जोड़ने के बाद इन्होंने इसका नाम 'भारतेन्दु युग और हिन्दी भाषा की विकास-परंपरा' रखा। इस किताब के एक अध्याय 'खड़ी बोली और ब्रजभाषा' में शर्मा जी ने ब्रजभाषा बनाम खड़ी बोली विवाद पर विचार किया है। इस निबंध में रामविलास जी ने एक जगह खत्री जी का जिक्र किया है। 'खड़ी बोली का पक्ष करने वाले नये लोग थे जिनमें श्रीधर पाठक और अयोध्या प्रसाद खत्री मुख्य थे।''[९] डॉ. रामविलास शर्मा ने न तो 'खड़ी बोली का पद्य' किताब की चर्चा की, न इसके बाद होने वाले आन्दोलन की। रामविलास जी ने 'महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण' के एक अध्याय 'साहित्य समालोचना और रीतिवाद-विरोधी अभियान' के एक हिस्से में ब्रजभाषा खड़ी बोली के संदर्भ में विचार किया है। खड़ी बोली कविता को स्थापित करने की जो लोग कोशिश कर रहे थे, डॉ. शर्मा ने उसका जिक्र करना भी उचित नहीं समझा। इसकी वजह क्या है कि रामविलास जी अयोध्या प्रसाद खत्री और इनकी संपादित किताब 'खड़ी बोली का पद्य' की चर्चा नहीं करते हैं ? दरअसल डॉ. रामविलास शर्मा ने तथाकथित 'हिन्दी नवजागरण' की जो भव्य रूप-रेखा खींची है, (जिसका तर्कसंगत नाम, डॉ. वीरभारत तलवार ने 'हिन्दी आन्दोलन' प्रस्तावित किया है।) खड़ी बोली पद्य

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

आन्दोलन के विरोधी इसके नायक हैं। खत्री और इनके आन्दोलन की विस्तृत चर्चा करने से रामविलास जी के नायकों के नायकत्व पर सवाल खड़ा होना स्वाभाविक है। अपने नायकों के कार्य को बढ़ा-चढ़ा कर बताने के लिए डॉ. शर्मा अयोध्या प्रसाद खत्री की भूमिका को रेखांकित नहीं करते हैं।

भारतेन्दु काल में रामविलास तथाकथित 'हिन्दी-नवजागरण' का दूसरा चरण घटित होता देखते हैं। इस चरण में खड़ी बोली हिन्दी गद्य का विकास होता है, रामविलास जी ने इसे खूब सराहा है। भारतेन्दु मंडल के लेखकों को इसका श्रेय दिया है। इसके साथ सवाल उठता है कि खड़ी बोली पद्य के विकास को भी तथाकथित 'हिन्दी नवजागरण' की कसौटी बनाया जाना चाहिए। इस कसौटी पर भारतेन्दु मंडल के लेखक बौने साबित होंगे- क्या रामविलास जी को इसका पता नहीं है। क्या इन्हीं वजहों से डॉ. शर्मा अयोध्या प्रसाद खत्री और खड़ी बोली पद्य-आन्दोलन की विस्तारपूर्वक चर्चा नही करते हैं। खड़ी बोली कविता की ऐतिहासिक जरुरत को स्वीकारते हुए विस्तारपूर्वक इसकी चर्चा द्विवेदी-काल के संदर्भ में करते हैं क्योंकि इस काल में खड़ी बोली कविता को स्थापित करने का श्रेय उनके दूसरे नायक आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी को जो मिलना था।

अयोध्या प्रसाद खत्री ने खड़ी बोली पद्य आन्दोलन की शुरुआत की थी। ''भारतेन्दु मंडल' के लेखकों ने इसके लिए खत्री जी की कटु आलोचना की। श्रीधर पाठक, भुवनेश्वर मिश्र, अम्बिकादत्त व्यास, पंडित चन्द्रशेखरधर मिश्र इस आन्दोलन के मुखर समर्थक थे। इस आन्दोलन का पूरा श्रेय अयोध्या प्रसाद खत्री को देते हुए श्रीधर पाठक ने उन्हें एक खत लिखा।

"As regards your agitation for poetry in खड़ी बोली I was a boy in school in 1877 and knew nothing of what was being done in regard to हिन्दी or खड़ी बोली I All credit however due to you for the agitation.[10]

यह कैसी विडंबना है, जिस श्रीधर पाठक ने अयोध्या पाठक खत्री को उनके जीवन काल में, खड़ी बोली पद्य आन्दोलन का पूरा श्रेय दिया और खत्री जी के पक्ष में, 'खड़ी बोली का पद्य' का विरोध करने वाले साहित्यकारों का मुखर विरोध किया, उन्हीं श्रीधर पाठक ने द्विवेदी युग में खत्री जी के अवदानों की उपेक्षा करने पर एकबार भी मुँह नहीं खोला। इस मौके पर श्रीधर पाठक ने 'खड़ी बोली की कविता' शीर्षक आलेख पढ़ा। इस आलेख में, इन्होंने खड़ी बोली कविता के महत्त्व पर प्रकाश डाला। खड़ी बोली पद्य को भारतवासीमात्र के स्वत्व और अभिमान का अधिकारी बनाने के प्रति अपनी आशा और आस्था व्यक्त की। लेकिन इस आलेख में अयोध्या प्रसाद खत्री की ऐतिहासिक भूमिका का जिक्र तक नहीं किया।"[११]

अयोध्या प्रसाद खत्री का ऐतिहासिक महत्त्व सिर्फ खड़ी बोली हिन्दी कविता के लिए आन्दोलन की शुरुआत करने के कारण नहीं है। बल्कि इतिहास के उस दौर में हिन्दी भाषा को हिन्दी धर्म और उर्दू भाषा को मुसलमान धर्म की भाषा मानकर पनपने वाली अलगाववादी प्रवृत्तियों का प्रतिकार करने के कारण भी है। खत्री जी हिन्दी और उर्दू को दो अलग भाषा मानने इंकार करते थे। वह इसे दो शैलियां मानते थे। खत्री जी ने मुंशी हिन्दी की सिफारिश की। काफी बाद में महात्मा गांधी ने जिसे 'हिन्दुस्तानी भाषा' कहा वह खत्री जी की 'मुंशी हिन्दी' का ही प्रतिरूप है। महात्मा गांधी आजादी की लड़ाई के दौर में उर्दू-हिन्दी को करीब लाने के लिए 'हिन्दुस्तानी' की सिफारिश कर रहे थे। खत्री जी ने गांधी जी से काफी पहले इस संकट को भांपकर ऐसा सुझाव दिया था। अगर खत्री जी की मांग को तत्कालीन साहित्यकारों ने स्वीकार कर लिया होता तो बाद में यह समस्या इतना विकराल रूप धारण नहीं करती।

इतिहास के उस दौर में हिन्दी के बड़े साहित्यकार ब्रजभाषा की सीमा का अतिक्रमण करने का साहस नही कर पा रहे थे। अयोध्या प्रसाद खत्री ने खड़ी बोली हिन्दी कविता की ऐतिहासिक जरुरत को समझते हुए उसके आन्दोलन पर बल

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

दिया। अयोध्या प्रसाद खत्री स्कूल शिक्षक थे। बच्चों को पढ़ाने के दौरान, उन्हें यह बोध हुआ कि स्कूल में गद्य खड़ी बोली में और पद्य ब्रजभाषा, अवधी आदि लोक-भाषाओं में पढ़ाया जाना उचित नहीं है, बिहार में हिन्दी के समर्थक भूदेव मुखोपाध्याय ने खत्री जी की चिंता को सही बताया था। भूदेव मुखोपाध्याय, महेश नारायण सरीखे लोगों के नैतिक समर्थन ने खत्री जी को इस आन्दोलन के लिए प्रेरित किया। अयोध्या प्रसाद खत्री की वर्ग-स्थिति को देखकर उनका आन्दोलन और भी महत्वपूर्ण प्रतीत होता है। खत्री जी ने जब 'खड़ी बोली का पद्य' अपने खर्च से छपवाकर लोगों में निःशुल्क बाँटना शुरु किया, उस समय वे पेशकार की नौकरी कर रहे थे। अपनी छोटी तनख्वाह के बावजूद अंत तक बगैर किसी बाहरी मदद के खत्री जी ने इस आन्दोलन को जारी रखा। पश्चिमोत्तर प्रांत के जिन साहित्यकारों ने 'खड़ी बोली का पद्य' का विरोध किया, उनकी आर्थिक स्थिति एवं सामाजिक हैसियत अयोध्या प्रसाद खत्री की तुलना में काफी बेहतर थी। साहित्यिक दुनिया में उनका काफी नाम था। उन लोगों की तूती बोलती थी। खत्री जी इन चीजों से बेपरवाह अपने मकसद के लिए प्रयास करते रहे। खत्री जी ने 'खड़ी बोली का पद्य' छपवाकर हिन्दी कविता की भाषा के प्रचलित मानदंड को चुनौती दी। हिन्दी साहित्य में अगले तीस सालों तक हिन्दी कविता की भाषा को लेकर बहस होती रही। अंत में, खड़ी बोली हिन्दी, कविता की भाषा बनी। खत्री जी के प्रस्ताव को लम्बे विवाद के बाद स्वीकृति मिली। छायावाद आते-आते खड़ी बोली मुख्याधारा में आ गई और ब्रजभाषा हाशिए पर चली गई।

ब्रजरत्नदास ने लिखा है कि ''यद्यपि भारतेन्दु जी के काल में यह प्रश्न उठा था कि गद्य तथा पद्य की भाषा एक ही होनी चाहिए। उस समय के प्रमुख साहित्यकारों ने यही निश्चय किया कि पद्य में खड़ी बोली के उपयोग से सरसता नहीं आती और उर्दू शब्दों की भरमार हो जाने से हिन्दी पद पर अभाव-सा हो जाता है। भारतेन्दु काल के अनन्तर खड़ी बोली का आन्दोलन ही उठ खड़ा हुआ, जिसमें बाबू अयोध्या प्रसाद खत्री ने विशेष भाग लिया।''[१२]

ब्रजरत्नदास ने यह नहीं बताया है कि खड़ी बोली आन्दोलन का आरंभ अयोध्या प्रसाद खत्री की संपादित किताब 'खड़ी बोली का पद्य से हुआ। खड़ी बोली में कविता पहले भी कुछ लोगों ने लिखी थी। इसकी आवश्यकता महसूस की जा रही थी। लेकिन इस आवश्यकता को आन्दोलन का रूप अयोध्या प्रसाद खत्री ने दिया। हिन्दी आलोचना में अयोध्या प्रसाद खत्री को उनके सकारात्मक काम का वाजिब श्रेय नहीं मिलना हिन्दी आलोचना की संकीर्णता और सीमाओं को उजागर करता है। खत्री जी के जीवनीकार उमाशंकर ने इनके ऐतिहासिक महत्व को समझते हुइ सिफारिश की है। ''सन् १८८५ से १९०३ ई. का जो समय है वह समय खत्री जी का है। उस युग को हम 'खत्री युग' कह सकते है।''[१३] १८८५ में भारतेन्दु हरिश्चंद्र का निधन हुआ। १८८५ से १९२० तक हिन्दी साहित्य में बहस का एक मुख्य मुद्दा ब्रजभाषा बनाम हिन्दी खड़ी बोली रहा। यह सच है कि १९०३ ई. के बाद महावीर प्रसाद द्विवेदी ने खड़ीबोली के पक्ष में मोर्चा संभाला। द्विवेदी जी को इसका वाजिब श्रेय मिल गया लेकिन खत्री जी को आज तक इसका श्रेय नहीं मिल सका है। सुविधा की दृष्टि से १९०० से १९२० के काल-खंड को 'द्विवेदी युग' के नाम से जाना जाता है। ऐसे में १८८५ से १९०० तक कालखंड अयोध्या प्रसाद खत्री के नाम से 'खत्री युग' के तौर पर जाना जाना चाहिए। ऐसा करने में हम खत्री जी के साहित्यिक आन्दोलन को उचित सम्मान दे पायेंगे। हिन्दी साहित्य के विद्वानों को इस संदर्भ में विचार करना चाहिए।

संदर्भ-संकेत

1) राजीव रंजन गिरि, उन्नीसवीं सदी में ब्रजभाषा बनाम खड़ी बोली विवाद (आलेख) तद्भव, अंक-14, अप्रैल-2006

2) (संपादक) विश्वनाथ त्रिपाठी, चंद्रधर शर्मा 'गुलेरी' प्रतिनिधि संकलन, नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली, संस्करण-1997 पृ. 145

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

3) वही, पृ. 138-139

4) वही, पृ.143

5) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, लोक भारती प्रकाशन, संस्करण-2002, पृ. 412

6) वही, पृ. 439

7) वही, पृ. 287

8) वही, पृ. 409

9) डॉ. रामविलास शर्मा, भारतेन्दु युग और हिन्दी भाषा की विकास परंपरा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-1975, पृ.118

10) अयोध्या प्रसाद खत्री स्मारक ग्रंथ, पृ. 97

11) अयोध्या प्रसाद खत्री (मानोग्राफ)- रामनिरंजन परिमलेन्दु, साहित्य अकादमी, दिल्ली-2003,पृ. 79

12) ब्रजरत्नदास, खड़ी बोली हिन्दी साहित्य का इतिहास, हिन्दी साहित्य कुटीर, बनारस, संस्करण-1952, पृ.180

13) उमाशंकर, खड़ी बोली कविता आन्दोलन के अगुआ स्वर्गीय अयोध्या प्रसाद खत्री, अयोध्या प्रसाद खत्री स्मृति विश्लेषण कार्यालय, मुजफ्फरपुर-1959, पृ. 41

हिन्दी विभाग

राजधानी कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

मो. 9868175601

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

भाषा विज्ञान का समाज भाषिक स्वरुप

● डॉ. जोराम यालाम नाबाम

भाषा और समाज का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध हैं। भाषाविहीन समाज की हम कल्पना भी नहीं कर सकते। यह स्थापित मान्यता है कि मनुष्य सामाजिक प्राणी हैं। प्रकृति ने मनुष्य को अन्य जीव-जंतुओं से अलग स्वरुप प्रदान किया है, उसमें भाषा की बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका है। मनुष्य ने अपने लिए यदि कोई महान खोज की है तो वह है भाषा। भाषा के तौर पर उसने स्वयं को अनमोल उपहार प्रदान किया है। सोचने समझने की अपनी क्षमता के कारण वह अपनी सोची हुई बात को भाषा के द्वारा अभिव्यक्त कर सकता है। पिछले कुछ वर्षों से भाषा और समाज के अन्तर-संबंधों पर बड़ी गंभीरता से विचार हुआ है। कई प्रकार के सिद्धांन सामने आये हैं जिनमें मत-भिन्नता अधिक है। लेकिन इन सब के बावजूद इतना तो तय है कि भाषा और समाज का सम्बन्ध बहुत व्यापक और सार्वभौम है। विभिन्न विदवानों ने अलग-अलग ढंग से भाषा के उद्देश्य को स्वीकार किया है- 'हिंदी का सामाजिक संदर्भ' में रविन्द्र नाथ श्रीवास्तव ने लिखा है कि एक सिद्धांत ने मानव मन की सृजनात्मक शक्ति का हवाला दे कर उसकी सहजता वृतियों के संदर्भ में सार्वभौम लक्षण को भाषा विज्ञान का उद्देश्य स्वीकार किया है, तब दूसरे ने मानव-आचरण के व्यापक संदर्भ में भाषा को सामाजिक संस्था के रुप में परिभाषित करने का प्रयत्न किया है। एक ने मानव-मन की अपनी विशिष्टताओं के संदर्भ में भाषा की मूल प्रकृति को समझने का प्रयास किया, तब दूसरे ने सामाजिक संबंधों के संदर्भ में मनुष्य-मनुष्य के बीच पायी जाने वाली सम्प्रेषण-व्यवस्था के रुप में भाषा की वास्तविकता को परखना चाहा। एक ने भाषा अध्ययन को मनोविज्ञान के दायरे में खींचना चाहा तो दूसरे ने उसे समाज-विज्ञान की सीमा के भीतर घेरना चाहा।

मनुष्य जो कुछ भी अभिव्यक्त करता है, वह अपने समाज से अर्जित करता है। जो कुछ भी वह कहता है, वह अपने समाज से अर्जित किये गए विचार होते हैं। विचार अन्य कारणों से भी बनते हैं, लेकिन उनमें समाज के भूमिका को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता। समाज के बीच व्यक्ति भाषा सीखता है और फिर अपने समाज को भी अभिव्यक्त करता है उस सीखी हुई भाषा के द्वारा। समाज की गतिविधियाँ भाषा के माध्यम से संचालित होती हैं। व्यक्ति जो कुछ भी बोलता है उसके आधार पर उसके समाज का अध्ययन किया जा सकता है। साहित्य की तरह भाषा में भी समाज और व्यक्ति की छवि दिखलाई पड़ती है। समाज और व्यक्ति दोनों मिल कर भाषा को नियंत्रित करते हैं। डॉ भोलानाथ तिवारी ने लिखा है वक्ता की बात सुन कर एक सीमा तक यह अनुमान लगाया जा सकता है कि किस सामाजिक स्तर का आदमी बोल रहा है! यह दो व्यक्तियों की बातचीत सुनकर दोनों के सामाजिक स्तर और आपसी सम्बन्धों आदि का अंदाजा लगाया जा सकता है।

भाषा और समाज दोनों एक-दूसरे के विकास में अहम भूमिका निभाते हैं। व्यक्ति जो कुछ भी बोलता है, वह उसके सामाजिक परिवेश से नियंत्रित होता है। इसका विपरीत भी सच है- स्वयम् भाषा भी समाज की संरचना को प्रभावित करती है। कई बार तो ऐसी समस्या उत्पन्न हो जाती है कि यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि किसी समाज को जानने के लिए भाषा साधन है अथवा भाषा के स्वरुप को ठीक से समझने के लिए सामाजिक व्यवस्था को साधन बनाना उचित है। जो

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

विद्वान भाषा का अध्ययन करते हैं वे लोग समाज को श्रोत मानते हैं। पारम्परिक मान्यताओं के अनुसार भी भाषा का ठीक ठीक अध्ययन उस भाषा-भाषी के सामाजिक संदर्भो की व्याख्या करने में समर्थ होता है। प्रत्येक भाषा में कुछ खास प्रकार के संबोधनों का प्रयोग होता है। ये संबोधन भी उस भाषा-भाषी के सामाजिक मूल्यों को किसी का नाम बोलने से पहले श्री/श्रीमती शब्द का प्रयोग करते हैं। इस शब्द का प्रयोग कर वक्ता उसके प्रति आदर तो व्यक्त करता ही है, उसके शुभ की भी कामना करता है। इस शब्द के प्रयोग मात्र से प्रयोगकर्ता की समाज की सामाजिक-सांस्कृतिक स्थिति का भी पता चलता है।

इसी प्रकार हिंदी के क्रियाओं के प्रयोग के आधार पर भी हम वक्ता और श्रोता के सामाजिक स्थिति का अध्ययन करते हैं। किसी क्रिया में एक वचन का प्रयोग या आदर सूचक बहुवचन का प्रयोग इस बात का परिचय देता है कि संबोधित वाला व्यक्ति जिससे बात कर रहा है, उसको आदर देना चाहता है या नहीं। एक वाक्य रचना में एक वचन का प्रयोग छोटों या बराबर वालों के लिए और बहुवचन का प्रयोग आदरणीय लोगों के लिए किया जाता है। कई बार व्याकरण की दृष्टि से होने पर भी तमाम वाक्यों को सामाजिक मान्यता प्राप्त नहीं है। व्याकरण अनुशासन शास्त्र है लेकिन कई बार सामाजिक मान्यताएँ व्याकरण पर भारी पड़ती हैं। भाषा की सामाजिक मान्यता इतनी प्रबल होती है कि वह दूसरी भाषा में प्रयुक्त वाक्यों को अपनी भाषा के अनुसार ढाल कर सुनना समझना और लिखना पसंद करती है- जैसे अंग्रेजी के शुद्ध अनुवाद- 'शेक्सपियर कहता है' की तर्ज पर कालिदास कहता है- इसे हिंदी के विद्वान स्वीकार नहीं कर पाते हैं। ये वाक्य भाषा की सामाजिक स्थिति के परिचायक हैं। तथ्यों द्वारा शुद्ध होने पर तथा व्याकरण के नियमानुसार होने पर भी यदि किसी वाक्य को सामाजिक मान्यता प्राप्त नहीं है, तो वह वाक्य स्वीकार्य नहीं होता। समाज भाषी समीक्षा का वह आयाम है जो समाज की भाषिक संरचना पर अवधान केन्द्रित करता है, उसका विश्लेषण करता है एवं सामाजिक संदर्भ में निर्णय देता है। किसी भी समाज में प्रयुक्त लिखित या अलिखित भाषा के माध्यम से सामाजिक स्तर एवं गतिविधियों का विश्लेषण इस पद्धति के आधार पर किया जा सकता है। प्रत्येक समाज अपने में स्वतंत्र होता है। उसकी अपनी मान्यताएँ होती हैं, जिनके कारण वह दूसरे समाज से भिन्न होता है। इसी वैविध्य के आधार पर समाज की संरचना निर्भर होती है। प्रत्येक समाज का अपना रहन-सहन होता है, रीति-रिवाज होती हैं, परम्पराएँ होती हैं, विश्वास होते हैं, जीवन-मूल्य होते हैं। धारणाएं होती हैं, रुचियाँ होती हैं तथा सामाजिक मान्यताएँ होती हैं। इन सभी का समन्वित रुप ही संस्कृति है। कुछ भाषा वैज्ञानिकों ने यह भी स्थापित करने का प्रयास किया है कि किसी भाषा-भाषी का अपने आस-पास के परिवेश के प्रति क्या दृष्टिकोण होगा, यह भी भाषा विशेष पर निर्भर करता है। इस आधार पर यह स्थापित किया जा सकता है कि भाषा कई बार परिवेश के द्वारा नियंत्रित न हो कर स्वयं परिवेश को नियंत्रित करती है।

समाज में विभिन्न प्रकार की व्यवस्थाएँ होती हैं। उनमें जीने वालों की आस्था के केंद्र भी बहुत तरह से होते हैं। आस्था केन्दों के प्रति प्रयुक्त शब्द और वाक्य भी उस समाज का अध्ययन करने में सहयोगी हैं। अलग-अलग भाषा-भाषी परिवार अपने समाज की आस्था के केन्द्रों के लिए अलग-अलग प्रकार के शब्दों का प्रयोग करता है। विभिन्न धर्मों के अनुयायियों द्वारा अपने धार्मिक स्थानों और ग्रन्थों के लिए कुछ पवित्र और चमत्कारिक शब्दों का प्रयोग किया जाता है। यह प्रयोग भी बहुत कुछ कहता है। एक ही धर्म का अनुयायी यदि अलग-अलग देशों में निवास करता है, तो ऐसी स्थिति में भी उसके आस्थापरक शब्दों में अंतर आता है। भारत में हिन्दू समाज में ज्योतिलिंग, शक्तिपीठ, सप्तनद, सप्तसिंधु, सप्तस्वर, सप्तधान्य जैसे शब्दों का प्रयोग किया जाता है। इसमें से तमाम शब्दों के साथ इतिहास, मिथ और कई प्रकार की सुर-असुर परम्पराओं का संगम है। इनका अध्ययन केवल समाज और भाषा के अध्ययन की मांग करता है, बल्कि संस्कृति के अध्ययन की भी मांग करता है। भाषा के साथ संस्कृतियों का सम्बन्ध नाभिनाल जुड़ा है। संकृति समाज सापेक्ष है और समाज संस्कृति

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

सापेक्ष। भाषा सांस्कृतिक प्रवाह में बनती बिगड़ती है। जिस भाषा समाज की संस्कृति जितनी पुरानी होती है, वहाँ अर्थ-परिवर्तन की दिशाएँ उसी के अनुरूप दिखाई पड़ती हैं; अर्थात देश एक दिन में नहीं हो जाता, हो जाने पर भी उसे समाज की मान्यता नहीं मिलती। इसके लिए उसे सैकड़ों या हजारों साल भी लग जाता है। समाज भाषिकी पर नए ढंग से विचार करने की प्रक्रिया पश्चिम में प्रारंभ हुयी। डॉ देवीशंकर द्विवेदी ने लिखा है- 'समाज भाषिक अवयवों के गठन तथा व्यवहार आदि की वस्तुनिष्ठ परीक्षा करने वाले विज्ञान का नाम भाषिकी है। इससे स्पष्ट है कि समाज भाषिकी सामाजिक संदर्भों में वैज्ञानिक अध्ययन है। इसमें सामाजिक भाषा, सामाजिक स्वरूप के प्रकाशन में आधार स्वरुप है।'

भाषा समाज को बहुत दूर तक अनुशासित करती है। समाज को संचालित करने में इसकी बहुत बड़ी भूमिका है। भाषा की समाज सापेक्षता पर विचार करते हुए प्रसिद्ध आचार्य देवेन्द्र नाथ शर्मा ने यह स्थापित किया है कि सामान्य शिष्टाचार से लेकर क्रांतिकारी परिवर्तन तक भाषा द्वारा संपन्न होता है। हिटलर की वाग्मिता ने जर्मनी के जनता में युद्धों का उन्माद भर दिया, जिसके कारण द्वितीय महायुद्ध हुआ। भाषा के द्वारा समाज की गतिविधि को बहुत दूर तक नियंत्रित किया जा सकता है, यह युद्ध या क्रांति के समय स्पष्ट हो जाता है। समाज विज्ञान और भाषा विज्ञान दोनों मानवजाति से सम्बद्ध हैं, अंतर यह है कि समाज विज्ञान का क्षेत्र अधिक व्यापक है, उसमें सामाजिक दृष्टि से मनुष्य के समस्त क्रिया-कलापों को, जिसमें भाषा भी है, विश्लेषण किया जाता है। भाषा विज्ञान केवल भाषा तक सीमित है। यह मुख्यत: मात्रा का है, अन्यथा दोनों समाज सापेक्ष हैं।

समाज भाषा विज्ञान ने यह स्थापित किया है कि मनुष्य केवल बोलने वाला प्राणी नहीं है, वह वार्तालाप करता है। जो कुछ भी बोलना है उसका प्रयोग समाज में होता है। इसलिए समाज भाषा विज्ञान में सम्प्रेषण बड़ा महत्वपूर्ण स्थान रखता है। इस दृष्टि से एक ही व्यक्ति की भाषा समाज के अलग-अलग लोगों से बात करते समय बदल जाती है। समाज वार्तालाप प्रयोजन को दृष्टि में रख कर होता है। समाज भाषा विज्ञान के सम्प्रेषण के लिए वार्तालाप और उनमें प्रयुक्त होने वाली शब्दावलियाँ बहुत महत्वपूर्ण हैं। जब हम बातचीत करते हैं, तो कई बार शब्दों की तुलना में शरीर की क्रियाएँ और मुख की भंगिमाएँ महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। शुद्ध भाषा विज्ञान केवल भाषा का विवेचना करता है- समाज भाषा विज्ञान की दृष्टि भंगिमाओं पर भी होती है। वक्ता की भंगिमा और उससे उच्चरित शब्दों में तालमेल न हों और श्रोता को भंगिमाओं का ज्ञान न हो तो सारी बातचीत निरर्थक सिद्ध हो सकती है। कई बार ऐसा भी होता है कि शब्दों के प्रयोग में बड़ी विनम्रता होती है लेकिन भाषेतर व्यवहार अलग होते हैं। इसलिए समाज भाषा विज्ञान भाषेतर व्यवहार के संकेतों की ओर भी ध्यान देता है। हम कह सकते हैं कि भाषा के द्वारा सम्प्रेषण तभी माना जायेगा, जब भाषा और भाषेतर व्यवहार में संतुलन हो।

भाषा विज्ञान में भाषा और बोली को लेकर विवाद बना रहता है। वस्तुत: बोलियाँ ही भाषा का रूप धारण कर लेती है। बहुत सी भाषाएँ कल तक बोली ही थीं। बोली को भाषा बनने के लिए कुछ शर्ते हैं- एक बार भाषा के भीतर विविधताएँ देखी जाती हैं। ये विविधताएँ भौगोलिक क्षेत्र का परिणाम होती हैं। कई बार भाषा के भेदवक्ता के सामाजिक स्तर और सामाजिक स्थिति के कारण भी दिखलाई पड़ता है। भारत के भीतर ही जो भाषाएँ बोली जाती हैं, उनमें भेद का कारण जहाँ भौगोलिक परिस्थितियाँ, सामाजिक स्तर भेद, लिंग भेद है, वही जाति भेद भी है। तात्पर्य यह है कि भाषा और बोली में जो अंतर है, उसके कारण वैज्ञानिक कम, समाज भाषा वैज्ञानिक अधिक है।

समाज भाषा विज्ञान में बोलियों का बहुत महत्व है। बोलियों के सम्प्रेषण की क्षमता बहुत ही प्रभावी होती है। यदि हम हिंदी के संदर्भ में बात करें तो देखते हैं कि हिंदी के कई अनमोल ग्रन्थ बोलियों में लिखे गए हैं। तुलसीदास का रामचरित मानस, जायसी की पद्मावत, विदयापति की पदावली, सूर का सूर सागर, कबीर का बीजक बोलियों की रचनाएँ हैं। इन ग्रन्थों

अरुण प्रभा

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

के अमर रचनाकारों ने अपनी परिवेश से शब्दों को उठा कर बड़े ही सटीक ढंग से अपनी कविता में प्रयुक्त किया है। समाज भाषा विज्ञान में सम्प्रेषण और वार्तालाप की बात की जाती है वह बोलियों में सहज ढंग से अभिव्यक्त होती है। बोलियाँ सांस्कृतिक संपदा का बखूबी वहन करती हैं।

शुद्ध भाषा विज्ञान की तुलना में समाज भाषा विज्ञान का क्षेत्र स्वभावत: बढ़ जाता है। भाषा विज्ञान सामान्य भाषा के विश्लेषण का विज्ञान है। भाषा विज्ञान जब विभिन्न संदर्भों में प्रयुक्त होने वाली शब्दावलियों, मुहावरों, गालियों, संबोधनों आदि का विश्लेषण करता है, तो वह सीमा के पार जा कर समाज भाषा विज्ञान के साथ जुड़ता है। यह सामाजिक सरंचना, सामाजिक सम्बन्ध, विवाह आदि को भी विश्लेषित करता है। इस क्षेत्र में कई पाश्चात्य विद्वानों ने सराहनीय काम किये जिनमें कुछ के नाम हैं- फिश्मैन, शुई, चाम्सकी, हडसन आदि।

समाज भाषा विज्ञान सम्प्रेषण व्यवस्था, भाषाई कोष, शाब्दिक घटना, भाषा प्रयोजन आदि के नियम को महत्वपूर्ण मानता है। शुद्ध भाषा विज्ञान और समाज भाषा विज्ञान के अंतर को निम्न प्रकार से स्पष्ट कर सकते हैं।

शुद्ध भाषा विज्ञान	**समाज भाषा विज्ञान**
१. भाषिक प्रतीक के रूप में भाषा अध्ययन	१. सामाजिक प्रतीक के रूप में भाषा अध्ययन
२. भाषिक अध्ययन का संदर्भ : सम्प्रेण	२. भाषिक अध्ययन का संदर्भ स्वयं भाषा है।
३. भाषा- अध्ययन का लक्ष्य : सम्पूर्ण भाषा।	३. भाषिक अध्ययन का लक्ष्य व्याकरण है
४. भाषा की महत्तम इकाई : शाब्दिक घटना।	४. भाषा की महत्तम इकाई : वाक्य।
५. भाषा की अभिविन्यास : वार्तालाप।	५. भाषा का अभिविन्यास : एकालाप
६. भाषा-व्यवहार की प्रकृति : भूमिका आधारित	६. भाषा व्यवहार की प्रकृति : नियम आधारित
७. रूप प्रकार्य युग्म में 'प्रकार्य' प्राधान्य।	७. रूप-प्रकार्य युग्म में 'रू प' प्राधान्य।

किसी भाषा-भाषी की भाषीय योग्यता और उसकी प्रयोजन दक्षता अलग-अलग होती है। प्रयोजन के अनुसार सम्बन्धित व्यक्ति की सम्प्रेषण दक्षता बढ़ जाती है। सम्प्रेषण क्षमता जो प्रयोजनों का कारण होती है, उसके आधार पर किसी व्यक्ति की भाषिक योग्यता का मूल्याँकन नहीं किया जा सकता। पुजारी अपने कर्मकाण्ड की भाषा में जो क्षमता प्रदर्शित करता है, वैसी ही क्षमता वह सर्वत्र प्रदर्शित नहीं कर सकता।

समाज भाषा विज्ञान व्यापक संदर्भों में समाज और भाषा का अध्ययन करता है। शुद्ध भाषा विज्ञान में जो छूट जाते हैं या जिसे अध्ययन का क्षेत्र नहीं बनाया जाता है, उन्हें भी समाज भाषा-विज्ञान अपने भीतर समेट लेता है। समाज को भाषा के माध्यम से जानने का यह सुंदर उपकरण की तरह है।

संदर्भ ग्रन्थ :

१. डॉ. आशा खरे, भोजपुरी मुहावरों का समाज भाषिकी अध्ययन

२. उदयनारायण तिवारी, भाषाशास्त्र की रुपरेखा, भारती भण्डार

३. देवेन्द्रनाथ शर्मा, राष्ट्रभाषा हिंदी : समस्याएं और समाधान, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।

असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी विभाग
राजीव गाँधी विश्वविद्यालय, रोनो हिल्स, दोइमुख
ईटानगर, अरुणाचल प्रदेश-791112

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

अरुणाचल प्रदेश के 'नोक्टे' जनजाति में नारी चेतना

● डॉ. दोन्चा तोंलुक

भारत अनेकता में एकता वाला देश है जहाँ पर विभिन्न राज्य अपनी-अपनी धार्मिकता, आर्थिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक सभ्यता व संस्कृति के लिए प्रसिद्ध है। यही भारत देश में पूर्वोत्तर राज्य का अपना क्षेत्र है। इसमें अरुणाचल प्रदेश, असम, मणिपुर, मेघालय, मिजोरम, नागालैण्ड, त्रिपुरा, सिक्किम आदि शामिल हैं।

इन्हीं पूर्वोत्तर राज्यों में अरुणाचल प्रदेश अपने प्राकृतिक सौंदर्य के लिए प्रसिद्ध है, क्योंकि अरुणाचल प्रदेश में ही सूर्य की पहली किरण पड़ती है, इसी कारण इससे अरुण का आँचल कहा जाता है। इसके साथ ऊतरी पूर्वी भारत में भी यह सबसे बड़ा राज्य है। यहाँ अनेक जिले हैं जैसे वेस्ट सियांग, तवांग, वेस्ट कामेंग, ईस्ट कामेंग, दिवांग वैली, लोअर सुबनसुरी, पापुमपारे, लोहित, तिरप, चागलांग, अपर सियांग, लोगदींग आदि। इसलिए अरुणाचल प्रदेश को 'छिपा हुआ स्वर्ग' या भारत का स्वर्ग कहा जाए तो भी इसमें कोई अतिश्योक्ति नहीं होगी।

अरुणाचल प्रदेश जो हिमालय से बिलकुल करीब है और इसका क्षेत्रफल ८३,७४३ वर्ग कि.मी. माना जाता है। यह ज्यादातर पहाड़ी इलाकों से घिरा हुआ है। यहाँ का प्राकृतिक वातावरण अत्यधिक शुद्ध रहता है। चारों ओर धने-धने जंगल व हरे-भरे पेड़-पौधे देखने को मिलते है। यहाँ की जीवन शैली अत्यंत सरल है तथा यहाँ विभिन्न धर्म जैसे ईसाई, बौद्ध व हिन्दू धर्म के लोग रहते हैं। यहाँ के लोग अपनी पुरानी लोक संस्कृति को भी अभी तक बनाए हुए है। यहाँ कई प्रकार के त्यौहार मनाए जाते हैं। जैसे सोलुंग, मोविन, लोसर, लोकू, ओरिया, योकुम आदि जो कि खुशियों का प्रतीक माने जाते हैं। इनके द्वारा ही लोक एक दूसरे के करीब आते है।

उसी में तिरप जिला है जो अपनी अलग पहचान बनाती हुई है। इस जिले का मुख्य कार्यालय खोंसा में है। यह जिला लगभग ३४५४ वर्ग किलोमीटर में फैल हुआ हैं तथा इस जिले के प्रमुख निवासी नोक्टें है और इनके प्रमुख त्योहार 'चालो लोकू' है। यहाँ विभिन्न लोक नृत्य, विभिन्न तरह की वेशभूषा व विभिन्न प्रकार के पेड़-पौधे, व जड़ी-बूटियाँ आदि मिलते हैं।

समाज में नारी की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण है। भारतीय समाज में भी नारी को सर्वोच्य स्थान प्रदान किया गया है, इसलिए किसी ने कहा है कि समाज या देश की स्थिति कैसी है, इसका सर्वोत्तम परिचय या देश में नारी की स्थिति कैसी है, इससे मिलता है।

''यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता'

कहकर हमारे देश में नारी को हमेशा सम्मान का स्थान दिया गया है। भारत में ऐसी अनेक महिलाएँ है जिन का योगदान हम कभी नहीं भूल सकते क्योंकि उन लोगों ने नए कीर्तिमान स्थापित कर समाज को एक नई दिशा प्रदान की है और हमें उन पर हमेशा नाज रहेगा। मदुराई की प्रसिद्ध संगीत साधिका शुभलक्ष्मी, आंध्रप्रदेश की दुर्गाबाई देशमुख, मद्रास में

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

सामाजिक क्रांति की अग्रदूत मानी जाने वाली कमलादेवी चट्टोपाध्याय, तेलगु भाषा की लक्ष्मी रघुमैया जो अखिल भारतीय महिला परिषद की अध्यक्ष रह चुकी है। कलकत्ता निवासी डॉ. आशिमा चटर्जी भारत की पहली महिला वैज्ञानिक है जो इंडियन साइंस कांग्रेस की भी प्रथम महिला अध्यक्ष रह चुकी है, श्रीमति इंदिरा गांधी जो भारत की पहली महिला प्रधानमंत्री थी। श्रीमति विजय लक्ष्मी पंडित जो संयुक्त राष्ट्रसंघ की जनरल असेम्बली की अध्यक्ष चुनी गई थी आदि अनेक महिलाएँ है जो नारी के सबल रुप का प्रतिनिधित्व करती हैं।

देश की सीमा से भी ऊपर उठकर मानवता का परिचय देने वाली कुछ महत्वपूर्ण महिलाएँ भी हैं। मदर टेरेसा ने १९७९ में 'नोबेल शन्ति पुरस्कार' प्राप्त कर विश्व प्रसिद्ध समाज सेविका के रुप में संसार में ख्याति प्राप्त की हैं, मार्गरेट थैचर, जिसने राजनीति में विश्व के अनेक पुरुषों से बढ़कर काम किया है, सोवियत संघ ने उन्हें 'लौह महिला' की उपाधि प्रदान कर उचित सम्मान प्रदान किया है। दक्षिण अफ्रीका के अश्वेत राष्ट्रवादी नेता नेल्सन मंडेला की गिरफ्तारी के पश्चात श्रीमती बिनी नेल्सन ने पति के शेष कार्य को तेज कर निरंतर सघर्षशील मार्ग अपनाया। विश्व की सबसे ऊँची चोटी माउंट एवरेस्ट विजेता बछेन्द्रीपॉल रही हैं। उसी प्रकार से रुस की बेलेन्टिना निकोलायेवा तैरेस्कोवा दुनिया की प्रथम महिला अन्तरिक्ष यात्री रही हैं, जिन्होंने पुरुषों के समकक्ष कार्य कर अपनी सबलता का परिचय दिया है। खेलकूद में भारत की पी.टी. उषा, कैलिफोर्निया की बिली जीन किंग टेनिस में दुनिया की सर्वोन्तम खिलाड़ी रूप में उदीयमान रही हैं। प्राचीन काल से ही हम देखते है जहाँ नारी का विशेष महत्व आँका गया है अर्थात वैदिक काल के अन्तर्गत ही हम देखते है जहाँ नारी को नर की अर्द्धांगिनी, धर्मपत्नी, गृहणी आदि कई विशेषणों से सम्मानित किया जाता था। बिना पत्नी के पति का न यज्ञ ही पूर्ण हो सकता था न घर को घर ही माना जा सकता था। रामायण में भी हम देखते है जहाँ रामचन्द्र जी ने वनवास से लौटकर राजसूय यज्ञ किया पर सीता जी को तो पुनः वनवास दे दिया गया था अतः उनके बिना यज्ञ कैसे पूर्ण होता। गुरु वसिष्ठ आदि के आदेशानुसार सीता जी की मूर्ति को रामचन्द्र के साथ विराजमान किया गया, तब यज्ञ विधान पूरा हुआ।

नोक्टे जनजाति की स्त्रियाँ भी समाज में एक महत्वपूर्ण स्थान और सम्मानित स्थान बनाए हुए है। आज इस जनजाति की स्त्रियाँ डॉक्टर, इंजीनियर, शिक्षक व अन्य अच्छे पोस्ट पर कार्यरत है। शिक्षा मानव जीवन की अनिवार्यता है। मानव के सर्वागीण विकास हेतु शिक्षा की आवश्यक्ता है। किसी पेश की प्रगति एंव संगठन की स्थिति सफल शिक्षा पर ही निर्भर रहती है।

हम देखेगें कि नोक्टे जनजाति की स्त्रियाँ शिक्षा के क्षेत्र में भी पुरुषों से काफी आगे निकल चुकी है। अब वह समय गया जब स्त्री केवल पुरुष की कामवासना की पूर्ति का साधन थी। आज बदलते परिवेश ने उसे पुरुष का साथी बनाकर उसके समकक्ष लाकर खड़ा कर दिया है। शिक्षा के प्रचार-प्रसार ने स्त्री को सबल एवं जागरुक बना दिया है। हर क्षेत्र में पुरुषों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर चल रही हैं। समाज में दहेज प्रथा एक जटिल समस्या है। दहेज प्रथा के कारण अनेक सुन्दर, सुशिक्षित और सुसंस्कृत लड़कियों को समुचित दहेज के अभाव में असुन्दर मूर्ख और असंस्कृत लड़कों से ब्याह दियाजाता है। वैवाहिक संदर्भ में दहेज प्रथा समाज के माथे पर कलंक है। यह वह दैत्य है जो नारी की दारुणिक स्थिति के लिए उत्तरदायी है। जबकि देखा जाए तो विवाह हमारे जीवन की सबसे महत्वपूर्ण घटना है और उसकी सफलता के लिए सबसे आवश्यक है आपसी समझदारी और प्रेम। जहाँ पर समझौता व प्रेम की प्रवृत्ति नहीं हैं, पति-पत्नी दोनों से कोई भी पक्ष एक दूसरे के प्रति समर्पित होने का प्रयास नहीं करता, वहाँ ऊब, घुटन व एकाकीपन जैसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

नोक्टे जनजाति की स्त्रियाँ इस मामले में बहुत ही भाग्यशाली रही हैं क्योंकि उन्हें दहेज प्रथा जैसी समस्याओं सें कभी गुजरना नहीं पड़ा। अपनी विवाह में उन्हें दहेज आदि की चिंता करने की आवश्यकता नहीं होती। वे सिर्फ लोगों को

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

अपने शादी वाले दिन अपने हिसाब से मेहमानों को खिलाते- पिलाते हैं तथा मनोरंजन कराते हैं।

आज भी समाज में विधवा समस्या अपने भयंकर रूप में उपस्थित है। वैसे तो हिन्दू समाज में समग्र नारी जीवन पुरुष वर्ग की तिरस्कार दमन तथा उपेक्षा भावना का शिकार है, लेकिन सबसे अधिक शोषण की प्रतिमूर्ति एकमात्र विधवा ही होती है। विधवा का यह दयनीय जीवन विशेषकर मध्यवर्गीय परिवारों में बड़ा करुण है किंतु हम नोक्टे जनजाति में इसके विपरित रुप देखगें अर्थात नोक्टे जनजाति की स्त्रियाँ पति के मृत्यु के बाद वह चाहे तो पुनर्विवाह कर सकती है। उनके लिए ऐसा कोई बंधन या कानून नहीं है कि वह उम्र भर एक विधवा जीवन यापन करें।

पहले समय में यह जरुर होता था कि गाँव में राजा जिस किसी भी स्त्री को पसंद करता था उससे वह विवाह कर लेता था किंतु अब शिक्षा के प्रचार-प्रसार तथा नोक्टे जनजाति के स्त्रियों की जागरुकता के कारण यह प्रथा अब समाप्त हो गई है। अब स्त्री या पुरुष दोनों ही स्वतंत्र हैं कि वह किसी से भी प्रेम कर सकते हैं या विवाह कर सकते हैं।

नोक्टे जनजाति में अगर स्त्री-पुरुष दोनों में संबंध विच्छेद करना हो अर्थात तलाक की समस्या उत्पन्न हो जाए तो सबसे पहले, स्त्री को न्याय दिलाने का प्रयत्न करते हैं। अर्थात उनकी बातें व समस्याओं को पहले ध्यान में रखा जाता है। तब जाकर सही और गलत पर विचार-विमर्श होता है।

सम्पत्ति या जायदाद आदि के संबंध में भी अक्सर देखा गया है कि वह घर के बड़े बेटे को ही मिलती है अर्थात घर में बेटियों को कुछ नहीं मिलता। किंतु नोक्टे जनजाति में यह देखा गया है कि आज कल घर के बड़े अर्थात माता-पिता चाहे तो वे अपनी संपत्ति के कुछ भाग अपनी बेटी के नाम भी कर सकते हैं या करते हैं क्योंकि उनका मानना है कि बेटे या बेटी में अब कुछ फर्क नहीं रहा। दोनों ही माता-पिता के लिए महत्वपूर्ण हैं अर्थात् विशेष स्थान रखते हैं। समाज में इस तरह के बदलाव का प्रमुख कारण है नारी शिक्षा पाश्चात्य संस्कृति व सभ्यता का प्रभाव, स्त्री-पुरुष की समानता व व्यक्ति स्वातंत्र्य का भाव आदि।

२१ वीं. शताब्दी की भारतीय नारी को हम देखते हैं जहाँ वह आज पुरुषों से कदम से कदम मिलाकर चल रही है। आज वे हर क्षेत्र में अपना विशेष स्थान बनाए हुए है। सबसे बड़ी बात तो यही है कि आज नारी नौकरी करने के साथ परिवार के पालन-पोषण का बोझ भी वहन किए हुए है। किंतु आज की नारी इसमे भी पीछे नहीं है।

नोक्टे जनजाति की स्त्रियों ने भी आज पुरुष प्रधान समाज में अपने आप के लिए एक विशेष स्थान बनाए रखते हुए आगे बढ़ रही हैं तथा हर जगह अपने आपमें सामंजस्य बिठाते हुए अपने कार्य को पूर्ण करती जा रही हैं। अत: हम कह सकते हैं कि नारी की शक्ति शिक्षित होने पर काफी हद तक ऊँचा हो गया है तथा सब का जीवन स्तर भी ऊँचा उठ गया है। जयशंकर प्रसाद जी का भी नारी के संबंध में यही मानना है कि:-

''नारी तुम केवल श्रद्धा हो, विश्वास रजत
नग, पग तल में।
पीयूष स्त्रोत सी बहा करो
जीवन के सुन्दर समतल में।''

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

संदर्भ ग्रंथ-

(1) डॉ आनंद शर्मा, उपन्यासकार कमलेश्वर समाज शास्त्रीय निष्कर्ष पर, मेघा बुक्स प्रकाशन, दिल्ली।

(2) डॉ आशा गुप्ता, नवम् दशक की हिन्दी महिला कथाकारों की नारी चेतना, कान्त पब्लिकेशन्स, दिल्ली।

(3) डॉ अनिल गोयल, हिन्दी कहानी में नारी की सामाजिक भुमिका, आर्याना पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली।

(4) डॉ उषा यादव, हिन्दी की महिला उपन्यासकारों की मानवीय संवेदना, राधा-कृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली।

(5) कुवर पाल सिंह, हिन्दी उपन्यासों में सामाजिक चेतना, पाण्डुलिपि प्रकाशन, दिल्ली।

(6) डॉ के.एम. मालती, स्त्री विमर्श: भारतीय परिपेक्ष्य, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली।

(7) डॉ धर्मराज सिंह, अरुणाचल की गालो जन-जाति और उसकी सामाजिक व्यवस्था।

असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी विभाग
डब्लिउ आर जी कॉलेज, देवमाली, टिराप
अरुणाचल प्रदेश।

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

वर्तमान परिदृश्य और 'मनःविकार' के सन्दर्भ में श्री राम चरितमानस की चिन्तन दृष्टि।

● डॉ. विश्वजीत कुमार मिश्र

लोक कल्याण करके भी व्यक्ति आत्म कल्याण की महत्तम साधना कर सकता है। तुलसी ने आत्म-कल्याण की साधना भी केवल अपने तक ही सीमित नहीं रखी अपितु समाज को उस सहज पथ का पता भी बताया, उस पर चलने की प्रेरणा भी दी। वे असज्जनों की वन्दना करके भी उनके सामने कभी झुके नहीं। इतने विशाल व्यक्तित्व वाले जन-कल्याणकारी आत्मद्रष्टा, क्रांन्तिदर्शी तथा तत्वसंग्रही कवि का उस युग में प्रादुर्भाव न केवल भारत के लिए गौरव की बात है, अपितु समस्त मानव समाज के लिए आदर्श प्रेरणादायिनी संपत्ति भी है।

भारतीय जीवन की सर्वाधिक दृढ़भित्ति पारिवारिक जीवन है। पारिवारिक जीवन की ऐसी आदर्श प्रतिष्ठा तुलसीदास ने की, जैसी भारत का अन्य कोई साहित्यकार नहीं कर सका। उन्होंने लोगों को दिखाया कि पारिवारिक मर्यादा में जरा भी विकृति आने पर सारो मर्यादाएँ विनष्ट हो सकती हैं। कैकेयी का कोप, विभीषण का रावण के प्रति विद्रोह और बालि तथा सुग्रीव इसके उदाहरण हैं। इस कार्य में तुलसी को पूर्ण सफलता भी मिली है। उन्होने जिन चरित्रों का निर्माण किया है, वे अजर-अमर तो हैं ही, साथ ही लोक-मंगलकारी आदर्श की प्रतिष्ठा भी करते हैं। इतने विविध किन्तु पूर्ण अन्योन्याश्रित चरित्रों का चित्रण उन्होंने अपने काव्य में किया है उतने चरित्र एक साथ हिन्दी के किसी अन्य काव्यग्रन्थ में दिखाई नहीं पड़ते। अन्यत्र यदि कहीं दिखाई भी पड़ेंगे तो इस अन्योन्याश्रित प्रतिष्ठा के साथ नहीं।

तुलसी की रचनाओं में राजनीति से लेकर वेदान्त दर्शन तक की अभिव्यक्ति है। सभी क्षेत्रों में उनकी नई सूझ-बूझ अपनी एक मौलिक एवम् मंगलमय छाप छोड़ती है। यद्यपि वे मूलतः भक्ति के उपासक थे, तथापि साहित्य के सभी रसों की उच्च कोटि की छाप उनकी रचनाओं में मिलती है। उनके विनय के पद तो इतने सुन्दर बन पड़े हैं कि ऐसा आभास होता है जैसे पाठक के हृदय का आत्मनिवेदन उनमें फूट पड़ा हो। उन्होंने प्रायः सभी काव्य पद्धतियों एवम रचना- विधाओं में रचनाँए की। उनकी रचनाएँ इतनी मधुर एवम व्यापक हैं, जो अन्य काव्य ग्रंथों में दुर्लभ हैं।

नीति-उपदेश की सूक्ति पद्धति, सुफियों की दोहा- चौपाईवाली पद्धति, बीर- श्रृंगार की छप्पन पद्धति, विद्यापति और सूरदास की गीति पद्धति गंग आदि चारण कवियों की कवित्त सवैया पद्धति, सभी साहित्यिक विधाओं का निखार उनकी रचनाओं में मिलता है। वे विद्वान और पंडित तो थे ही संस्कृत के भी कवि थे। उन्होंने संस्कृत में भी अभूतर्पूव ढंग से लिखा है। उन्होंने अवधी और ब्रज, दोनों भाषाओं में रचनाएँ की हैं और उनका साहित्यिक संस्कृत रूप ही इनकी रचनाओं में मिलती है। भाषा की दृष्टि से भी उनकी देन हिन्दी साहित्य की अनमोल निधि है। यद्यपि 'नागरी प्रचारिणी सभा के खोज विभाग की रिपोर्ट के द्वारा तुलसी की 37 रचनाएँ प्राप्त हुई हैं, तथापि नागरी प्रचारिणी सभा ने उनमें से केवल 12 ग्रथों को ही प्रामाणिक माना है। शेष दूसरे तुलसी नाम धारियों के हैं। तुलसी के 12 प्रामाणिक ग्रन्थों से अधिकांश विद्वान सहमत हैं।

तुलसी-साहित्य के वर्तमान परिदृश्य में मनःविकारों के सन्दर्भ में विचार करने पर हमें प्राप्त होता है कि आधियों का मूल, मोह अर्थात अज्ञान है। आधियों से बहुत से शूल उत्पन्न होते हैं। काम बात है, लोभ कफ है और क्रोध पित्त है। इन तोनों

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

के मिल जाने से सन्निपात हो जाता है। ममता दाद है, ईर्ष्या खुजली, हर्ष-विषाद गठिया, परसुख देह क्षय है। कुटिलता कोढ़ है, अहंकार डमरू तथा दम्भ, कपट, मद और मान नेहरूआ है। तृष्णा, जलोदर-एषणाएँ, तिजारी, मत्सर और अविवेक ज्वर है, इमनें से किसी एक ही विकार से मनुष्य मर जाते हैं। तुलसी के वचन हैं-

सुनहु तात अब मानस रोगा। जिन्ह ते दुख पावहिं सब लोगा।
मोह सकल ब्याधिन्द कर मूला। तिन्ह ते पुनि उपजहिं बहु सूला॥
काम बात कफ लोभ अपारा। क्रोध पित्त नितछाती जारा॥
प्रीति करहिं जों तीनिउ भाई। उपजइ सन्यपात दुखदाई॥
विषय मनोरथ दुर्गम नाना। तो सब सूल नामको जाना॥
ममता दाद कंडु इरषाई। हरष बिषाद गरह बहुताई॥
पर सुख देखि जरनि सोइ छई। कुष्ट दुष्टता मन कुटिलई॥
अहंकार अति दुखत डमरूआ। दंभ कपट मद मान नेहरुआ।
तृस्ना उदर बृष्टि अति भारी। त्रिबिध ईषना तरून तिजारी॥
जुग बिधि ज्वर मत्सर अबिबेक। कहँ लगि कहौं कुरोग अनेका॥

एक ब्याधि बस नर मरहिं ए असाधि बहु ब्याधि।
पीड़हिं संतत जीव कहुँ सो किमि लहै समाधि॥
नेम धर्म आचार तप ग्यान जग्य जप दान।
भेषज पुनि कोटिन्ह नहिं रोग जाहिं हरिजान॥

उपरोक्त वर्णन 'रामचरितमानस' के उत्तरकाण्ड से उद्धृत है, जिसमें श्री काकभुषुण्डि जी ने गरुड़ को मानस विकारों के विषय में बताया है। इस प्रकार समस्त जीव मानस विकारों से ग्रस्त हैं, क्योंकि वे हर्ष- शोक, प्रीति-भय आदि से समन्वित हैं। इन विकारों के निवारण के अनेक उपाय हैं, जैसे-नियम, धर्म, आचरण, तप, ज्ञान, यज्ञ, जप दान और औषधियाँ भी, किन्तु अनेक उपचारों के रहते हुए भी विकार कम नहीं होता, क्योंकि केवल कतिपय लोग ही इन विकारों को जानते हैं। विषय रूप कुपथ्य को पाकर मुनियों के हृदय में भी ये विकार अंकुरित हो उठते हैं।

गोस्वामी जी ने व्यक्ति के अन्तर्मन के रोगों की तुलना उसके शरीर में रहने वाले रोगों से की है। उनके अनुसार शरीर का रोग व्यक्ति को अस्वस्थ और बेचैन बना देता है, वैसे ही मन का रोग भी उसे अशांत और पीड़ित करता है। उनके अनुसार मनुष्य के मन में कई प्रकार के विकार भरे हुए हैं। जब व्यक्ति के शरीर का एक विकार ही उसे इतना व्यथित कर देता है, तब उसके मन के इतने विकार उसे कितना व्यथित करते होंगे, इसकी सहज ही कल्पना की जा सकती है।

शारीरिक और मानसिक विकारों की तुलना करते हुए तुलसी ने स्पष्ट किया है कि सभी व्यक्तियों के शरीर में एक ही प्रकार का रोग नहीं दिखाई देता। किसी के शरीर में एक प्रकार का कष्ट है तो दूसरे के शरीर में दूसरे प्रकार का है, पर मानस विकार ऐसे हैं जो सब व्यक्तियों में समान रूप से पाए जाते हैं। संसार का शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति हो, जिसके अन्तर्मन में मानस विकारों का मूल विद्यमान न हो। अत: मन का विकार शरीर के विकार की तुलना में सर्वव्यापक है।

शरीर में कोई विकार होने से उसका उपचार तुरन्त हो जाता है, पर मन के विकारों के साथ बिडंबना यह है कि उसका

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

रोगी अपने को अक्सर पकड़ ही नहीं पाता। मानस विकारों को कोई विरला ही जान पाता है। यदि हमारे सिर में पीड़ा हो तो हम उसे तुरन्त जान जाते हैं, पर मानस विकार से ग्रस्त व्यक्ति उसे देख ही नहीं पाता, विंडबना यह है कि मनोविकार से ग्रस्त व्यक्ति सामने वाले को ही इस विकार से ग्रस्त समझता है। गोस्वामी जी ने 'रामचरितमानस' में सभी पात्रों को मनोविकार से ग्रस्त दिखाया है। यहाँ तक कि राम द्वारा सीता जी की अग्निपरीक्षा सीताजी द्वारा लक्ष्मण को कहे गए कटुवचन भी इसी मनोविकार का ही परिणाम है। मानस के सभी पात्रों में कोई न कोई मनोविकार आवश्य हैं। काम, ईर्ष्या, दोषारोपण, मोह, अहंकार, लोभ आदि विकारों से शायद ही तुलसी का कोई पात्र बच पाया हो।

जब व्यक्ति मानसिक विकारों से ग्रस्त हो जाता है तो उसका व्यवहार भी असामान्य होजाता है। उसके काम, क्रोध, लोभ, मोह, तृष्ण, ईर्ष्या, अहंकार, उन्माद, विषाद, आदि विकार उत्पन्न हो जाते हैं। 'रामायण' में हमें एक ओर बुरे पात्र मिलते हैं जिनका वर्णन राक्षसों के रूप में किया गया है, तो दूसरी ओर बुरे पात्र मिलते हैं जिनका वर्णन राक्षसों के रूप में किया गया है, तो दूसरी ओर अच्छे पात्र भी हैं, जो कभी न कभी समस्याओं से ग्रस्त दिखाई पड़ते हैं। नारद जी तो ऋषि और महात्मा थे फिर भी उनके जीवन में काम का उदय हो गया और नारायण से अनुपम सौन्दर्य की माँग कर बैठे। कर्म सिद्धान्त की मान्यता है कि जो जैसा कर्म करता है, ईश्वर उसे वैसा ही फल प्रदान करता है। तुलसी की मान्यता है कि-

करम प्रधान बिस्व करि राखा।
जो जस करइ सो तस फल चाखा॥

कर्म सिद्धान्त न्याय पर बल देता है, जवकि भक्ति का सिद्धान्त कृपा पर बल देता है। गोस्वामी जी दोनों का समन्वय करते हुए कहते हैं कि समाज में दो प्रकार के व्यक्ति होते हैं- अपराधी और रोगी। अपराधी के प्रति हमारे मन में रोष उत्पन्न होता है और उसे दण्ड दिया जाता है, पर रोगी हमारी सहानुभूति का पात्र होता है। अपराधी के लिए न्याय की व्यवस्था की जाती है, जबकि रोगी के लिए उपचार की। इसी को 'मानस' में कर्म सिद्धान्त और भक्ति सिद्धान्त के रूप में प्रतिपादित किया गया है और वहाँ दोनों का समन्वित रूप प्रस्तुत किया गया है। उदाहरण स्वरूप 'मानस' के दो दृष्टान्तों को हम देख सकते हैं। एक है ताड़का तो दूसरी है अहिल्या। दोनों पात्रों में एक-एक कमी है, एक में भारी क्रोध है, तो दूसरे में काम। विश्वामित्र मुनि के द्वारा एक का परिचय राक्षसी के रूप में दिया गया है, तो दूसरे का एक शिला के रूप में। विश्वामित्र के साथ होने वाली भगवान राम की यात्रा में ताड़का पहले आती है। फिर जब मुनि का यज्ञ सम्पन्न हो जाता है और वे लोग जनकपुर की ओर प्रस्थान करते हैं तब मार्ग में अहिल्या मिलती है। ताड़का के मिलने पर मुनि भगवान राम उसका वध करने के लिए कहते हैं-

चले जात मुनि दीन्हि देखाई।
सुनि ताड़का क्रोध करि धाई॥
एकहि बांन प्रान हरि लीन्हा।
दीन जानि तेहि निज पद दीन्हा॥

ताड़का राक्षसी थी, दूसरों को खाती थी, इसलिए भगवान राम ने कर्म सिद्धान्त के अनुसार उसे दण्डित किया क्योंकि श्री राम, मुनि के यज्ञ की रक्षा करने के लिए जा रहे थे। यज्ञ की भूमिका कर्मप्रधान होती है, अतएव उन्होंने कर्म सिद्धान्त का पालन कर राक्षसों के लिए दण्ड, न्याय और विनाश का विधान किया। समाज में अपराधी को दण्ड मिलना ही चाहिए, जिससे लोगों के मन में अपराध करने की वृत्ति न जागृत हो, पर वे जब जनकपुर की ओर गमन करते हैं, तब उनकी भूमिका बदल जाती है। जनकपुर भगवती सीता का साक्षात भक्ति का नगर है। मार्ग में एक जनशून्य आश्रम दिखाई देता है, जहाँ पशु-पक्षी

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

भी नहीं दिखाइ देते। वहाँ एक शिला दिखाई पड़ती है, जिसकी आकृति तो नारी की है, पर उसमें कोई चेतना नहीं प्रतीत होती। ताड़का अत्यन्त क्रोधी थी और अहिल्या के चरित्र में काम था। वैसे तो काम और क्रोध दोनों को प्रबल बताया गया है और इनके साथ लोभ प्रबल दोष की श्रेणी में आता है। गोस्वामी जी लिखते हैं–

तात तानि अति प्रबल खल काम क्रोध अरु लोभ।
मुनि बिग्यान धाम मन करहिं निमिष महु छोभ॥

प्रश्न उठता है कि यदि ताड़का पर क्रोध के कारण प्रहार किया गया तो अहिल्या पर भी काम के कारण प्रहार करना चाहिए था, पर ऐसा नहीं हुआ। जब भगवान राम ने पूछा गुरूदेव। क्या आज्ञा है, तो मुनि बोले–

गौतम नारि श्राप बस उपल देह धरि धीर।
चरन कमल रज चाहति कृपा करहु रधुबीर।।

इसे अपने चरणों की धूलि देकर चैतन्य बनाओ। स्पष्ट है कि विश्वामित्र के अनुसार ताड़का राक्षसी और दण्ड की पात्रा है जबकि अहिल्या मानसिक विकार से ग्रस्त। यही अन्तर दैव्य और देवताओं में है। दैत्य या राक्षस वह है जिसके जीवन में दोष और पाप के प्रति रंचमात्र भी घृणा नहीं होती तथा जो बड़े उत्साह और अभिमान के साथ पाप करता है। इन्हें पाप करके तनिक भी संकोच या लज्जा का अनुभव नहीं होता, बल्कि वे गर्व से अपने किये पाप का वर्णन बिना किसी हिचक के दूसरे के सामने करते हैं। फिर ऐसे भी लोग होते हैं, जो बुराई से बचना चाहते हैं। ये लोग बुराई को बुराई ही समझते हैं फिर भी छोड़ नहीं पाते। ऐसे लोगों के लिए गीता में कहा गया है–

अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः।

वे बुरा करने की इच्छा नहीं करते, फिर भी कोई मानो बल पूर्वक उन्हें बुराई के रास्ते पर ढकेल देता है। ये लोग मानसिक विकारों से ग्रस्त होते हैं। जैसे – रोग कुपथ्य के कारण जन्म लेता है, व्यक्ति कुपथ्य न करे तो उस पर रोग का आक्रमण नहीं होता है। यदि कोई व्यक्ति कुपथ्य कर के रोगी बन जाए तो उसके लिए उसे दण्ड नहीं दिया जाता, बल्कि उसको दवा देकर चिकित्सा की जाती है। ठीक वैसे ये देवता भी रोगी हैं, मानसिक विकारों से ग्रस्त हैं। इन्हें बुराई और भलाई के विषय में भली भाँति विदित है। ये अपने मन की दुर्बतला के कारण पाप कर बैठते हैं और उसका उन्हें पश्चाताप भी होता है। उदाहरण के लिए हम रावण और इन्द्र को ले सकते हैं। रावण साधु का वेष वनाकर सीताजी का हरण करता है और इन्द्र गौतम ऋषि का वेश बनाकर अहिल्या का सतीत्व हर लेता है, पर दोनों के चरित्र मुख्य अन्तर यह है कि रावण को अपने कुकृत्य पर किसी प्रकार की ग्लानि या लज्जा का अनुभव नहीं होता है और अपने पाप को अनुचित नहीं मानता, जबकि इन्द्र महर्षि गौतम को देखकर लज्जा और भय से आतंकित हो जाते हैं। ''रामचरितमानस'' में बताया गया है कि दुर्गुण–दुर्विचार हमारे जीवन में राक्षसों की तरह हैं जिसके कारण हमें दण्ड का भागी बनना पड़ता है और यदि रोग या विकार की तरह हैं तो उसकी चिकित्सा की जा सकती है।

आयुर्वेद शास्त्र में दो प्रकार के सन्निपातों का वर्णन है। इनमें से एक अयोध्या में दिखाई पड़ता है तो दूसरा लंका में। आयुर्वेदशास्त्र के अनुसार इन दोनों में मुख्य अन्तर यह है कि एक में मस्तिष्क आक्रान्त होता है तो दूसरे में आँत। जब मस्तिष्क आक्रान्त रहता है तो रोगी प्रलाप करने लगता है, ज्वर की तीव्रता से मस्तिष्क काम करना बन्द कर देता है। जब आँत आक्रान्त होती है तो पाचन- क्रिया हो बन्द जाती है और एक तरह से अतिसार हो जाता है। आयुर्वेद की मान्यता है कि सन्निपात से मस्तिष्क प्रभावित होता है, तब उसकी चिकित्सा अपेक्षाकृत सरल है क्योंकि ज्वर में ताप अधिक होने पर सिर पर ठण्डे पानी

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

की पट्टी रखने से उत्ताप कम हो जाता है और रोगी स्वस्थ होने लगता है, लेकिन जब आँतों पर उसका अधिक प्रभाव पड़ता है और सन्निपात के साथ अतिसार भी हो जाता है तो वैद्य उसे प्राय: असाध्य मानते है। जिसकी चिकित्सा करना कठिन हो जाता है। इसका एक रुप तो अयोध्या में दिखाई पड़ता है और दूसरा लंका में। अयोध्या का रोग तो साध्य था पर लंका का असाध्य। एक की चिकित्सा हो गई तो दूसरे की नहीं हो पाई। एक में रोगी स्वस्थ हो गया और दूसरे में रोगी ही नहीं बल्कि उसके साथ लंका में राक्षस समाज की भी मृत्यु हो गई। स्पष्ट है कि यदि काम, क्रोध, लोभ के साथ अहंकार की वृत्ति भी सम्मिलित हो जाए तो वहाँ बुराइयाँ भी असाध्य हो जाती हैं। जिस समाज या व्यक्ति के जीवन में काम, क्रोध, लोभ अंसतुलित हो जाएँ, पर उसके अन्त: करण में इसके लिए पश्चाताप या ग्लानि न हो उसके स्वस्थ रहने का सवाल ही नहीं उठता। अत: काम, क्रोध, लोभ मोह, अहंकार, हठ नास्तिकता कुबुद्धि आदि को मानसिक विकारों में रखा जा सकता है, जो आयुर्वेद सम्मत भी हैं। जिनकी चिकित्सा का वर्णन भी आयुर्वेद मे हैं।

तुलसी ने मानस के उत्तरकाण्ड में मानस विकारों का उत्कृष्ट वर्णन किया है। काकभुषुण्डि जी गरुण के प्रश्नों का उत्तर देते हुए मानस रोगों के विषय में अत्यन्त सटीक एवम सारगर्भित जवाब देते हुए उसका उपचार भी बताते हुए कहते है कि–

मोह सकल ब्याधिन्द कर मूला। तिन्ह ते पुनि उपजहिं बहु सूला।
काम बात कफ लोभ अपारा। क्रोध पित्त नित छातीं जारा।
प्रीति करहिं जौ तीनिउ भाई। उपतइ सन्यपात दुखदाई॥
बिषय मनोरथ दुर्गम नाना। ते सब सूल नाम को जाना।
ममता दादु कंडु इरषाई। हरष बिषाद गरह बहुताई॥
पर सुख देखि जरनि सोइ छई। कुष्ट दुष्टता मन कुटिलई॥
अहंकार अति दुखद डमरूआ। दंभ कपट मदमान नेहरुआ॥
तृस्ना उदर बृद्धि अति भारी। त्रिबिध ईषना तरुन तिजारी॥
जुग बिधि स्वर मत्सर अबिबेका। कहँ लगि कहौं कुरोग अनेका॥

एक ब्याधि बस नर मरहि ए असाधि बहु व्याधि।
पीड़हिं संतत जीव कहुँ सो किमि लहैं समाधि॥
नेम धर्म आचार तप ज्ञान जग्य तप दान।

भेषज पुनि कोटिन्ह नहिं रोज जाहि हरिजान।
एहि बिधि सकल जीव जग रोगी। सोक हरष भय प्रीति बियोगी
मनस रोग कछुक मैं गाए। हहिं सब के लखि बिरलेन्ह पाए।
जने ते छीजहिं कछु पापी। नास न पावहिं जन परितापी।।
विषय कुपथ्य पाई अंकुरे। मुनिहु ह्रदय का नर बापुरे॥
राम कृपा नासहिं सब रोगा। जौ एहि भाँति बनै संजोगा॥
सदगुर बैद बचन बिस्वासा। संजम यह न विषय कै आसा।
रधुपति भगति सजीवन मुरी। अनूपान श्रद्धा मति पूरी॥

अर्थात हे ताता। अब मानस रोग सुनिए, जिनसे सब लोग दु:ख पाया करते हैं। सब रोगों की जड़ मोह (अज्ञान) है।

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

उन व्याधियों से बहुत से शुल उत्पन्न होते हैं। काम वात है, लोभ इपार (बढ़ा हुआ) कफ है और क्रोध पित्त है जो सदा छाती जलाता रहता है। यदि कहीं से तीनों भाई (वात, पित्त और कफ) प्रीति कर लें तो दुखदायक सन्निपात रोग उत्पन्न हो जाता है। कठिनता से प्राप्त होने वाले जो विषयों के मनोरथ है, वे ही सब शुल (कष्टदायक रोग) हैं, उनके नाम कौन जानता है (अर्थात वे अपार हैं)। ममता दाद है, ईर्ष्या (डाह) खुजली है, हर्ष-विषाद गले के रोगों की अधिकता हैं (गलगंड, कष्ठमाला या धेधा आदि रोग), पराये सुख को देखकर जो जलन होती है, वही क्षयी हैं। दुष्टता और मन की कुटिलता ही कोढ़ है। अहंकार अत्यान्त दुख देने वाला डमरू (गाँठ का) रोग है। दम्भ, कपट, भद और मान नेहरूआ (नसों का) रोग है। तृष्णा बड़ा भारी उदर वृद्धि (जलोदर) रोग है। तीन प्रकार (पुत्र, धन और भान) की प्रबल इच्छाएँ प्रबल तिजारी हैं। मत्सर और अविवेक दो प्रकार के स्वर हैं। इस प्रकार अनेकों बुरे रोग है, जिन्हें कहाँ तक कहूँ। एक ही रोग के वश में होकर मनुष्य मर जाते है, फिर यो तो बहुत से असाध्य रोग हैं। यो जीव को निरन्तर कष्ट देते रहते हैं, ऐसी दशा में वह समाधि (शांति) को कैसे प्राप्त करें? नियम, धर्म, आचार, (उत्तम आचरण), तप, ज्ञान, यज्ञ, जप, दान, और, और भी करोड़ों औषधियाँ हैं, परन्तु हे गरूड़ जी । उनसे ये रोग नहीं जाते।

मनोविज्ञान के अनुसार जीवन में विकारों को कई कोटियों में विभाजित किया गया है। मनोवैज्ञानिक भाषा में मनोविकारों से तात्पर्य ऐसे व्यवहार से होता है, जो सामाजिक मानक एवं-प्रत्याशाओं के प्रतिकूल हों। मानसिक विकारों से ग्रस्त व्यक्ति को नैतिक - अनैतिक, सही-गलत, उचित-अनुचित, धर्म-अधर्म, पाप-पुण्य आदि में कोई अन्तर ही नहीं ज्ञात होता। इसके विभिन्न कारण हैं, जिसका वर्णन मनेविज्ञान में किया गया है-

तनाव तथा समायोजन विकृतियाँ, चिन्ता विकृतियाँ कायाप्रारूप विकृतियाँ, मनो विच्छेदी विकृतियाँ, मनोदैहिक विकृतियाँ, व्यक्तियाँ, व्यक्तित्व विकृतियाँ, द्रव्य-संबद्ध विकृतियाँ, मनोदशा विकृतियाँ, एवम आत्महत्या, मनोविदालिता, मानसिक दुर्वलता तथा अधिगम असमर्थता सम्बन्धी विकृति, संज्ञानात्मक विकृतियाँ आदि।

सामान्यत: साध्य रोग वे होते हैं, जिनकी चिकित्सा सम्भव हो अर्थात उपचार करने से जो रोग ठीक हो जाते हैं। रोग विशेष से जुड़े व्यक्ति का निदान यदि प्रारम्भ से हो जाता है तो उसका उपचार हो जाता है। स्वास्थ्य के सामाजिक मनोविज्ञान की मान्यता है कि रोग की उपचार साध्यता मानव के स्वस्थ व्यवहार से जुड़ी होती है और स्वस्थ व्यवहार स्वस्थ चेतना पर निर्भर करता है। मानसिक विकारों के सम्बन्ध आयुर्वेद में कहा गया है कि व्यक्ति के शरीर में वात, पित्त, कफ के सदृश काम क्रोध, लोभ में से कोई एक कुपित हो जाए तो रोग चिकित्सा अपेक्षाकृत साध्य हो जाता है। इसी प्रकार गोस्वामी जी भी कहते हैं कि नेत्र द्वारा कुपथ्य, नासिका द्वारा कुपथ्य, जिह्वा द्वारा कुपथ्य, स्पर्शसुख कुपथ्य आदि में से किसी एक के द्वारा उत्पन्न रोग साध्य रोग होता है। सभी कुपथ्यों के एकत्रित्र होने से उत्पन्न रोग असाध्य हो जाता है अर्थात काम, क्रोध, लोभ तीनों के एक साथ कुपित होने से उत्पन्न मानसिक विकार निश्चय ही असाध्य होता है।

मानस विकार अति सूक्ष्म होते हैं। इन्हें देखना या समझना कठिन होता है। इस कारण इनकी चिकित्सा प्राय: कठिन हो जाती है। यद्यपि अधिकांश मानस विकार असाध्य होते हैं फिर भी तुलसी भक्ति योग के माध्यम से इनकी न्यूनाधिक चिकित्सा का दावा किया है। अन्तर केवल इतना है कि हम किस सीमा तक भक्ति को अपने जीवन में उतार पाते हैं और अपने मन को किस स्थिति तक निर्मल बना पाते हैं। मन के निर्मल हुए बिना रोग विनाश को ही प्राप्त होते हैं। मन के निर्मल होने पर न केवल रोग नष्ट होते हैं अपितु प्रभु के दर्शन भी हो जाते हैं-

निर्मल मन जन मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा॥

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

गोस्वामी जी ने भक्ति को मानस रोगों की श्रेष्ठ औषधि माना है उनके अनुसार प्रभु की कृपा से मन के सभी विकार नष्ट हो जाते हैं। श्री रधुनाथ की कथा गुण एवम उनकी भक्ति में संजीवनी जड़ी है। कथा को श्रवण करने, गुणों का गान करने तथा भक्ति को साधने से असाध्य विकार भी साध्य हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त किसी अन्य उपाय से भी तरह के मनासिक विकारों से छुटकारा पाना असम्भव है। तरह-तरह के मानसिक विकार मन में होने वाले सूक्ष्म रोग जैसे होते हैं। मानसिक विकारों से ग्रस्त व्यक्ति सरलता से स्वयं को दोषी नहीं मानता बल्कि वह स्वयं विकार ग्रस्त होते हुए दूसरों में दोष खोजता है। इस कारण ऐसे असाध्य रोगी की सिकित्सा करना कठिन हो जाता है। गोस्वामी जी ने इसी असाध्यता के कारण इन्हें कुरोग की श्रेणी में रखा है। रोग की औषधि तो की जा सकती है, लेकित असाध्य एवम कुरोग की औषधि नहीं होती। केवल जगत नियन्ता ही सभी रोगों की एकमात्र औषधि है। अथर्ववेद में कहा गया है कि ''संसार में जितनी भी रोग और क्लेश नाशक औषधियाँ हैं उन सब में सबसे श्रेष्ठ सब औषधियों की औषधि परब्रह्म परमात्मा हैं।''

सन्दर्भ-

1. श्याम-किंकर महाराज, तुलसी का मानस, भाग 2-1-171
2. पंडित कृश्णशंकर शुक्ल, आधुनिक हिंदी साहित्य का इतिहास (शो.ग्रं.), पृ. 12-14
3. उत्तरकाण्ड, श्री रामचरितमानस, 120-27 से 28, 129-1 से 7
4. गंगा प्रसाद 'वैदय', तुलसी साहित्य में व्याधि-वर्णन, पृ. 224
5. अयोध्याकाण्ड, श्री रामचरितमानस, 218-4
6. बालकाण्ड, श्री रामचरितमानस, 208-5,6
7. अरण्यकााण्ड, श्री रामचरितमानस, 38
8. बालकाण्ड, श्री रामचरितमानस, 210
9. गीता, अध्याय : 3-36
10. श्याम-किंकर महाराज, सत्संग: चिकित्सा और व्याधि, भाग 6-128
11. उत्तरकाण्ड, श्री रामचरितमानस, 120-27 से 28, 129-1 से 7
12. सुन्दरकाण्ड, श्री रामचरितमानस, 43-5

असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग

राजीव गाँधी विश्वविद्यालय, रोनो हिल्स, दोइमुख

ईटानगर, अरुणाचल प्रदेश-791112

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

भूमण्डलीकृत समय-समाजपूर्व के कन्नड़-हिन्दी नाटकों में अभिव्यक्त राजनीतिक संवेदना

• डॉ. मीना कुमारी

राजनीतिक संवेदना का निर्माण कैसे होता है, यह महत्वपूर्ण प्रश्न है। इस पर विचार करने से पूर्व 'राजनीति' पद के बारे में सोच-समझ की निर्मिति भी महत्वपूर्ण है। इस सम्बन्ध में अनुसंधित्सु की स्पष्ट धारणा है कि राजनीति राज्य के मामलों में, उसे निर्देशित करने में, उसकी गतिविधियों के रूप और वस्तु निर्धारण में सहभागिता है। लेनिन ने राजनीति को इसी रूप में परिभाषित किया है अर्थात राज्य के मामले में सहभागिता, राज्य के संचालन में सहभागिता और राजकीय कार्यों के स्वरूप निर्धारण में सहभागिता। इस परिभाषा में इतनी व्यापकता है कि वह समाज के प्रत्येक व्यक्ति को राजनीति के दायरे में ले आती है और उसकी सहभागिता को सुनिश्चित करती है। वैज्ञानिक रूप में इसका विश्लेषण करने वाले राजनीति के साथ राजनय को भी परिभाषित करते हैं और वे इस शब्द में केवल उन व्यक्तियों को शामिल करते हैं जो राज्य या राज-संस्थाओं के प्रतिनिधि हैं। राजनीति सामाजिक-अर्थव्यवस्था में शामिल होकर समूह या व्यक्ति की राजनीतिक-चेतना का निर्माण करती है जिसे हम अपने जीवन में भी देख सकते हैं। यदि समाज के विभिन्न वर्गों में राजनीतिक चेतना अलग-अलग है तो इसका मतलब है कि हम राजनीतिक प्रक्रिया के बारे में सही समझ रखते हैं कि हमारी राजनीति का रूप जनवर्ग के हित में हो तो इसका अर्थ है कि हम व्यवस्था को और उस पर प्रभुत्व कायम किए हुए वर्ग को पहचान रहे हैं।

हमारा यह मानना है कि नाटककार, कलाकार या सर्जना के किसी भी क्षेत्र से जुड़े व्यक्ति की एक राजनीतिक चेतना होती है। अधिक सच तो यह कि इस की राजनीतिक चेतना अधिक प्रगाढ़ होती है, क्योंकि समाज जीवन की हलचलों को और अँधेरे कुएँ से उठने वाली ध्वनि के बुलबुलों को अधिक तत्परता से ग्रहण करता है। कलाकार अपनी ग्राहक ऐन्द्रय-क्षमता के कारण आसन्न परिवर्तन को अपेक्षाकृत कुछ पहले पकड़ लेता है। यह क्षमता उसकी अपनी कमाई होती है और अपनी इस क्षमता निधि को वह यत्नपूर्वक संरक्षित भी करता है। कलाकार का अनुभव जैविक इन्द्रियों के स्तरोन्नयन का नतीजा होता है और इसीलिए वह ज्यादा दीप्त और संवेद्य होता है। इसलिए कलाकार की राजनीतिक-चेतना और वस्तुग्राही संवेद्यता आमतौर पर अधिक समुन्नत, सक्रिय और प्रभावी होती है। एक कलाकार की राजनीतिक संवेदना को पहचानने के लिए राजनीतिक घटनाओं के सन्दर्भ में लिखी गयी उसकी कृतियाँ ही सहायक नहीं होतीं, अपितु जीवन की पड़ताल करनेवाली उसकी प्रत्येक कृति इसका साक्ष्य बन सकती है। जहाँ एक कलाकार मूल्यों को निर्धारित करने की प्रक्रिया में उतरता है, उसकी राजनीतिक जीवन-दृष्टि (संवेदना) प्रकट को जाती है। भरतमुनि ने नाटककारों- कलाकारों से अपेक्षा की थी कि वे लोक के पक्ष में रहेंगे। एक प्रकार से जन उनकी प्रतिबद्धता के केन्द में होंगे। नाट्यशास्त्र ही वह आधारभूत ग्रन्थ है जो वेद विवर्जित समाज का 'पंचम वेद' है। यह उस वृहत समाज का शास्त्र है जो दुःखार्त, श्रमकातर और शोक संतप्त है, जिसमें उस समाज का ज्ञान, शिल्प, कला, कर्मयोग-सब कुछ शामिल है:

न वेदाव्यवहारोयं संश्रव्य: शूद्रजातिषु तस्मात् सृजापंर वेद पंचमम् सार्ववर्णिकम्।

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

इसीलिए उन्होंने सोचाः

दुखार्तानां श्रमार्तानां शोकार्तानां तपस्विनाम् विश्रन्तिजननंकाले, नाटयमेतद् भविष्यति। यहाँ एक प्रकार से नाटककार की राजनीतिक दिशा और उसकी प्रतिबद्धता तय कर दी गयी है। उसका पक्षधरता और सम्बद्धता किस ओर हो, यह निर्देशित कर दी गयी है। कन्नड़ और हिन्दी के आधुनिक नाटकों की प्रवृति में यह कहीं-न-कहीं शामिल है।

कन्नड़ नाटकः कन्नड़ नाटक के सम्बन्ध में हिन्दी क्षेत्र अल्पज्ञानी है, किन्तु इस अल्पज्ञातता की स्थिति में जो एक निर्विवाद रूप से सत्य है वह यह कि कन्नड़ नाट्य साहित्य अनुवाद के माध्यम से अस्तित्व में आया। यहाँ तक कि कन्नड़ का प्रथम नाटक मित्रविंदा गोविन्द संस्कृत के मूल नाटक का अनुवाद है। कन्नड़ नाट्य साहित्य के महत्वपूर्ण अध्येता बी.आर. नारायण मानते हैं कि कन्नड़ नाटक के एक रूप का विधान पारसी नाटक कम्पनियों के सम्पर्क दवारा विकसित हुआ। उन्होंने लिखा है- 'एक पारसी नाटक कम्पनी कर्नाटक आयी। उसने राजमहल में कुछ नाटकों का अभिनय किया। उससे मैसूर राजा और दरबारी बहुत प्रभावित हुए। कन्नड़ ही क्यों, सभी भारतीय भाषाओं में नाट्य साहित्य की रचना का नया अध्याय अंग्रेजों के आगमन से प्रारम्भ होता है। मद्रास में अंग्रेजों ने एक थियेटर का निर्माण करवाया जो कन्नड़ और तमिल भाषा-भाषियों को दृष्टिपथ में रखकर किया गया था। इस थियेटर की लोकप्रियता ने अनेक नाट्य कम्पनियों के गठन को प्रोत्साहित किया। पारसी कम्पनियों की सक्रियता बढ़ी। पारसी कम्पनियों शेक्सपियर के नाटकों के मंचन के लिए प्रसिद्ध हो गयीं। यद्यपि ये धनोपार्जन की ओर ही प्रवृत थीं तथापि इन्होंने जनता में नाटक और रंगमच को प्रसारित करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया। इस क्रम में कर्नाटक में हिरण्यमित्र मंडली का उल्लेख जरुरी है जिसने सामाजिक समस्याओं को प्रदर्शित करने का संकल्प लिया। उसके नाटक के विषय स्थानीय घटनाएँ होती थीं। वह मंडली लिखित नाटकों के प्रयोग से बचा करती थीं।

कुल मिलाकर ऐसा लगता है कि अंग्रेजों के सम्पर्क में आने के वाद भारतीय भाषाओं के लेखक संस्कृत नाट्य साहित्य की ओर प्रवृत्त हुए जिसके परिणामस्वरूप कन्नड़ में नाटकों की बाढ़-सी आ गयी। करीब-करीब समस्त संस्कृत नाटकों के अनुवाद धड़ाधड़ होने लगा। हिन्दी के लेखकों में भी अनुवाद की ऐसी ही प्रवृत्ति देखने को मिलती है। नाट्य साहित्य की पूर्तिसंस्कृत नाटकों के अनुवाद और आगे चलकर अंग्रेजी नाटकों के अनुवाद दवारा हुई भी। बी. आर. नारायण ने लिखा है-संस्कृत नाटकों के अनुवाद की देखा-देखी अंग्रेजी नाटकों के अनुवाद भी प्रारम्भ हुए। कुछ विद्वानों ने भावानुवाद भी प्रस्तुत किए। इसी के साथ-साथ मौलिक नाट्य लेखन में भी गति आयी। जनता के अनुरूप आरम्भ में धार्मिक, पौराणिक प्रसंगों को लेकर नाटय लेखन हुए। कुछ नाटकों में सामाजिक कुरीतियों को, तो कुछ में अंग्रेजों के अनुयायी बने भारतीयों को नाटक के विषय-केन्द्र में रखा गया। यहाँ कन्नड नाटककार कैलासम को याद करना जरुरी है जिन्होंने अपने प्रहसनों में सामाजिक विद्रूपताओं को लक्ष्य किया है। वे जीर्णशीर्ण मूल्यों को सामने रखकर नाट्यरचना करने वालों में उल्लेखनीय हैं उनके नाटकों मे बोलचाल की भाषा प्रयुक्त हुई है, पर नाटयशैली उतनी प्रौढ़ नहीं है, ऐसा कहा जाता है। कैंलासम की विशेषता नये विषय और प्रहसन के कारण है। नाटकों में राष्ट्रीय चेतना को उन्होंने प्रतिष्ठित किया। अंग्रेजी सम्राज्यवाद उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक बेकाबू हो चुका था। बीसवीं शाताब्दी के आँख खोलने के साथ शायद ही देश का कोई कोना बचा हो जहाँ उसके विरोध का स्वर न फूटा हो। कैलासम के लेखन का भी यही समय है। उसमें नवजागरण का प्रभाव अधिक है। उनकी परम्परा में ए.एन. मूर्तिराव, कस्तूरी क्षीरसागर, पर्वतवाणी आदि नाटककारों के नाम आते है. आद्य रंगाचार्य श्रीरंग के नाम से प्रसिदध हैं। उन्हें भी इसी परम्परा में रखा जाता है। अंधविश्वासों का विरोध करने कारण भी उन्हे ख्याति प्राप्त हुई। कन्नड़ नाटक को उनसे विशेष अन्तदृष्टि मिली है। कैलासम के समवय बी.एम. श्रीकण्ठ्य को यहाँ स्मरण करना जरूरी है।

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

कन्नड़ के ये सभी नाटककार नये प्रयोंगों के प्रति भले सचेष्ट रहे हों, शेक्सपियर को आदर्श मान लिया गया था। जो भी हो, उनके कई नाटक कन्नड़ के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

बीसवीं सदी के तीसरे दशक के बीतते-बीतते नाट्यकला से शेक्सपियर का प्रभाव घटने लगा। इब्सन के समस्या-नाटकों ने अब नाटककारों को प्रभावित किया। भारतीय नाट्यकला में दु:खान्त नाटकों का सृजन शेक्सपियर के प्रभाव के कारण हुआ था। इब्सन ने यथार्थवाद की ओर नाटक को मोड़ा। नाटक के विषय और विन्यास में बड़ा बदलाव आया। पात्रों के रूप बदले। आमजीवन के लोगों को पात्र के रूप में जगह मिली। लंकेश ने अपने नाटकों में समस्याओं से घिरे व्यक्ति के संघर्ष को रेखांकित किया है। इन्होंने व्यक्तित्व की समस्या को नये सिरे से उठाया है। उनके नाटकों को भाषा आम बोलचाल की है।

बी.आर.नारायण के अनुसार, श्री लंकेश नाटक को जीवन-प्रतिबिम्ब नहीं मानते, बल्कि आलोचना मानते हैं। पाखंड वे सह नहीं सकते। स्वातंत्र्योत्तर नाट्य प्रवृत्तियों का विकास इनके नाटकों में हुआ था। कालान्तर में इब्सन के प्रभाव से मुक्त होकर कन्नड़ का नया रंगमंच बना। नाटककारों की जीवन-दृष्टि को औद्योगिकीकरण और तकनीकी ने प्रभावित किया। ब्रेख्त, लोर्का, गोगोल आदि का प्रभाव इन नये नाटकों पर पड़ा। कन्नड में गिरीश कर्नाड के नाटक इसके उदाहरण बने। स्वतंत्रता के बाद नाट्यक्षेत्र में एक और बदलाव हुआ। ऐतिहासिक नाटकों की जगह इतिहास की पुनर्व्याख्या वाले नाटकों ने ली। पी. लंकेश का नाटक संक्रांति इसका प्रमाण है। बी.आर.नारायण के अनुसार, संक्रान्ति का साठोत्तर नाटकों में एक महत्वपूर्ण स्थान है। 12 वीं शताब्दी के वसण्णा को ही नायक बनाकर उन्होंने जाति विरोध का कार्य किया उसका बड़े साहस से दिग्दर्शन कराया।

एक पंक्ति में कहें तो स्वातंत्र्योत्तर नाटक की मनोभूमि ही दूसरी है। वहाँ इतिहास, पुराण माध्यम हैं मनुष्य की जटिल मनोदश के विश्लेषण या सामाजिक संघात की समस्याओं के उद्घाटन के लिए। इस क्रम में गिरीश कर्नाड का ययाति एक उदाहरण है जहाँ आदर्श और उपयोगिता का दवन्दव और मृत्यु का संत्रास विवेच्य बना है। दरअसल स्वातंत्र्योत्तर दशकों की साहित्यिक प्रवृत्तियाँ ही कन्नड़ नाटकों की प्रवृत्तियाँ हैं। मोहभंग की मन:स्थिति में उठने वालों क्षोभों का स्वर कन्नड़ नाटकों में गहरा हुआ है। कर्नाड के तुगलक में टूटते मूल्यों की कथा चलती है। इस नाटक में प्रतीक-विधान का चमत्कार है। नकली सिक्कों से भरी गाड़ी, शतरंज का खेल, बादशाह आदि प्रतीक के रूप में है। नाटकों में भी नाटकों का यही युग है। इस युग के लोकनाट्यों में भी एब्सर्ड नाटक के तत्व प्रभावी हुए हैं जैसे चन्द्रशेखर कँवर के नाटक राजकुमार स्वामी का नाट्य विधान है। पीं लंकेश, चन्द्रशेखर पाटील, कुसुनूर के नाटकों मे एब्सर्ड नाटक के तत्व मौजूद हैं। कन्नड़ नाटक का नया रूप जो पाश्चात्य नाटक और लेकनाटक के समन्वय से विकसित हुआ है, उसे गिरीश कर्नाड और बी.बी. कांरत के नाटकों के माध्यम से पहचाना जा सकता है। इनके नाटकों मे साहित्यिकता और अभिनेयता की अदभुत संगति है। मंचकला की प्रयोगशीलता भी यहाँ मौजूद है। कन्नड़ के अन्य नाट्यरूपों में ऑपेरा, एकांकी और रेडियो रूपक उल्लेखनीय हैं। ऑपेरा के लिए पी.दी. नरसिंहाचार और शिवराम कांरत की रचनाएँ हमारे सामने उदाहरण हैं। रेडियो नाटकों के लिए मस्ती एंव एन.एन शिवस्वामी के नाम लिये जाते हैं।

कन्नड़ में राजनीतिक संदर्भों पर लिखे गए नाटकों की संख्या कम नहीं हैं। साठोत्तर नाटकों मे राज्य की गतिविधियाँ, आन्दीलनों की धमक, व्यवस्था की मूल्यहन्ता स्थितियाँ, लोकतंत्र की असफलताएँ और भुमण्डलीकरण की राजनीति ज्यादा होकर व्यक्त हुई है। इन नाटककारों ने अपनी राजनीतिक संवेदना उन नाटकों में भी उड़ेली है, जहाँ वे ऐतिहासिक-पौराणिक कथानक लेकर नाट्य-रचना कर रहे हैं या लोककथाओं को नाट्य-रचना का रूप दे रहे हैं। डॉ. गिरीश रस्तोगी लिखती हैं, पूरे

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

भारतीय सन्दर्भ में देखें तो ऐतिहासिक पौराणिक कथानकों को आधार बनाकर नाटक लिखे गये-तुगलक...ययाति...आदि, लेकिन इन सभी में इतिहास या पुराण की प्रस्तुति और उसमें वर्तमान की समस्याओं को-पुनर्जागरण और सांस्कृतिक चेतना को-पिरो देना भर नहीं है, बल्कि यहाँ उसे मानव के आन्तरिक सत्य से जोड़कर ज्यादा सार्थक सम्बन्ध स्थापित किया गया है। नाटककार की राजनीतिक-संवेदना भी इसी सम्बन्ध को स्थापित करती है।

गिरीश कर्नाड का नाटक नागमंडल, जो कई लोककथाओं को समेटकर अपना आधार खड़ा किए हैं, कई कारणों से अदभुत बन गया है। इसमें खूब कौतूहल है। इसकी प्रस्तावना में एक पात्र कहता है, मै अभी थोड़ी देर में ही मर सकता हूँ। (रुककर) नाटक की मृत्यु नहीं, असली मृत्यु। आप लोगों के आँखों के सामने ही मेरे प्राण-पखेरू उड़ सकते है कौतूहल, कौतूहल, कदम-लक्ष्य पर कौतूहल। इसमें एक पात्र है-रानी। उसे साँप से गर्भ रह गया है। एक पात्र है-कहानी जो अपने परिचय में बार-बार कहती है- मैं जो रानी की कहानी.... रानी को पता नहीं कि गर्भ साँप का है। कल्पना करना मुश्किल है कि किस मनोभूमि में नाटक लिखा गया ? इतना वैविध्य है कि क्या पूछना ? यह वास्तव में चकित-मथित देनेवाला नाटक है। इसमें एक पात्र नागप्पा है जो खड़े-खड़े अप्पण्णा बन जाता है। सत्य और मिथ्या की आँख-मिचौली रहती है।

कर्नाड के एक और नाटक का जिक्र जरूरी है जिसका नाम है-अग्नि और बरखा। इस नाटक के केन्द्रबिन्दु में महाभारत का वनपर्व है। अतीत से वर्तमान की ओर लौटना, पौराणिक कथानकों से आधुनिक बोध का स्वरूप निर्धारित करना और सामन्तपूर्व की राजनीति में आज की राजनीति को पिरोना, यह जटिल चुनौती सर्वत्र दिखाई पड़ती है। इस नाटक में भी पति-पत्नी पर प्रश्नचिह्न है। पहचान का संकट यहाँ भी उपस्थित है। अरवसु अपना प्रतिबिम्ब और अपना चेहरा लेकर असमंजस में है-मेरा अपना ही चेहरा, एक बार में बहुत बीमार था तोप्रायः एक दुःस्वप्न देखा करता था और में चीख पड़ा था-मेरा चेहरा, मेरा प्रतिबिम्ब, मेरा चेहरा मेरा प्रतिबिम्ब, मेरा चेहरा। कर्नाड सम्पूर्णता को सवत्र तलाशते हैं और सर्वत्र अधूरेपन का अनुभव करते हैं। यह अधूरापन उन्हें समाज में दिखाई पड़ता है और यही उनकी राजनीतिक-चेतना का भी यथार्थ है।

नागमंडल के लिए एक लोककथा को कर्नाड ने विकसित किया है, उसी लोककथा के आधार पर विकसित चंद्रशेखर कंबार का नाटक है- सिरि संपिगे। कीर्तिनाथ कुर्तकोटी ने इस नाटक पर टिप्पणी करते हुए लिखा है, मानव जीवन के सत्य को उघाड़कर दिखाने में यह नाटक यशास्वी है। इस दृष्टि से यह सम्पूर्ण कन्नड साहित्य में ही एक श्रेष्ठ नाटक का एक पात्र जबलि कहता है, मेरे हिसाब से देह का मतलब केवल खाली पेट है और आत्मा का मतलब भरा पेट है। तुम्हारा क्या कहना है ? 11 जबलि की इस जीवन-दृष्टि में यथार्थ की दीप्ति है। कन्नड़ नाटक इसी यथार्थ का दीप्ति से भास्वर हैं।

हिन्दी नाटक

कन्नड की भाँति हिन्दी में नाटक का आधुनिक युग अनुवाद किया जिसमें विद्यासुंदर, मुद्राराक्षस, कर्पूर मंजरी और रत्नावली के अनुवाद विशेष चर्चित हुए। हिन्दी क्षेत्र में भारतेन्दु से पहले रामलीला, रास, धमार, पड़, कठपुतली आदि का प्रचलन था और कर्नाटक में यक्षगान की परम्परा थी। इन लोकनाट्यों में पेशेवर नाट्य कम्पनियों ने राजा गोपीचंद, इंदरसभा आदि नाटकों के मंचन से हिन्दी जनता को परिचित कराया था। इन कम्पनियों में ओरिजिनल नाट्य कम्पनी, जुबिली कंपनी, व्याकुल भारत कंपनी आदि प्रमुख हैं। जिस तरह कन्नड लेखकों ने अपने नाट्य साहित्य को समृद्ध करने के लिए संस्कृत के साथ-साथ अंग्रेजी नाटकों का अनुवाद किया था, वैसा ही यत्न हिन्दी में हुआ। भारतेन्दु ने शेक्सपियर के नाटक मर्चेन्ट ऑफ वेनिस का अनुवाद दुर्लभ बंधु नाम से किया। इस अनुवाद की विशेषता यह है कि इसमें पात्रों और स्थानों के नामों का भारतीयकरण कर दिया गया है। इसमें वेनिस वंशपुर, एण्टोनियो अनंत, वेसेनिओ वसंत, पोरसिया पुरुश्री हैं। इस भारतीयकरण

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

के बावजूद नाटकों का शिल्प शेक्सपियर से बुरी तरह प्रभावित था। नेमिचन्द्र जैन ने लिखा है, उन्नीसवीं शताब्दी में, अंग्रेजों के देश में पैर जमने और इनके दमनकारी औपनिवेशिक साम्राज्य की स्थापना होने के साथ नाटक लेखन की फिर शुरुआत हुई-संस्कृत में नहीं, देश की विभिन्न क्षेत्रीय भाषाओं में। पर यह हमारे देश की अपनी नाट्य परम्परा का विस्तार या अगला चरण नहीं, बल्कि पश्चिमी नाटकों की, विशेषकर शेक्सपियर और मौलिक की रचनाओं की, लगभग दासतापूर्ण नकल भर थी।

भारतेन्दु ने अंग्रेजी, संस्कृत और बाङ्ला नाटकों का अनुवाद तो किया ही, खास बात यह है कि उन्होंने मौलिक नाटक भी लिखे। महत्वपूर्ण बात यह है कि उन्होंने लगभग कोरी पाटी पर एक सक्षम व्यंजना नाटकीय भाषा तैयार की और अपने बहुमुखी रंगीले व्यक्तित्व से न केवल नाटक, कविता, और रचना की, साहित्यिक पत्रिकाएँ निकालीं, बल्कि प्रतिभाशाली लेखक-अभिनेताओं की एक अव्यावसायिक नाटक मंडली भी बनायी जो उनके तथा मंडली के अन्य सदस्यों दवारा लिखे नाटकों का मंचन करती थी। (वही, पृ66) भारतेन्दु का व्यक्तित्व सबसे अलग है। उन्होनें नाट्य-लेखन, अभिनय और थियेटर संस्थान से लेकर नाटयमण्डयों के गठन में अपना जीवन खपा दिया। उन्होंने सामाजिक विषयों पर नाटक लिखे और पौराणिक-ऐतिहासिक नाटकों को यथार्थवादी दृष्टि से जोड़ा। उनके नाटकों में सत्य हरिश्चन्द्र, वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, विषयस्य विषमौषधम, नीलदेवी, भारत दुर्दशा, प्रेमयोगिनी आदि उल्लेखनीय हैं। मुगल शासन का समूचा दौर और फिर अंग्रेजों के शासन का लम्बा समय नाट्य रचना की दृष्टि से रचना-विरोधी समय है। ऐसे समय में भारतेन्दु का आना अंधकार के बीच सूर्य के उगने जैसा है। डॉ. गिरीश रस्तोगी ने लिखा है- अपने युग में भी नाट्यविधा की दृश्यात्मकता और उसकी रंगमंचीयता को जितनी निष्ठा और सक्रियता से भारतेन्दु ने पहचाना और उसे उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया वैसा कोई अन्य नाटककार आज तक नहीं कर पाया। (समकालीन हिन्दी नाटक की संघर्ष चेतना, पृ.5) नेमिचंद्र जैन के शब्दों में- दुर्भाग्यवश, उनकी 35 वर्ष की अल्पायु में ही मृत्यु हो गयी और उनके सहयोगी और उत्तराधिकारी नाटककार रंगकर्मी सृजनात्मक ऊर्जा और उत्कृष्टता का यह स्तर नहीं बनाये रख सके। इसके अतिरिक्त हिन्दी नाटक को एक भारी धक्का बम्बई और कलकत्ता की पारसी नाटक मंडलियों के उभरने से लगा...। इस दीवार की जयशंकर प्रसाद जैसा प्रतिभाशाली कवि-कथाकार भी न तोड़ सका, क्योंकि नाटकों और नाटककारों के सम्पोषण के लिए कोई समर्थ रंगमंच मौजूद नहीं था।

भारतेन्दु की नाट्य परम्परा में श्रीनिवासदास, शालिग्राम, विष्णुगोविन्द शर्मा, बालकृष्ण भट्ट, लाला देवराज आदि के नाम आते हैं। ये नाटककार धार्मिक-पौराणिक विषयों को लेकर लिख रहे थे। राधाकृष्णदास, राधाचरण गोस्वामी, सैय्यद शेर अली, गंगाप्रसाद गुप्त आदि विषयों को लेकर लिखनेवाले नाटककार थे। बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में राष्ट्रीय-चेतना के प्रगाढ़ होने के साथ नाट्य-रचना में इस चेतना का सही पल्लवन हुआ। यह चेतना प्रसाद के नाटकों में प्रौढ़ हुई है।

प्रसाद के नाटक अपने युग की अभिव्यक्ति है। उनमें तत्कालीन राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना का उज्जवल स्वरूप है। इतिहास वहाँ मात्र आधार नहीं है, बहाना नहीं अनिवार्यता है-युग की, वर्तमान-भविष्य की। नाट्य लेखन की दृष्टि से प्रसाद युग एक नयी दृष्टि लेकर उपस्थित है। अतीत को गौरवान्वित करने का यत्न इस नाट्य-चेतना की विशेषता है। प्रसाद की पंक्ति में हरिकृष्ण प्रेमी का नाम भी लिया जा सकता है। वैसे यह पूरा युग जी.एल.राय की भाषा-शिल्प से प्रभावित है। प्राय:सभी भारतीय भाषाओं में इस प्रवृत्ति वाले नाटक मिलते हैं। ये नाटक भारतेन्दु के अंधेर नगरी की प्रवृत्ति से बिल्कुल अलग है क्योंकि अंधेर नगरी की विषय-वस्तु सर्वथा आलोचनात्मक है। उसमें प्रहार है, सत्तावर्ग पर व्यंग्य है। प्रसाद के बाद हिन्दी में इब्सन के प्रभाव वाले समस्या प्रधान नाटक लिखे गए। लक्ष्मीनारायण मिश्र इस प्रकार के अद्भुत नाटककार हुए। उन्होंने संन्यासी, राक्षस का मन्दिर और सिन्दूर की होली में सामाजिक समस्याओं को केन्द्रित किया। गोविन्द वल्लभ पंत और उपेन्द्रनाथ अश्क में नाटक के साहित्यिक और रंगमचीय सम्भावनाओं की सघन दृष्टि पाते हैं। उनके अनुसार, उपेन्द्रनाथ

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

अश्क और उनसे भी अधिक जगदीशचन्द्र माथुर इस दिशा में सबसे आगे थे। जहाँ अश्क के अलग-अलग रास्ते और भँवर जैसे नाटकों में सीधी-सरल सामाजिक या वैयक्तिक उलझनों को पेश किया गया है, वहीं जगदीशचन्द्र माथुर के कोणार्क और शारदीय सृजनात्मक ईमानदारी और राज्य के हस्तक्षेप के बीच.. कशमकश या अन्तर्विरोध की पड़ताल है।

हम अनुमान कर सकते है इन नाटकों का केन्द्र कहाँ है। स्वतंत्रता के पूर्व और दूसरे महायुद्ध के बीच जन नाट्य संघ और पृथ्वीराज कपूर के प्रयास रंगमंच के इतिहास में उल्लेखनीय हैं। स्वतंत्रता के पश्चात धर्मवीर भारती, मोहन राकेश, लक्ष्मीनारायण लाल एक नयी रंगचेतना के साथ मंच पर उतरे। इनके नाटकों मे मनुष्य की मनोवृत्तियों को पौराणिक-ऐतिहासिक चरित्रों के माध्यम से विश्लेषित किया गया है। नाट्य-लेखन में यहाँ से नया अध्याय जुड़ता है। आषाढ़ का एक दिन में कालिदास के माध्यम से एक खण्डित व्यक्तित्व की परिकल्पना प्रस्तुत है। इस नाट्य प्रवाह पर नेमिचन्द्र जैन लिखते हैं- ये नाटक साहित्य और रंगमंच दोनों ही दृष्टियों से एक नये प्रस्थान को सूचित करते हैं। इस प्रस्थान के साथ जो नाटक आए उन्होंने इतिहास की पुनर्व्याख्या की और व्यवस्था से मोहभंग को मुखर किया। कुमार अग्रवाल, लक्ष्मीनारायण लाल, सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों में यह प्रवृत्ति मौजूद है। हिन्दी के एब्सर्ड नाटकों की लम्बी सूची है जो शायद भुवनेश्वर के ताँबे के कीड़े से शुरू होती है। हिन्दी के एब्सर्ड नाटक लोर्का, ब्रेख्त आदि से प्रभावित हैं जिनका व्यापक प्रभाव पड़ा।

अन्य नाट्य रूपों में काव्य-रूपक हिन्दी में खूब लिखे गए हैं। अंधायुग एक काव्य-रूपक है। दुष्यन्त कुमार, अज्ञेय, भारतभूषण अग्रवाल आदि के काव्य-रूपक उल्लेखनीय हैं। अंधायुग में लोकनाट्य के तत्त्व विशेष रूप से मौजूद हैं। हिन्दी एकांकी पर रामकुमार वर्मा का एकाधिकार हैं। सुमित्रानन्द पंत के रेडियो रूपक लोकप्रिय हुए हैं। नक्सली आन्दोलन से जुड़े नुक्कड़ नाटकों का प्रभाव भी समकालीन रंगकर्म पर पड़ा है।

सन 1950 के बाद हिन्दी नाट्य-लेखन के श्रेत्र में सर्जनात्मकता का विस्फोट हुआ। परिणामस्वरूप अंधायुग (1954), धर्मवीर भारती), आषाढ़ का एक दिन (मोहन राकेश) 1957, और मादा कैक्टस (1957), लक्ष्मीनारायण लाल) जैसे नाटक लिखे गए। ये तीनों नाट्य सर्जन की दिशा में क्रान्तिकारी सिद्ध हुए। साठोत्तर नाटकों पर इनका गहरा प्रभाव पड़ा। काव्य नाटक 'अन्धायुग' की संवेदना युद्धों की राजनीति के कार्य-कारण सम्बन्धों पर टिकी है। द्वितीय विश्वयुदध के बाद मनुष्य के परिवर्तित बोध व्याख्या करना इस नाटक कृति का ध्येय है। धर्मवीर भारती ने देखा कि विश्वभर के राजनेता कैसे महाभारतकालीन सत्ताधीशों की प्रवृत्ति से ग्रस्त हैं, कैसे उन पर धृतराष्ट्र सवार है, क्यों वे परमाणु-विस्फोट जैसे जघन्य अपराध में शामिल हुए, मनुष्य मात्र को भयग्रस्त रखने का उनका इरादा क्यों है ? वे अन्तरराष्ट्रीय राजनीति और मनुष्य के बीच फैली युद्ध की विभीषिका में भक्ष्य होते मानव भविष्य की कल्पना करते-करते अंधायुग का अवतरण करने लगे। इसीलिए उन्होंने महाभारत की कथावस्तु को अपने समय की व्याख्या के लिए चुना। धर्मवीर भारती के सामने विश्वयुद्ध भारत-विभाजन और स्वतंत्र्योत्तर गृहयुद्ध जैसी घटनाएँ थीं। युद्ध (हिंसा) की असामान्यता का अनुभव करते हुए वे व्यग्र थे। यही व्यग्रता इस क्रान्तिकारी सर्जनात्मकता का कारण बनी। अंधायुग का नाट्यकार एक ओर अश्वत्थामा से कहलाता है- उस जिन से मेरे भीतर भी जो शुभ था कोमलतम था उसकी हत्या युद्धिष्ठिर के अर्धसत्य ने कर दी (अँधायुग, 36) तो दूसरी ओर युयुत्स कहता है- अन्तिम परिणति में दोनों जर्जर करते हैं पक्ष चाहे सत्य का हो या असत्य का 957) राजनीति ने कैसे नैतिकता को तिलांजलि दे दी है, यह अंधायुग दर्शाता है। दोनों पक्षों की राजनीति का यही सत्य है। युयुत्स का आत्महत्या प्रसंग तो रौंगटे खड़े करने वाला है। अंधायुग के इसी पात्र को भारती ने महाभारत के युयुत्स से अलग किया है, शेष पात्र तो महाभारत जैसे ही हैं।

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

आषाढ़ का एक दिन कालिदास के जीवन पर केन्द्रित है। सच यह है कि इस नाटक का कालिदास पूरी तरह कल्पित हैं और उसके चरित्र को इस तरह से खड़ा किया गया है कि दर्शक इस नाटक में कालिदास को महाकवि कालिदास से अलग नहीं कर पाता। नाटक की वास्तविक समस्या आधुनिक संकट से मुक्ति का रास्ता निकालना है। यह आधुनिक संकट क्या है, इसकी एक पहचान नाटक में इस रूप में मिलती हैं कि राजनीतिक सत्ता और व्यक्ति के बीच विसंगति अपरिहार्य है। राजनीतिक संवेदना का रूप इस नाटक में दिखाई पड़ता है, वह यह है कि सत्ता और आत्मीय सम्बन्ध एक-दूसरे के लिए नहीं हैं। राजनीति कालिदास को बदल डालती है, वह मल्लिका को ही नही, अपनी सर्जनात्मकता भी खो बैठता है, और अन्त में राज्य भी उसके हाथों से निकल जाता है। वह नेपथ्य में चला जाता है। कालिदास, सत्तावर्ग का प्रतिनिधि है। यह नाटक हिन्दी नाट्य साहित्य में बेजोड़ माना जाता है। इसमें संवेदनशीलता को चरम तक पहुँचा दिया गया है। इसमें जीव-यथार्थ को परत-दरपरत उकेरा गया है और प्रत्येक परत ऐसे जीवन-बिम्ब के रूप में दिखायी गयी है कि आधुनिक जीवन का सच सामने आ जाता है।

मादा कैक्टस में लक्ष्मीनारायण लाल नये-पुराने मूल्यों के द्वन्द्व से जन्मी विसंगतियों को सामने रखते हैं। ये विसंगतियाँ नयी पीढ़ी के व्यक्तित्व के अन्तर्विरोध के रूप में होती है और अनास्था को जन्म देती हैं। यह सामाजिक समस्या प्रधान नाटक है पलायन की समस्या का समाधान खोजता है। वस्तुतः यह नाटक अपने प्रतीक-विधान के कारण विशिष्ट माना गया है। डॉ. गिरीश रस्तोगी के शब्दों में-प्रतीकों के माध्यम से इस नाटक में पुरानी पीढ़ी और नई के, प्राचीन और नवीन मूल्यों के आपसी संघर्ष को दिखाकर नये को ग्रहण करने और प्राचीन के प्रति आस्था रखने वाले के सामने एक प्रश्न उठाया गया है। डॉ. रस्तोगी ने इस के विशिष्ट शिल्प पर लिखा है, दर्शकों से पात्रों के सीधे संवाद, दर्शक का पूरे नाटक में शरीक होते जाना, नाटक को साक्षात्कार के अर्थ में लेना आदि ऐसे तत्व थे जिन्होंने उस आरम्भिक काल में डॉ. लाल की जागरुकता का परिचय दिया।

सन 1963 में दुष्यन्त कुमार का काव्य नाटक एक कंठ विषपायी प्रकाशित हुआ जिसमें राजनीतिक संवेदना की गहनता से साक्षात्कार हुआ। दुष्यन्त कुमार के सामने एक ओर युद्धों की विभीषिका थी, तो दूसरी ओर परम्परा का गुरु गम्भीर दबाव था। ऐसे में स्वस्थ राजनीति और मानवीय मूल्यों के लिए चिन्ता का होना स्वाभाविक था। दक्ष-कथा को अपने काव्य-नाटक का आधार बनाते हुए दुष्यन्त कुमार ने विषपायी की समस्या को, उसकी पीड़ा को पहचाना। दुष्यन्त कुमार का विषपायी कौन है, हम हैं। हम रूढ़ियों के शव ढोते हैं। हम इस नाटक में अपने व्यक्तित्व के कई आयाम देखते है जो विध्वंसक, संवेदनशील और परम्पराग्रस्त भी है। इन तीनों व्यक्तियों को शिव में देखते हुए दुष्यन्त ने समझाया है कि युद्ध का हल युद्ध नहीं है। वे युद्ध को हिंसा की राजनीति से, अपमान की राजनीति से जोड़ सकते हैं। नाट्य विशेषज्ञों ने रंगमंच की दृष्टि से इस नाटक को बहुत सफल नहीं माना है।

लहरों के राजहंस (1963) को कथ्य और रंगमंचीय समृद्धि के लिए साठोत्तर नाटकों में महत्वपूर्ण माना जाता है। मोहन राकेश का यह नाटक अस्तित्ववादी जीवन-दृष्टि पर केन्द्रित है। तीन अंकों के इस नाटक की कथा कपिलवस्तु के राजकुमार नन्द के बौद्धभिक्षु बनने की कथा से जुड़ी है। दूसरी ओर रूपगर्विता उसकी सुन्दर पत्नी है जिससे नाटक में द्वन्द्व का सूत्रपात होता है। यहाँ नाटककार दो दृष्टियों को नन्द सुन्दरी के रूप में आमने-सामने खड़ा करता है। दूसरे अंक में नन्द का आत्मसंघर्ष बड़ा ही रोचक है। तीसरे अंक में नन्द का बौद्धभिक्षु बनना दिखाया गया है। पहले दो अंक ही विशेष प्रभावक हैं। तीसरे अंक में अपार्थिव की खोज के कारण अपेक्षित प्रभाव नहीं बन पाता।

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

साठोत्तर नाटकों में शुर्तुमुर्ग (1976) की चर्चा रचनाकाल से ही होने लगी। कुर्सी के लिए सत्ताधारियों की राजनीति, जिसे दुर्नीति कहना अधिक उपयुक्त है, शुर्तुमुर्ग के माध्यम से अभिव्यक्ति पा सकती है। ज्ञानदेव अग्निहोत्री के इस नाट्यकृति को व्यंग्य-प्रधान प्रयोगवादी नाटक माना जाता है। सत्ता के साथ गठजोड़ बनाये चरित्रों की इस नाटक में बड़ी नाटकीय छवियाँ प्रस्तुत हैं। यह प्रतीक-नाटक भी है क्योंकि इसमें शुर्तुमुर्ग पलायन और अवसर की तलाश में लगे लोगों का प्रतीक बनकर आया है। नाटककार शुर्तुमुर्ग को गर्त में गिराकर इस शुर्तुमुर्ग प्रकृति का परिणाम संकेतित करता है। मगर नाटक का उद्देश्य इतना भर बताना नहीं है। यह नाटक इस ओर भी संकेतित करता है कि कैसे इस प्रवृत्ति के लोग राजनीति के सूत्र थामे हुए हैं और देश को अपना वंशज समझ रहे हैं।

शुर्तुमुर्ग के पात्र है-राजा, रानी, रक्षामंत्री, महामंत्री, विरोधी राम, दासी, मरता हुआ मनुष्य। इन पात्रों के माध्यम से नाटकों की प्रकृति को समझा जा सकता है। नाटक में राजा सोने के शुर्तुमुर्ग की प्रतिमा स्थापित करने का संकल्प करता है और शुर्तुमुर्ग की जय-जयकार होने लगती है। नाटक की संवाद योजना देखिए:

भाषणमंत्री-(सोल्लास) शुर्तुमुर्ग की...

सबलोग-जय हो

भाषणमंत्री-शुर्तुमुर्ग की...

सबलोग-जय हो

विरोधीलाल शुर्तुमुर्ग की प्रतिमा स्थापित किए जाने का विरोध करते हैं और जनता को अपने साथ जोड़ते हैं। जनता विरोध में शुर्तुमुर्ग मुर्दाबाद के नारे लगाती है। जनता की आवाज राजा के कानों तक जाती है और राजा भाषणमंत्री को इस नारे का पीछा करने को कहते हैं। भाषणमंत्री विरोधीलाल और जनता के मिजाज की जानकारी राजा को देते हैं। इसके बावजूद राजा शुर्तुमुर्ग की प्रतिमा का निर्माण पूरा करने का आदेश होता हैं। इस प्रकार नाटककार की राजनीतिक संवेदना जनविरोधी शासन-तंत्र की हठधर्मिता के विरोध में क्रियाशील होती है। लोकतंत्र में कुछ भी ठीक नहीं है- यह इस नाटक में उदघाटित होता है। राजा के मंत्री यंत्रकी तरह हैं। विपक्ष सत्तालोलुप है। विपक्ष की सत्ता लोलुपता को इस नाटक में बड़ी नाटकीयता के साथ प्रस्तुत किया गया है।

राजा:.. क्या आप शुतुरनगरी के विकासमंत्री बनना पसन्द करेंगे ?

विरोधीलाल: (अचानक जैसे पिघल गया हो) महाराज ...मै...मै...

राजा: (गरजकर) मेरे प्रश्न का उत्तर दीजिए। क्या आप शुतुरनगरी के विकासमंत्री बनना पसंद करेंगे ?

विरोधीलाल: (हकलाकर) महाराज... आप महाराज... आप पहले व्यक्ति हैं जिसने मेरी प्रतिभा पहचाना हैं।

नि:सन्देह शुर्तुमुर्ग में भारतीय लोकतंत्र की कलई खोली गई है। संसदीय लोकतंत्र के हथकंडों को नाटककार ने जनता के सामने रख दिया है। व्यंग्य और कटाक्ष भी जमकर किया गया है। मामूलीराम और राजा के बीच का संवाद यह प्रकट करता है कि कैसे बाहरी हमलों का भय दिखाकर सत्तावर्ग जनता का ध्यान वास्तविक समस्याओं की ओर से विमुख करते हैं। इस नाटक का मामूली राम, जो जनता का प्रतिनिधि है, बाह्य आक्रमण की खबर सुनते ही देश पर मर-मिटने को तैयार हो जाता है। सता का चरित्र बताते हुए नाटक की स्थिति पर भी डाला गया है।

भाषणमंत्री: लगभग दस नागरिक मरे पड़े थे। द्वारपाल का कहना है कि वे भूख लगने से मर गये।

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

राजा : भूख लगने से मर गये ? परन्तु वे अपने घर भोजन करने को जा सकते थे ?

भाषणमंत्री: महाराज, द्वारपाल कहना है कि उनका कोई घर ही नहीं है।

राजनीतिक संवेदना प्रधान नाटकों मे कोणार्क (जगदीशचन्द्र माथुर) शोषण के विरुद्ध प्रतिशोध की चेतना लेकर आया था। 1960 पूर्व के नाटकों में कोणार्क महत्वपूर्ण स्थान रखता है। साठोत्तर नाट्य-प्रवाह का एक पड़ाव है, सर्वेश्वर का व्यंग्य-नाटक बकरी। दो अंको और तीन-तीन दृश्यों में बँधे इस नाटक के द्वारा आज की राजनीतिक व्यवस्था पर गहरा सर्जनात्मक हस्तक्षेप किया गया है। इसमें जनता पर हो रहे अन्याय के कारणों की गहन छानबीन की गयी है। इसकी राजनीतिक संवेदना दर्शक के पक्ष में है और नाटक रचनात्मक विद्रोह को अन्तस्थल में संचरित करने में सफल हुआ है। सत्तावर्ग कैसे बकरी के साथ गाँधीजी का नाम जोड़कर अपना उल्लू सीधा करता है, इसी का ताना-बाना पूरे नाटक में बुना गया है। इसी क्रम में लक्ष्मीनारायण लाल के नाटक एक सत्य हरिश्चन्द्र की गणना की संघर्षगाथा पर आधारित है जो देखते ही देखते जनता के संघर्ष की कथा में रूपान्तरित हो जाती है। इस नाटक में देवघर जनता का सेवक है, किन्तु वास्तव में वह जनता का स्वामी बन बैठा है। सपोले, जीवन उसके सहयोगी है जो जनता को क्रान्ति के मार्ग से दूर करने जा रहे हैं। जीवन-सत्य को नहीं मानता। उसकी नजरों में जो आज सत्य प्रतीत हो रहा है, वह कल झूठ हो जाएगा। जीवन के शाश्वत नियम परिवर्तन के अनुसार यहाँ सभी कुछ परिवर्तनीय है। वह कहता है:

सच जैसी कैई चीज नहीं होती। जो आज सच है, वही कल झूठ हो जाएगा। हर क्षण पृथ्वी घूम रही हैं। हर चीज यहाँ बदल रही है।...

दूसरी ओर लोका कहता है: वह राजा ही कैसा जो सिंहासन से चिपका हो।

यह नाटक सन 1976 में प्रकाशित हुआ। इसमें सत्ता की विचारधारा और उसकी विरोधी विचारधारा का स्वर समान भाव से प्रसरित हुआ। देश में इसमें सत्ता की विचारधारा और उसकी विरोधी विचारधारा का स्वर समान भाव से प्रसरित हुआ। देश में इन्दिरा गाँधी का शासन था। इस नाटक में में इस शासन की प्रवृत्तियों पर निशान साधा गया। मधुकर के नाटकों की राजनीतिक संवेदना बेहद सधी हुई है। वे रसगंधर्व रचें अथवा बुलबुल सराय, उनका लक्ष्य होता है-मनुष्य की संघर्ष-शक्ति को जाग्रत करना। इसके बिना वह परिवर्तन की प्रक्रिया को दिशा नहीं दे सकता। अपने नाटक को स्वर्ग में नहीं बदल सकता। उनके नाटक रस गंधर्व का अन्तिम अंश पढ़कर उनके स्वर का अनुमान लगाया जा सकता हैं।

सब (एक साथ) गंधर्व नहीं हैं। हम मनुष्य हैं कि युद्ध में न देवताओं की विजय होती हैं और न दानवों की, मनुष्य के संकल्पों की विजय होती है।

सब गायक मंडली के साथ गाते हैं: जय हो मनुष्य महाबली की जय हो।

दया प्रकाश सिन्हा का नाटक कथा एक कंस की में राजनीतिक संवेदना का क्षेत्र अत्यन्त विस्तीर्ण है। आपातकाल को अपनी नाट्य-वस्तु का आधार बनाकर श्री सिन्हा ने सन 1974 में इसका प्रणयन किया। यह नाटक वर्तमान के गुण-दोषों का नाटक बनकर चर्चित हुआ। संसदीय लोकतंत्र के सर्वाधिक विवादास्पद निर्णय पर अंगुली रखने वाले इस नाटक में कृष्ण की वंशी जनविद्रोह का वाद्य बन गयी है।

यक्ष प्रश्न और उत्तर युद्ध लक्ष्मीनारायण लाल के दो नाटक हैं। यो नाटक कई महत्वपूर्ण सवाल उठाते हैं। शक्तिहीन और शक्तिशाली के बीच मैत्री कैसे सम्भव है ? अन्याय को सहना कौन-सी वीरता है ? ये प्रश्न इन नाटकों की प्रकृति तय करते

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

है। मोहन शाह के नाटक युद्ध मन में की राजनीति का बहुत कुछ शामिल है। जैसे-युद्ध का फायदा उठाते राजनेता, व्यापारी, फौजी अफसर, देश की झुठी सुरक्षा का स्वाँग आदि गिरिराज किशोर के नाटक प्रजा ही रहने दो का आधार महाभारत की कथा भले हो, वास्तव में यह समकालीन राजनीति का चेहरा पढ़ने वाला नाटक हैं। उनका दूसका नाटक घास और घोड़ा न्यायालयों की विद्रूपता पर प्रहार है। सुरेन्द्र वर्मा के नाटक छोटे सैय्यद और बड़े सैय्यद में साम्प्रदायिक एकता का सद्भाव अभिव्यक्त हुआ है। रामेश्वर प्रेम के नाटक अज्ञातघर को प्रतीक रूपक माना गया है। यह नाटक मुक्तिबोध की कविता अंधेरे में की याद दिलाता है। उनका कैम्प भी व्यवस्था-विरोध के लिए जाना जाता है। शंकर शेष के चर्चित नाटक रक्तबीज में सम्बन्धों के इस्तेमाल को बडे मुखर ढंग से दिखाया गया है। इसमें पत्नी भी इस्तेमाल की वस्तु बन गई है। पोस्टर नाटक में शेष ने आदिवासियों की सामूहिक शक्ति को संगठित करके उनके श्रम-शक्ति के रूप में खड़ा किया है। डॉ. नरेन्द्र कोहली के दो नाटक हत्यारे और निर्णय रुका हुआ मूल्यहंता परिस्थितियों के चितेरे हैं।

इसी क्रम में विशाल गुप्त का एक नाटक है-आपके कर कमलों में। यह विधायक रघुनाथ की कथा पर आधारित है। किरण चन्द शर्मा का नाटक बीमार का सूत्रधार अंधेर नगरी की याद दिलाता है। भीष्म साहनी का नाटक मुआवजे में साम्प्रदायिक दंगे से ग्रस्त शहर की मनोदशा का दिलचस्प चित्रण है। स्वदेश दीपक का नाटक कोर्ट मार्शल ऊँची जातियों द्वारा किए जा रहे अन्याय पर केन्द्रित है। नन्दकिशोर आचार्य का नाटक हस्तिनापुर वर्ण-व्यवस्था और स्त्री की प्रधानता या अधीनता से जुड़े विवादों पर केन्द्रित है। यादवेन्द्र चंद्र शर्मा का नाटक 'आखिरी मंजिली' आज के जीवन के कटु-यथार्थ का उद्घाटन करता है। राजनीतिक-संवेदना जीवन से ओत-प्रोत दूसरे महत्वपूर्ण नाटक हैं-काल कोठरी (स्वदेश दीपक), शकुन्तला का विद्रोह (श्री भगवान सिंह), भूख आग है (कृष्ण बलदेव वैद्य) आदि।

निष्कर्षत: स्वातंत्र्योत्तर कन्नड़-हिन्दी नाटक व्यवस्था-विरोध का स्वर बन गया है। नाटककारों की समाजवैज्ञानिक-संवेदना विविध स्तरों पर इन नाटकों में सक्रिय है। राजनीतिक-संवेदना जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सक्रिय होती है और व्यक्ति-समाज के सम्बन्ध को परिभाषित करती है। उसका विस्तार अन्य विषयों पर केन्द्रित नाटकों में देखा सकता जा सकता है। हिन्दी और कन्नड़ नाटक एक साथ मंचित हो रहे हैं। गिरीश कनार्ड, बी.बी. कांरत चन्द्रशेखर काम्नार आदि हिन्दी क्षेत्र में हिन्दी नाटककारों से कहीं ज्यादा चर्चित हैं। वे हिन्दी क्षेत्र के दर्शकों के नाटककार बन गए हैं। इस प्रकार नाटक दोनों भाषाओं के बीच उदारता का क्षेत्र बढ़ा रहे हैं, यह सुखद है।

सन्दर्भ:

1. वी.आई., लेनिन: सम्पूर्ण रचनाएँ, खण्ड 33, पृ.340
2. नारायण, बी.आर.: नागमण्डल, पृ. 55
3. नारायण, बी.आर: नामण्डल, पृ.56
4. तदेव
5. नारायण, बी. आर: नागमण्डल, पृ. 53
6. तदेव
7. रस्तोगी, गिरीश: समकालीन हिन्दी नाटक की संघर्ष-चेतना, पृ 27
8. नागमंडल (प्रस्तावना)
9. कर्नाड, गिरीश: अग्नि और बरखा, पृ. 83

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

10. कंबार, चन्द्रशेखर: सिरि संपिमे, पृ. 10
11. कंबार, चन्द्रशेखर: सिरि संपिमे, पृ. 39
12. जैन, नेमिचन्द्र: समकालीन भारतीय साहित्य, जुलाई-सितम्बर 1990,पृ. 165
13. जैन, नेमिचन्द्र: समकालीन भारतीय साहित्य, जुलाई-सितम्बर 1990, पृ. 66
14. रस्तोगी, गिरीश: समकालीन हिन्दी नाटक की संघर्ष-चेतना, पृ. 5
15. जैन, नेमिचन्द्र: समकालीन भारतीय साहित्य, जुलाई-सितम्बर 1990, प-165
16. रस्तोगी, गिरीश: समकालीन हिन्दी नाटक की संघर्ष-चेतना, पृ. 14
17. जैन, नेमिचन्द्र: समकालीन भारतीय साहित्य, जुलाई-सितम्बर 1990, पृ. 167
18. जैन, नेमिचन्द्र: समकालीन भारतीय साहित्य, जुलाई-सितम्बर 1990.पृ.167
19. भारती, धर्मवीर: अंधायुग, पृ. 35
20. भारती, धर्मवीर: अंधायुग, पृ. 57
21. रस्तोगी, गिरीश: समकालीन हिन्दी नाटक की संघर्ष-चेतना, पृ. 53
22. तदेव
23. अग्निहोत्री, ज्ञानदेव: शुतुर्मुर्ग, पृ.16
24. अग्निहोत्री, ज्ञानदेव: शुतुर्मुर्ग, पृ. 30
25. तदेव
26. लाल, लक्ष्मीनारायण: एक सत्य हरिश्चन्द्र, पृ. 21
27. लाल, लक्ष्मीनारायण: एक सत्य हरिश्चन्द्र, पृ. 36
28. तनेजा, जयदेव: हिन्दी नाटक, पृ. 115

पोस्ट डॉक्टरल फेलो, हिन्दी विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी-221005

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

हिंदी भाषा : प्रयोजनमूलक सन्दर्भ एवं विमर्श

●राजीव रंजन प्रसाद

व्यवहार-प्रयोजन की किसी भाषा को सीखने या बरतने का सांविधानिक 'चार्टर' नहीं है; हाँ व्याकरणिक 'पैटर्न' अवश्य होते हैं। भाषा क्या है और क्यों जरूरी है ? इसका उत्तर मातृभाषा-समुदाय में ही मिल सकता है जिस जनसमुदाय की वह भाषा है। वस्तुत: भाषा मानवीय अंत:क्रिया एवं सामाजिक-कार्यकलाप का मुख्य केन्द्रक है, चेतना-निर्माण की संभाव्य शक्ति है। सर्वप्रथम भाषा हमारे संज्ञान-बोध और मानसिक प्रत्ययों को उदबुद्ध करता है, ताकि वागेन्द्रिय नि:सृत ध्वनियों का यादृच्छिक प्रतीकीकरण संभव हो सके। वैयाकरणों के अनुसार, भाषा हमारे उच्चारण अवयवों से उच्चरित यादृच्छिक (arbitrary) ध्वनि-प्रतीतें की वह व्यवस्था है, जिसके द्वारा एक समाज के लोग आपस में भावों एवं विचारों का आदान-प्रदान करते हैं। अतएव, भाषा हमारे जीवन की अनुषंगी कार्य-प्रणालियो का सार्थवाह है। हमारे आचरण-व्यवहार में एक सामंजस्य, सुसंगति, सुमेल, संतुलन आदि बिठाने वाला सर्वप्रमुख माध्यम है। विशेषत: भाषा-प्रयोग के अन्तर्गत शाब्दिक-अशाब्दिक अनुप्रयोग, प्रयुक्ति एवं प्रयोजन- व्यवहार महत्वपूर्ण है। मुक्तिबोध की शब्दावली में कह सकते है कि ज्ञानात्मक संवेदन एवं सवेदनात्मक ज्ञान आधारित भावनात्मक उद्‌गार, विचार-सरणि, मूल्य-बोध, सामुदायिक अंत:क्रिया, सामाजिक अंत-सम्बन्ध आदि की उपयुक्त एवं अर्थपूर्ण अभिव्यक्ति भाषा के बरास्ते ही संभव है। यथा: धर्म, दर्शन, कला, साहित्य, यांत्रिक गतिविधि, तकनीकी-प्रौद्योगिकी के अनुप्रयोग, संचार माध्यम आधारित संदेशों की प्रकृति, शासन-व्यवस्था एवं कार्यालयीन संस्कृति आदि। शाब्दिक-अशाब्दिक क्रियारूप में इस सामाजिक अंत:क्रिया एवं भाषिक-कार्यकलाप को 'सम्प्रेषण' अथवा 'कम्युनिकेशन' शब्दावली से अभिहित किया जाता है।

भाषा का मूलभूत कार्य वक्ता के भाव एवं विचारों श्रोता तक पहुँचाना है। इसका प्रयोग हर उस समाज में मान्य, वैध अथवा स्वीकृत है, जिस समाज की वह भाषा है, सांस्कृतिक-व्यवहार एवं लोक-आचरण की मानवोचित पहलू है। भाषा के सन्दर्भ में 'सम्प्रेषण' के दो प्रयोगशील रूप हैं:

क) भाषिक सम्प्रेषण: भाषा का मुख्य आधार यादृच्छिक ध्वनि-प्रतीक है जो वागेन्द्रियों के माध्यम से नि:सृत होता है। लिपि के अन्तर्गत इन्हें अक्षरों अथवा वर्णो (स्वर एवं व्यंजन) में वर्गीकृत किया जाता है। विशेष संयोजन और व्याकरण- पद्धति द्वारा इनसे अर्थ की व्युत्पत्ति होती है, तदुपरान्त उच्चारित ध्वनि-प्रतीकों का लक्षित शब्दार्थ ग्रहण किया जाता है। इसे ही शाब्दिक सम्प्रेषण कहते हैं।

ख) भाषेतर सम्प्रेषण: यह सम्प्रेषण का ध्वनिरहित माध्यम है जो शोर (Noise) नहीं करता है, किन्तु दर्शकों के ऊपर प्रभाव अधिक आरोपित करता है। इसमें व्यक्तित्व-व्यवहार आधारित आनन-अभिव्यक्ति, भावमुद्राएँ, संकेत, कूह संचालन, दैहिक चेष्टाएँ, ऐच्छिक-अनैच्छिक प्रतिवर्त क्रियाएँ आदि शामिल है। इसे अशाब्दिक सम्प्रेषण कहते हैं। संचारविज्ञानी वी. वाल्श एवं. स्टोलोविच ने ज्ञानेन्द्रिय आधारित मनोदैहिक अंत:क्रिया का एक दिलचस्प निष्कर्ष प्राप्त किया है जिसमें देखी

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

जाने वाली चीजों को मन-मस्तिष्क सबसे अधिक समझता है। उससे सीधे प्रभावित और प्रेरित होता है।

ज्ञानेन्द्रिय (Sense Organ)	सूचना-ग्रहण (Information Gain)
दृष्टि	83%
श्रवण	11%
गंध	3.5%
स्पर्श	1.5%
स्वाद	1%

भाषिक सम्प्रेषण, जिससे कि हमारा विशेष सम्बन्ध है, इसके दो प्रकार हैं:

1) मौखिक सम्प्रेषण: वागेन्द्रियों के माध्यम से उच्चरित ध्वनि- प्रतीकों अर्थात शब्दों और वाक्यों के सहारे जब सम्प्रेषण किया जाता है, तब उसे 'मौखिक सम्प्रेषण' कहते हैं। बातचीत, वार्ता, संवाद, बैठकें, सम्मेलन, अधिवेशन, चिंतन-गोष्ठी, सभा, व्याख्यान, सम्बोधन, भाषण, उदघोषणा, टेलीफोनिक बातचीत, रेडियो नाटक, झलकी, प्रहसन, कहानी पाठ, काव्य-पाठ, पौराणिक गाथाओं का प्रस्तुतीकरण, वाद-विवाद प्रतियोगिता, अदालती बहस, संसदीय बैठक, अकादमिक वक्तव्य, सामाजिक वार्तालाप, पारिवारिक बतकही, सुलह-समझौते और वार्ता, वर-वधू के बीच बातचीत आदि अनेकानेक रूपों में मौखिक गतिविधियाँ परिचालित होती हैं। डॉ. अनूपचन्द्र पु: भायाणी अपनी पुस्तक 'व्यावसायिक सम्प्रेषण' में इस बात पर अधिक बल तेते हैं कि इस शब्दज संसार में मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है जो अपने मुखावयवों से विभिन्न ध्वनियों में ध्वनि-प्रतीकों का निर्माण कर सकता है और असंख्य रूपों में मौखिक सम्प्रेषण की विभिन्नप्रक्रियाओं में भाग ले सकता है। मनुष्य की यह सहभागिता स्वत: स्फूर्त होती है क्योंकि उसके पास वाकशक्ति का सामर्थ्य विद्यमान है। जबकि अन्य सभी प्राणी केवल सीमित ध्वनियों का ही निर्माण कर पाते हैं। अभिव्यंजना शक्ति अत्यंत मंदित होने के कारण ही इन्हें 'मूक' प्राणियों की संज्ञा दी जाती है।

संचारविज्ञानी विंसेन्ट नोलन का इस बारे में मत है कि मौखिक सम्प्रेषण को सफल एवं प्रभावी बनाने के लिए वक्ता में कथ्य विचारों की स्पष्टता, उनके अनुरूप शब्द, आंगिक चेष्टाएँ, उच्चारण शैली, उपयुक्त श्रवणक्षमता, अशाब्दिक प्रतीकों को स्थूल-सूक्ष्म ढंग से पकड़ने की अवलोकन शक्ति, संकेतित प्रतीकों संघटित कर उन्हें विचारों में रूपांतरित करने की क्षमता आवश्यक है। मौखिक सम्प्रेषण के लिए अनिवार्य एवं महत्तपूर्ण गुणों का संक्षिप्त उल्लेख करना चाहें, तो एक क्रम इस तरह बन सकता है:1) स्पष्ट एवं शुद्ध उच्चारण, 2) संज्ञानात्मक शब्दकोश, 3) संक्षिप्तता, 4)उचित लहजा, 5) ध्वनि का उचित आरोह-अवरोह, 6) उपयुक्त एवं सन्दर्भानुकूल भाषा-शैली आदि।

मौखिक सम्प्रेषण के अन्तर्गत जब कोई वक्ता बोल रहा होता है, तो श्रोता महज मूकदर्शक नहीं होता है। उस घड़ी श्रोता सहज किन्तु सजग ढंग से वक्ता के 'उच्चार रूप' (telling form) या 'व्यक्ति-भाषा' (idolect) का मुआयना कर रहा होता है। इस दौरान श्रोता के मन-मस्तिष्क में 'परसेप्सुअल' यानी देख-सुनकर जानने की शक्ति सर्वाधिक ग्रहणशील होती है। मौखिक सम्प्रेषण के अन्तर्गत श्रोता द्वारा ग्रहण किए गए सूचनाओं का विश्लेषण करें, तो इनमें शारीरिक संचालन से जुड़ी सूचनाएँ अधिक होती है। यथा: आनन अभिव्यक्ति एवं भाव-मुद्रा, हाथ एवं अंगुलियाँ, कंधों की स्थिति,

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

छाती, बाँह एवं धड़, पाँव और तलवा आदि। एक संचारक के व्यक्तित्व- व्यवहार का प्रभावी यानी असरदार होना कुछ निश्चित कारकों पर निर्भर करता है। इन लाक्षणिक गुणों को 'संचार के सात सी' नाम से जानते है: 1) सरल(Candid), 2)स्पष्ट(Clear), 3) सम्पूर्ण(Complete), 4) संक्षिप्तता(Concise), 5) निश्चित(Concerete), 6) सही(Correct), 7) शिष्टतापूर्ण(Courreous)। ध्यातव्य है कि मौखिक सम्प्रेषण में वाक-लम्बाई का छोटा होना आवश्यक है। वैसे यह अवसर, विषय, सन्दर्भ या संचार माध्यम की प्रकृति पर अधिक निर्भर करता है। समयानुकूल एवं सन्दर्भानुकूल स्थिति में, औपचारिक एवं अनौपचारिक वार्तालाप में इनका विशेष ख्याल रखना होता है। उदाहरणार्थ व्याख्यान में विस्तार की अपेक्षा की जाती है, तो व्यावसायिक में संक्षिप्तता की। इसी प्रकार सन्मेलन और सभाओं में विस्तार की जितनी गुंजाइश दिखाई पड़ती है उतनी बैठकों और संक्षिप्तता में नहीं। मौखिक सन्मेलन में ताकत असीम होती है, तो शक्ति अमोघ। महर्षि पाणिनि का मत है कि वक्ता पुरूष की जब किसी से कुछ कहने की इच्छा होती है, तब वह अपनी इच्छा के अनुरूप आन्तरिक प्रयत्न के द्वारा प्राणवायु को उष्ण एवं ऊर्ध्वगामी बना देता है। भारतीय भाषा-दर्शन में मौखिक सम्प्रेषण को 'अंत:दर्शन का भाष्य' कहा गया है। इसका कोई 'ई-संस्करण' अथवा 'सॉफ्ट कॉपी' नहीं होता है। इसीलिए हमारे यहाँ शास्त्रीय विधानों अथवा वैदिक क्रियायोग में गुरू-शिष्य संवाद की सुदीर्घ परम्परा रही है। परम्परा में अनुस्यूत यह ज्ञानार्जन पद्धति मौखिक ढंग से उद्भावित एवं उदभासित थीं। गुरुकुल की प्रकृति में खण्डन-मण्डन, वाद-विवाद, मत-मतैक्य आदि आत्मपरिष्कार, संवर्द्धन, परिमार्जन, आदि की धुरी रहे है। मूल्यत: भारतीय चिंतन- पद्धति अपनी प्रकृति में तार्किक, वस्तुनिष्ठ, निष्पक्ष, पारदर्शी, द्वंद्वात्मक, आध्यात्मिक आदि गुणधर्मो से जिस कदर लैस है, वह अपने आप में अद्वितीय है और अविस्मरणीय भी।

भारतीय भाषा-दर्शन सम्पूर्ण जगत को वाक् शक्ति का विकास या अभिव्यक्ति करता है। अर्थात ज्ञान का माध्यम भाषा है, तो भाषा तो भाषा का विशुद्ध उच्चरित रूप वारेन्द्रिय नि:सृत संवाद, वार्तालाप, कथोपकथन इत्यादि। उदाहरणार्थ बृहस्पति की प्रार्थना करते हुए एक ऋषि का कहना है, व्यक्तियों के मन में उच्चारण से पूर्व ही वस्तुओं के नाम रहते हैं। इन नामों को ही वाणी के रूप में उच्चारित किया जाता है। जबकि भाषा का शुद्धतम रूप अन्धेरी गुफा में छिपा है जिसे प्रार्थना द्वारा ही जाना जा सकता है। अर्थात् 'बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्र यत प्रैरत नामधेयं दधानाः'। इसीलिए भारतीय भाषा दर्शन में मौखिक सम्प्रेषण को सामाजिक अंत:क्रिया का आधारभूत प्रणाली कहा गया है। उपनिषदों में इसके विशद प्रमाण मिलते हैं। वाणी की सत्यता, दिव्यता तथा क्षमता पर विचार इस काल में होने लगा था। उपनिषद् यह मानते हैं कि जो वाणी हम बोलते हैं वह अयथार्थ या नाशवान है किन्तु इसके सार में नित्य शब्द की खोज आधार के रूप में परवर्ती काल में होने लगी। शब्दों का प्रतीक रूप में प्रयोग तथा उनकी व्याख्याएँ अत्यंत सुचिंतित एवं विवेक-विक्षोभ से सम्पृक्त हैं। ओंकार की चेतना की तीन अवस्थाओं-जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति के प्रतीक रूप में शब्दों का प्रयोग उपनिषदों में मिलता है। मौखिक सम्प्रेषण सम्बन्धी भाषा-दर्शन की अधुनातन शब्दावली पाश्चात्य ध्वनि-विज्ञान,पद-विज्ञान, वाक्य-विज्ञान, अर्थ-विज्ञान आदि से बुरी तरह संक्रमित और आक्रांत है। जबकि भारतीय भाषा- दर्शन की अंत-सोपानिक प्रतिस्थापना का पश्चिम आज भी लोहा मानता है, उसकी वैज्ञानिकता को लेकर चकित होता है। उपनिषदों ने इस बात पर विशेष बल दिया है कि भाषा के तत्त्व की उच्चतर सत्ता है। हम जो बोलते हैं, वह भाषा नहीं है तथा जो भाषा है, वह बोली नहीं जा सकती। वाणी उस उच्चतर भाषा (परा, पश्यन्ती) का संकेत मात्र करती है। अर्थात हम जो भाषा बोलते हैं केवल वहीं भाषा नहीं है। हम जो बोलते हैं, वह केवल ध्वनि है जो विभिन्न भाषाओं का निर्माण करती है। ये सभी भाषाएँ उस अनिर्वचनीय भाषा के लिए प्रयुक्त होती हैं। अंतत: उस भाषा में ये सभी समाहित हो जाती है तथा इसी के कारण सभी भाषाएँ संभव है। ये भाषाएँ उस भाषा के कारण ही सार्थक है। मौखिक

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

सम्प्रेषण के आधुनिक भाषिक विधानों को देखें, तो आज की स्थिति बेहद लज्जास्पद प्रतीत होगी, क्योंकि भारतीय भाषा दार्शनिकों ने विभिन्न दृष्टियो से इन समस्याओं पर गंभीरतापूर्वक विचार किया है।

भारतीय चिन्तन-दृष्टि एवं भाषा विभिन्न अवस्थाएँ

परा: यह वागर्थ की उच्चतर दशा है। इसमें शब्द और अर्थ के बोध की क्रिया प्रकट नहीं होती। यह अत्यन्त सूक्ष्मातिसूक्ष्म नित्य रूप है। यही व्याकरण में अनादि शब्द-ब्रह्म है। परावाक स्वप्रकाश संविद् निराकार चैतन्य अवस्था है।
पश्यन्ती: शब्द और अर्थ की भेदाभेद दशा ज्ञान रूप में इस स्तर पर स्फुरित-स्पंदित होती प्रतीत होती हैं। पश्यन्ती समस्त जगत को स्वयं में और स्वयं से आवृत्त पाती है। इस स्तर पर भाषा वाच्य-वाचक विभाग से रहित क्रम-बन्धन शून्य होती है।
मध्यमा: ज्ञान रूप में स्थित पश्यन्ती अर्थ-द्योतन या अर्थ-प्रकाशन की दृष्टि से तो नाद-तरंग रूप लेती है उसे वाक की मध्यमा स्थिति कहते हैं। मन में जो कुछ कहा जाता है वह इसी मध्यमा के ही शब्दों में कहा जाता है। दोनों कर्ण छिद्रों को बन्द कर देने पर जो नाद सुनाई देता है वह मध्यमा नाद ही है।
वैखरी: मध्यमा नाद जब मुख कुहर में आकर कंठ आदि स्थानों से व्यक्त होने के लिए उच्चारित होता है, तब उसे वैखरी नाम से जाना जाता है। हम भाषाई व्यवहार में जिस शब्द का प्रयोग करते हैं वह वैखरी है।

दरअसल, भारतीय दर्शन केवल बुद्धि विलास नहीं है। इसका लक्ष्य सत्य की प्राप्ति, आत्मबोध और सहजानुभूति है। भारतीय मानस ज्ञान, क्रिया एवं इच्छा से उदभूत है, तो सत्य, शील एवं सौन्दर्य का सार्थवाह है। दर्शन अनुभूति-स्वातंत्रय की संकल्पना को सत्य-सिद्धि एवं सत्य-संधान का उपयुक्त माध्यम मानता है। मौखिक सम्प्रेषण द्वारा सत्य की अभिव्यक्ति दूसरे किसी भी माध्यम की अपेक्षा अधिक वस्तुनिष्ठ एवं अर्थपूर्ण होती है। मौखिक सम्प्रेषण में सुगमतापूर्वक झूठ बोला जा सकता है, लेकिन इस दुष्चरित्र कपटभाव को पकड़ा जा सकना संभव है। वाणी में असत्य का ऊर्ध्वारोहण असंभव है, क्योंकि भारतीय भाषा-दर्शन सबसे अधिक नित्य-अनित्य की विवेचना पर आधृत है। तत्तव: प्रश्न-प्रतिप्रश्न के कथोपकथन में झूठ विज्ञापित दंभ-भाव अथवा अहं-बोध उजागर हो जाता है। इसीलिए यह प्रबल मान्यता है कि इस दुनिया में जो कुछ भी श्रेष्ठ है, वह वाक से प्रकट होता है।

(ख) लिखित सम्प्रेषण: अभिव्यक्ति की इच्छा ने यदि भाषा को जन्म दिया, तो स्थायीत्व की मानव-आकांक्षा ने लिपि को। मौखिक सम्प्रेषण में 'अज्ञात' का ज्ञान तत्काल हो जाता है या कि 'सत्य' से साक्षात्कार तत्क्षण होता है, जबकि लिखित सम्प्रेषण एक दीर्घाकालिक प्रक्रिया है जिसमें सभी बातें सम्प्रेषित हों यह जरूरी नहीं है, कई बातें 'दो पंक्तियों के बीच' (between the line) छुपी होती हैं जिसे पाठक अपनी चेतना, स्मृति, कल्पना, भाव-बोध, संवेदना आदि के माध्यम से पुन:सृजित करता है। भारतीय मनीषियों के अनुसार, सोच-समझकर या चिंतन-मनन कर प्रारूपण (drafting) करने की जो औजार-सुविधा (tools/facility) लिखित सम्प्रेषण में है वह मौखिक सम्प्रेषण में नहीं है। लेखन एक कला है और विज्ञान भी। इसके लिए विषय, सन्दर्भ एवं कार्य-प्रकृति के अनुरूप योग्यता, चिंतन-दृष्टि, सूझ-बूझ, कुशलता-दक्षता, परिपक्वता, दूरदर्शिता, भाषिक वैशिष्टय एवं व्याकरणसम्मत दृष्टिकोण, तथ्यगत जानकारी, वस्तुनिष्ठ एवं सत्यापनशील सामग्री आदि का शिक्षण-प्रशिक्षण होना जरूरी है।

लेखन कला है, क्योंकि साहित्य की रचना लिखित भाषा में ही की जाती है। वस्तुत: प्राचीन साहित्य को स्थायित्व प्रदान करने में लिपि की भूमिका अनिर्वचनीय रही है। साहित्य के क्षेत्र में कुछ साहित्य ऐसे भी होते हैं जो काल की कसौटी पर खरा नहीं उतर पाते या जिसका केवल सामयिक महत्व मात्र होता है। दूसरी ओर ऐसा साहित्य भी है जो मानव-प्रकृति के केन्द्रीय सत्व को अभिव्यक्ति प्रदान करने के कारण युग-युगांतर तक मानव-जीवन का सहचर अथवा पथिकृत-द्रष्टा बन

CC-0. Gandhi Memorial Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

जाते हैं। साहित्य की इन दो कोटियों का नामकरण अलग-अलग होता है: (1) सामयिक साहित्य और (2) चिरन्तन साहित्य। लिखित सम्प्रेषण के बारे में भारतीय रिजर्ब बैंक का कथन है, "भाषा के विकास में एक बड़ा मोड़ आया-लिपि या लेखनकला के जन्म के साथ। लेखनकला के आविष्कार से मनुष्य के अनुभतों और विचारों को स्थायित्व देना संभव हुआ। लिखित भाषा के दृश्य-रूप में समाए हुए भावों, विचारों और अनुभवों की व्याख्या करना तथा उस व्याख्या को अन्य व्यक्तियों तक पहुँचाना भी आसान हो गया।" लेखन-मुद्रण की आधुनिक तकनीकी-यांत्रिकी के आविस्कृत होने से पूर्व जैन दार्शनिकों ने लिपि, अक्षर, शब्द की उत्पत्ति जीव अथवा चेतन सत्ता के द्वारा होती है। अर्थबोध कराने वाले शब्दों को प्रायोगिक भाषा कहा गया है जिन्हें जीव जड़ माध्यम के सहयोग से उत्पन्न करता है। यह भी कहा गया है कि शब्द ध्वनि रूप में प्रकट भले ही जड़ तत्व के रूप में होता है, किन्तु लिखित सम्प्रेषण द्वारा सर्जनात्मक साहित्य का निर्माण अथवा लिखित सामग्री का उत्पादन जीव के प्रयत्न के परिणामस्वरूप होती है।

अस्तु, भाषा में लिखित रूपांकन इतने रोचक, अदभुत एवं सात्विक ढंग से किया जाना चाहिए कि भाषिक अभिव्यक्ति एवं इसका अंत:वैशिष्ट्य सदा सुरक्षित रहे। लिखित सामग्री पढ़ते हुए जो मानस-व्यापार हमारे मन-मस्तिष्क में होते है, वह जानना महत्वपूर्ण है। लिखित शब्द एवं अनुस्युत अर्थ में प्रतिपादक और प्रतिपाद्य यानी वाचक और वाच्य का सम्बन्ध हुआ करता है। भारतीय दर्शन में वर्णित स्फोटवाद के भाषा-विमर्श के अनुसार समझने का प्रयास करें, तो अपने उच्चरित रूप में वर्ण, पद या वाक्य सिर्फ ध्वनि रूप हैं। ये वास्तविक अर्थ के प्रतिपादक नहीं हैं। वास्तविक अर्थ का प्रतिपादक स्फोट है। इस सिद्धान्त के अनुसार ध्वनि अनित्य है किन्तु स्फोट है। इस सिद्धान्त के अनुसार ध्वनि अनित्य है किन्तु स्फोट नित्य है। भारतीय वैयाकरणों ने स्फोट के परिभाषित करते हुए कहा है कि जिससे अर्थ स्फुटित होता है, उसे स्फोट कहते हैं। पद या वाक्य के अन्तिम वर्ण के उच्चारण के पश्चात जो वस्तु (अर्थ) का अखण्ड चित्र सामने आता है, उसे स्फोट कहते हैं। ध्वनि उच्चारण के पश्चात ही नष्ट हो जाती है, इसलिए उससे अर्थबोध संभव नहीं है। वस्तुत: ध्वनि को सुनकर जो अर्थबोध होता है, वही स्फोट है।

सामयिक सन्दर्भ एवं अर्थो में देखें, तो भाषा का व्यवहार-क्षेत्र काफी विस्तृत एवं बहुआयामी है। अत: जो बात साहित्य पर लागू होती है वह व्यवसाय या कारोबार क्षेत्र में प्रचलित लिखित सम्प्रेषण की विधात्मक रूपीं शैलियों के लिए एकसमान नहीं हो सकती है। व्यापारिक अथवा व्यावसायिक क्षेत्रों में स्थायित्व का सन्दर्भ एवं आशय बदल जाता है। किसी सरकारी-गैर-सरकारी संस्था की ओर से जारी होने वाला नीति-विषयक परिपत्र या उसके द्वारा प्रकाशित अनुदेश-पुस्तक में भाषा-प्रयोग की संरचना विशिष्ट एवं अर्थगर्भित होती है। भाषिक बर्ताव अथवा पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग इसलिए भी महत्वपूर्ण माने जाते हैं कि उसके आधार पर उस संस्था-निकाय की कार्यपद्धति या आचारसंहिता का निर्माण होता है। इससे किसी व्यावसायिक अथवा कारोबारी संस्थान की एक साफ-सुथरी छवि बनती है और उसकी जड़े मजबूत होती हैं। वर्तमान में अन्तरराष्ट्रीय व्यापार एवं बाजार पूँजीकरण का बड़ा नेटवर्क फैला हुआ है। इन दिनों विभिन्न प्रतिष्ठानों की कार्यपद्धति एवं कार्यशैली के अनुरूप भाषा-प्रयोग एवं प्रयोग सापेक्ष प्रयुक्ति पर अधिक बल आरोपित है। सारा कार्यवृत्त एवं अन्यान्य कार्य वर्तमान में लिखित भाषा में संरक्षित-सुरक्षित किए जा रहे हैं। वाणिज्यिक सम्पर्क तथा बहुराष्ट्रीय सम्बन्ध इस घड़ी भाषा का एक प्रयोजनपरक 'टूल्स' है। अपने लक्षित उद्देश्य की षष्ठिपूर्ति हेतु व्यवहृत भाषा के इस विशेष रूप-संरचना को ही इन दिनों प्रयोजनमूलक भाषा कहा जा रहा है।

हिन्दी के सन्दर्भ में तो प्रयोजनमूलक हिन्दी भाषा का प्रयोजन सापेक्ष प्रयुक्ति है। इसका प्रयोजनमूलक स्वरूप की आवश्यकता व्यक्ति, समूह, समाज, व्यवस्था, संस्था, संगठन, राष्ट्रीय-अन्तरराष्ट्रीय व्यापारिक प्रतिष्ठान, सामाजिक-राजनीतिक

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

दल, अंतरसांस्कृतिक संचार वैदेशिक नीति आदि सभी औपचारिक-अनौपचारिक विषय-सन्दर्भ एवं स्थिति में बड़े पैमाने पर हो रहा है। मीडिया स्वयं इसका सबसे बड़ा उपभोक्ता बनकर उभरा है। अत: यह कहना कि प्रयोजनमूलक हिन्दी का वर्तमान अभी तक अवतरित नहीं हुआ, तो यह बौद्धिक बेईमानी और ठगी है जिसमें आजकल थोड़े ही सही लेकिन वर्चस्वशाली तबके का लगभग एकाधिकार-सा है। प्रो. सुवास कुमार के अनुसार, ''राष्ट्रभाषा का मुख्य काम है राष्ट्रव्यापी सामान्य संप्रेषण, जो अंग्रेजी नहीं कर पाती पिछ्ले ढ़ाई सौ वर्षो में वह क्या कर पायी ? हिन्दी तो देश की आधी से अधिक जनता की दैनिक जरूरतों और सामान्य व्यवहार की भाषा बनी हुई है? भाषा का महत्व संचार और संप्रेषण का कारगर माध्यम बनने में है इसी को भाषा-नियोजन का लक्ष्य बनाना चाहिए''। यद्यपि भाषा प्रयोगधर्मी और अंत:क्रियाशील हुआ करती है। यह न केवल दृश्यमान जगत से सम्बन्धित वस्तुओं आदि के बारे में अभिव्यक्ति का साधन है, बल्कि विचारों की अभिव्यक्ति का भी साधन है। हम लोग समाज से भाषा अर्जित करते हैं और साथ में संस्कृति भी अर्जित करते है। इसलिए भाषा अर्थ की अभिव्यक्ति का साधन मात्र नहीं है अपितु अपने समाज की संस्कृति का वाहक और प्रस्तावक भी है। शब्दों की दृष्टि से भाषा के दो स्पष्ट विभाजन पकड़ में आते हैः (1) औपचारिक भाषा और,(2) अनौपचारिक भाषा। औपचारिक भाषा में वक्ता और श्रोता के सम्बन्धों के अनुरूप शिष्टता का ख्याल अधिक रखना होता है। इसके अतिरिक्त विभिन्न पेशों और व्यवसायों के लोगों की अपनी भाषा होती है, जिसकी शब्दावली व्यवसाय विशेष को अभिव्यक्त करती है। कक्षा अध्यापक की भाषा, व्यापारिक की भाषा, मजदूरों की भाषा, मीडिया की भाषा, विधि एवं कानून की भाषा आदि में हम शब्दों के प्रयोग के अन्तर की पहचान कर सकते हैं।

प्राय: कुछ लोग अवभाषा (slang) का प्रयोग करते हैं जो भाषा का बिगड़ा हुआ रूप माना जाता है। कुछ पेशों के व्यक्ति दूसरों से छिपकर अपनी बात कहने के उद्देश्य से गुप्त भाषा (argot) का प्रयोग करते हैं। प्रत्येक व्यक्ति का शब्द-चयन एवं शब्द-प्रयोग एक ही जैसा नहीं होता है। भाषा में विभिन्न स्त्रोतों से शब्द आए। जिस तरह एक नदी में विभिन्न स्त्रोतों से जल आकर मिलता है और नदी का विस्तार होता है, उसी तरह विभिन्न स्त्रोतों से आने वाले शब्द भाषा को समृद्ध करते हैं। स्त्रोतों के आधार हिंदी के शब्दों के चार प्रमुख वर्ग हैं, तत्सम, तद्भव, देशज और बाहरी। शब्द-निर्माण के लिए शिक्षा मंत्रालय के अधीन एक संस्था कार्य करती है, जिसका नाम है- 'वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दवली आयोग'। यह संस्था विविध विषयों के विद्वानों की सहायता से नए शब्दों का निर्माण करती है और शब्दकोशों के रूप में उन्हें प्रकाशित करती है। हिंदी में शब्द निर्माण के लिए ज्यादातर संस्कृत भाषा का सहारा लिया गया। इसके पीछे तर्क यह दिया कि संस्कृत भाषा में शब्द-निर्माण की अदभुत शक्ति है। मूल शब्दों के साथ उपसर्ग एवं प्रत्यय लगने के बाद व्युत्पन्न शब्दों की सख्या हमारे शब्दकोश में इजाफे का मुख्य औजार है।

सम्प्रेषण

- भाषिक
  - मौखिक– संवाद, बातचीत, सुझाव, वार्तालाप मशविरा इत्यादि
  - लिखित

    पत्र एवं उसके विभिन्न रूप, प्रतिवेदन (रिपोर्ट), कार्यवृत्त, तार टेलेक्स फैक्स बैंकनेट ई-मेल, नियम-विनिमय, प्रेस विज्ञप्ति-नोट, संविदा, करार, सूचनाएँ, फार्म, नोट या टिप्पणी, प्रचार सामग्री, प्रबंधकीय सूचना
- भाषेतर

  समाधि, ध्यान, मौन, मुकावस्था, आनन अभिव्यक्ति, भाव-भंगिमा, आसन, मुद्राएँ, संकेत, कूह संचालन, नेत्र गति इत्यादि।

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

मूल्यत: मानव-समाज में वैज्ञानिक प्रवृत्ति आधुनिक निकष के रूप में स्वीकार्य है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण आधारित संचार का मुख्य उद्देश्य तार्किक क्षमता एवं विचारशीलता को बढ़ाना है। इसके लिए यह जरूरी है कि दी जा रही सूचना सही हो, साथ ही साथ बोधगम्य एवं सुबोध हो। अतएव, हिन्दी में संचारित सामग्री का संक्षित, सही एवं समझने लायक होना आवश्यक है। आधुनिक हिन्दी भाषा-भाषी संचारकों को यह बात भी संज्ञान में लेनी चाहिए कि केवल एक खाली बरतन की तरह नहीं है, जिसमें वे अपनी जानकारी आसानी से उठाकर डाल दें। विकास की उचित दिशा तय करने के लिए हिन्दीभाषिक संचार पर अधिक शोध की आवश्यकता है जिसमें कई शिक्षा संकायों को शामिल किया जाना चाहिए। लेकिन इन दिनों मुख्य धारा में शामिल वैज्ञानिकों एवं शोध की प्रवृत्ति इस बात का संकेत देती है कि उनकी दिलचस्पी विज्ञान सम्मेलन में तत्कालीन वित्त मंत्री पी. चिदम्बरम ने इस पहलू पर चर्चा की और विज्ञान संचार की भूमिका पर अपनी बात रखते हुए कहा कि ''आँकड़े सूचना नहीं है, सूचना ज्ञान नहीं है, ज्ञान बुद्धि नहीं है और बुद्धि सत्य नहीं है॥''

इसीलिए भारतीय संस्कृति का सत्यान्वेषण पर बल सर्वाधिक है। यह भाषा में सांस्कृतिक मूल्यों का निर्माण करने हेतु वचनबद्ध मालूम देती है। वस्तुत: भारतीय संस्कृति मिथक, प्रतीक, संकेत, बिम्ब इत्यादि का लोकवृत्त में अधिकाधिक प्रयोग किए जाने का समर्थन करती है, इसके अतिरिक्त इन सभी घटकों को सम्पूर्णता में देखे जाने पर भी जोर देती है। यथा: प्रतीक कैसे रचे जाते हैं, कैसे मिथक का विस्तार होता है और उस विस्तार में कैसे नई सृष्टि हो जाती है। हिन्दीभाषिक संचारक की भूमिका में विज्ञान संचार कार्यक्रमों के साथ टी.वी. और रेडियो (जिसमें एडयूसैट एवं कम्यूनिटी रेडियो भी शामिल हैं) को विस्तार देना होगा जिससे कि ये उददेश्य पूरे किए जा सकें। इन कार्यक्रमों से जुड़े तत्सम्बन्धी संचारकों की यह जिम्मेदारी है कि वे युवाओं एवं बच्चों में जिज्ञासा को प्रोत्साहित करें। कई बार हिन्दीभाषी विज्ञान से सम्बन्धित किसी मुददे को टेलीविजन माध्यम केवल दर्शा भर देते हैं और अपनी जिम्मेदारी से हाथ छुड़ा लेते हैं। वे शोध की गहराई तक नहीं जाते। यह स्थिति बहुत भयावह है क्योंकि लोकप्रिय इलेक्ट्रॉनिक मीडिया बहुत तेजी से प्रिंट मीडिया के आगे जा रहा है। अत: युवा पीढ़ी में वैज्ञानिक प्रवृत्ति के प्रचार, प्रसार और विस्तार की सर्वाधिक आवश्यकता है, और यह तभी हो सकता है जब हमारे पास अपनी भाषा में 'रोल मॉडल' हों। कोई भी व्यक्ति जिसमें अभिभावक भी शामिल हैं रोल मॉडल हो सकते हैं। दुर्भाग्य से आज हमारे रोल खिलाड़ी हैं या फिल्म स्टार हैं जिनकी तस्वीरें सेटेलाइट के जरिए हमारे टी.वी. स्क्रीन तक आती हैं, इसे वैज्ञानिकों ने ही सम्भव बनाया है, लेखकों, साहित्यकारों ने उसे सामाजिक-सांस्कृतिक कलेवर प्रदान किया है। अत: हमारे हिन्दीभाषी क्षेत्र में रोल मॉडल का अभाव नहीं है बल्कि हमारे जनसमाज में वैज्ञानिक मानसिकता की कमी है। भारतीय भाषाओं में हिन्दीभाषी विज्ञान संचार सम्पूर्ण रूप से नहीं होगा, तब तक वैज्ञानिक मानसिकता पैदा नहीं हो सकती। भारतीय भाषाओं में बहुत कुछ हो रहा है पर अभी बहुत कुछ होनी बाकी है। यहाँ हमें बोलियों को लेकर भी संवेदनशील होने की जरूरत है। मातृभाषाओं के सहयोग-समर्थन में नहीं उठ खड़े होने का परिणाम बुरा हो सकता है जिसमें से एक है, 'अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता का हनन'।

लैटिन भाषा ''vernacular'' शब्द का अर्थ है- 'घर में ही जन्मा गुलाम'। आज देश के अग्रणी केन्द्रीय दिल्ली विश्वविद्यालय में हिन्दी और संस्कृत विषयों के अध्ययन में 40 से 50 प्रतिशत कमी आने की सूचना मिल रही है। प्राय: यही स्थिति देश के दूसरे विश्वविद्यालयों में भी है। प्रोफेसर वसुधा डालमिया कहती हैं, ''हिन्दी और दूसरी भारतीय भाषाओं के समानान्तर प्रतिष्ठित करना ही आज के समय की आवश्यकता है। हमारी भाषाओं की प्राणवत्ता और उसकी सर्जनात्मकता खत्म नहीं है बल्कि तथाकथित आभिजात्य वर्ग कदम-कदम पर उसके विकास को अवरुद्ध करता जा रहा है। हमें यह जानना होगा कि विश्व में सर्वाधिक बोली जाने वाली तीन भाषाओं में एक है हिन्दी। वार्सा विश्वविद्यालय, पोलैण्ड में भारत विद्या विभाग के अध्यक्ष तथा भारत में पोलैण्ड के राजदूत के चुके प्रो. मारिया स्टोक बृस्की की दृष्टि में देश में अंग्रेजी माध्यम होने

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

से मानसिक विभाजन होगा। उनका मत है, ''भारत की आत्मा को पहचानने के लिये हिन्दी भाषा का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। हम विदेशी लोग भारतीय समाज और संस्कृति को अंग्रेजी में नहीं जान सकते है। '' प्रो. सुवास कुमार की टिप्पणी अत्यंत समीचीन है, ''हिन्दू अंग्रेजी की तरह एक अक्षेत्रीय भाषा बन चुकी है, दूसरी ओर यह भारत की प्रमुख राजभाषा है, फिर अपनी अनेकानेक बोलियों, जैसे अवधी, ब्रज, भोजपुरी, बुन्देली, मैंथिली, मगही, आदि के बीच संपर्क-सूत्र की सहज-स्वाभाविक सहयोजित भाषा है। बोलियाँ अगर जाति (नेशनलिटी) है तो हिन्दी महाजाति (ग्रेटर नेशलिटी है। चाहे हम माने न माने, सामाजिक सांस्कृतिक रूप से हिन्दी हमारी राष्ट्रभाषा (नेशनल लैंग्वेज) है।''

सर्वविदित है कि भारत एक बहुभाषिक समाज है। सम्पूर्ण देश में भाषा वैज्ञानिकों ने 1652 भाषायें तथा बोलियाँ बोली जाने की मान्यता दी है। शीर्षस्थ नेताओं ने अन्य प्रान्तीय भाषाओं और बोलियों का सहारा क्यों नहीं लिया उनका सरल उत्तर था, हिन्दी एक ओर जनपदीय स्तर बोलियों के बीज आंतरिक एकता बनाती रही है तो दूसरी ओर भारतीय सन्दर्भ में अन्य भाषाओं के बीच सम्पर्क एवं एकता लाने का प्रयास करती रही है तो दूसरी ओर भारतीय सन्दर्भ में अन्य भाषाओं के बीच सम्पर्क एवं एकता लाने का प्रयास करती रही है। ज्ञान, विज्ञान एवं विमर्श की दृष्टि से हिन्दी भाषा की विशेषता बताते हुए डॉ. ऋषभ देव शर्मा भाषा को लेकर भारतीय मानसिकता की कूपमंडुता का जिक्र करते हैं, ''भाषिक प्रयुक्तियों, तकनीकी शब्दावलियों और अभिव्यक्तियों की दृष्टि से हिंदी का भण्डार अकूत (विपुल) है। लेकिन शिक्षा के माध्यम के रूप में मातृभाषाओं को स्वीकार न करने के कारण सभी भारतीय भाषाओं सहित हिंदी के प्रयोक्ता संदेह, संशय और हीन-भावना के शिकार हैं।''

पश्चिमी विचारक फूको का कथन है, ''जिस युग में हम जी रहे हैं वह बहुत ही मनोरम है, इसे विश्लेषित और स्पष्ट करने की जरूरत है.. अच्छा हो कि हम स्वयं से पूछे कि हमारे वर्तमान का स्वरूप क्या है?'' सचमुच, भाषिक राजनीति के मौजूदा दौर में युवा पीढ़ी जबर्दस्त अंधेपन का शिकार है॥ विजया शर्मा वर्तमान की दृश्य-शब्दावली को भाषा में चित्रित करती हैं, ''अमूमन युवा वर्ग शिक्षा को ज्ञान को ज्ञान हासिल करने के लिए अर्जित नहीं करता, बल्कि डिग्री पाने के लिए शिक्षा ग्रहण करता है, इससे होता यह है कि ज्ञान उसके पास कम होता है और डिग्रियाँ ज्यादा। तकनीकी विकास ने व्यक्ति के काम करने की शक्ति को घटाया है। आज कंप्यूटर तथा इंटनरेट के चलते युवा को कम मेहनत कर ज्यादा मनोरंजन और जानकारी हासिल हो जाती है, जिसके उसकी पठन और लेखन की शक्ति घटती जा रही है। आज विद्यार्थियों के पास लिखित नोट्स बहुत कम होते हैं, फोटोस्टेट कॉपियाँ ज्यादा होती हैं। वह अपना रहन-सहन, खान-पान सभी चीज अपनी रुचि के अनुसार ग्रहण नहीं करता, बल्कि दूसरों को क्या अच्छा लगता है उसको केन्द्र में रखता है। इससे वह अपने को कठमुल्ला बनाता है और निजी अस्मिता, शक्ति और रुचि को नष्ट करता जाता है।''

कहना न होगा युवाओं की इस रीढ़विहीन दशा-स्थिति के लिए जनता द्वारा चुनी गई जनतांत्रिक सरकार अधिक जिम्मेदार है जिसकी मानसिकता अंग्रेजी माध्यम (भाषा नहीं) द्वारा अध्यारोपित है। लेकिन यह कहकर हमारा बौद्धिक तबका बरी नहीं हो सकता है। अकादमिकजनों की यह महती जवाबदेही है कि हम अपनी मातृभाषाओं की सुरक्षा-संरक्षा में स्वयं में स्वयं को जोत दें। आलोचकीय मूल्य-सिद्धान्त पर हिंदी के मौजूदा स्वरूप, खासकर प्रयोजनमूलक हिन्दी वाले पक्ष का सुस्थिर-सुचिंतित मूल्यांकन-विश्लेषण प्रस्तुत करें। यह अतिरिक्त बल इसलिए कि बिना इस दिशा में एकजुट हुए हम अपनी मातृभाषा अथवा राष्ट्रभाषा को सबल, मजबूत और टिकाऊ नहीं बना सकते हैं।

असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग
राजीव गाँधी विश्वविद्यालय, रोनो हिल्स, दोइमुख
ईटानगर, अरुणाचल प्रदेश-791112

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

भक्ति आन्दोलन एवं शिवकुमार मिश्र के विचार

● डॉ. सत्य प्रकाश पाल

हिन्दी आलोचना की प्रगतिशील परम्परा में मिश्र जी की उपस्थिति इसलिए महत्वपूर्ण है क्योंकि वह रचना के यथार्थ पर विचार करने के बाद तर्कसंगत विश्लेषण का रास्ता चुनते हैं तथा ज्ञानात्मक तर्क के अनुशासन के बाद ही आगे बढ़ते हैं। मिश्र जी की कृति 'भक्ति आंदोलन और भक्तिकाव्य' में संकलित निबंधों में उनके संवेदनात्मक सजगता, विनम्रता, साहस और मर्मभेदिनी दृष्टि का पता लगता है।

मिश्र जी मार्क्सवादी आलोचक हैं, उन्होंने भक्ति आंदोलन और भक्तिकाव्य नामक अपनी पुस्तक की भूमिका में लिखा है- ''मार्क्सवाद ने मुझे भक्ति के इस काव्य को देखने की नई दृष्टि दी और सच पूछा जाए तो भक्तिकाव्य के प्रति मेरी अपनी आत्मीयता जिन आयामों पर है उसे बरकरार रहने में, और विकसित करने में मार्क्सवादी दृष्टि का प्रधान योग संभव है और संभव क्या, यह सही है कि भक्तिकाव्य को भजन-पूजन के स्तर पर भक्ति काव्य में ग्रहण नहीं कर पाया। भक्ति काव्य को मैंने ग्रहण किया उस स्तर पर जिसकी या तो घोर भौतिकता में डूबे उसके प्रशंसक चर्चा नहीं करते या औपचारिकतावश चर्चा करते भी हैं वह उन्हें अपने ऊपर ही व्यंग्य मालूम देती है''[१]।

लगभग तीन सौ वर्षों से भी ऊपर के समय तक भारतीय जीवन को अनुप्राणित करने वाले भक्ति आन्दोलन की चर्चा करते हुए प्राय: देशी विद्वानों ने एक महान ऐतिहासिक घटना के रूप में उसका स्मरण किया है। किसी ने उसे धर्म, समाज, संस्कृति यहाँ तक कि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उसके तलस्पर्शी प्रभाव की चर्चा करते हुए उसे एक नया युगांतर भी माना है। भक्ति आंदोलन के व्यापक जनाधार विशेषत: कोटि-2 दलितों, पीड़ितों और शोषितों के जीवन में आत्मसम्मान पूर्वक जी सकने की एक नई आशा का संचार करने एवं व्यापक सहयोग और शिरकत के बल पर देश के उत्तर से दक्षिण तथा पूर्व से पश्चिम तक, शताब्दियों की कालावधि में भी अपने सार्थक प्रभाव को कायम रखने के नाते उसे मध्यकाल के एक महान जन आंदोलन की संज्ञा भी दी गयी है। उसे यूरोप तथा इटली के रेनसां के समानांतर भारतीय जागरण भी कहा गया है, इसे लोक जागरण के नाम से भी अभिहित किया गया है।

शिवकुमार मिश्र जी कहते हैं कि- ''मार्क्सवादी दृष्टि ने मुझे भक्तिकाव्य को उसके सही परिप्रेक्ष्य में देखने की दृष्टि दी और फलस्वरूप उसके जो शक्तिशाली आयाम मेरे सामने उभरे वे आज भी ज्यों के त्यों बरकरार है, उनकी मिसाल भी नहीं है। मसलन लोकजीवन की पहचान, लोकमानस, लोक हृदय या जिसे लोकचिंत कहते हैं, उसी परख और उसे पूरी जीवंतता में उद्घाटित कर पाना एक बहुत बड़ी उपलब्धि है, जो भक्ति के इन कवियों को हासिल हुई और जिसे आज भी हम अप्रतिम मान सकते है। हम लोक संस्कृति की बात करते हैं भक्ति कवि उसे हमारे सामने मूर्त्त करते हैं। हम लोक जीवन के यथार्थ, लोक के कष्ट, पीड़ा या दु:ख दर्द, हर्ष उल्लास की अभिव्यक्ति में सच्चे मानवीय साहित्य की पहचान मानते हैं और भक्ति काव्य हमें उसकी बानगी देता है।''[२]

भक्ति आन्दोलन मूलत: एक धार्मिक, सांस्कृतिक आन्दोलन के रूप में ही जाना जाता है। अधिकांश धार्मिक

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

आन्दोलन के रूप में उसकी पहचान होती है। उसकी प्रगतिशील सामाजिक अन्तर्वस्तु की ओर समरूक ध्यान प्रवृति मानते हुए उस आन्दोलन को सामाजिक चेतना से युक्त करने वाला आन्दोलन कहा गया। मिश्र जी ने मार्क्स के धर्म के प्रति आशय को स्पष्ट करते हुए कहते है कि- धर्म के बारे में मार्क्स के जिस कथन को बहुधा उदधृत किया जाता है और जिसके आधार पर धर्म को जनता के लिए अफीम मानते हुए उसकी जन विरोधी भूमिका को स्पष्ट किया जाता है। उसके बारे में भी हमें मार्क्स के सही आशय को जान लेना चाहिए। जनता को बरगलाने तथा उसकी वास्तवकि स्थिति से उसे भरमाने में धर्म की वस्तुत: यही भूमिका है, जिसका मार्क्स ने उल्लेख किया है। किन्तु प्राय:इस बारे में मार्क्स को अधूरा ही उद्धृत किया जाता है और इस अधूरी समझ के नाते हम जनता के धर्म के प्रति आकर्षण तथा लगाव को उसके यथार्थ संदभों में नहीं पहचान पाते और कभी-2 धर्म से बेइंतहा जुड़ी हुई यह जनता भी हमें नितांत मूढ़ प्रतिगामी तथा स्वत: अपने हाथों अपने पैर पर कुल्हाड़ी मारने के नाते संवेदना, सहानुभूति तथा समर्थन के योग्य नहीं मालूम देती। इस विषय पर मार्क्स का कथन हैं-"धर्म पीड़ित प्राणी की कराह है, वह इस हृदयहीन जगत का हृदय है, ठीक उसी प्रकार जैसे वह आत्महीन परिस्थितियों की आत्मा है। यह जनता के लिए अफीम है।"[3]

वर्ग, वर्ण, सम्प्रदाय तथा धर्मगत की अवहेलना करते हुए मनुष्य मात्र को ईश्वरोपासना का समान अधिकारी घोषित करने वाली शास्त्रगत व्याख्याएँ तथा व्यवस्थाएँ देकर आचार्यों ने इस काल में एक ऐसी सेक्यूलर विचारधारा की नीवं रखी जो अपने समय को देखते हुए क्रान्तिकारी कही जा सकती है। भारत के सांस्कृतिक इतिहास में पहली बार अंत्यजों और सताएँ हुए वर्गों ने अपने संत दिए और इन संतों ने पहली बार निर्भीक और निश्चित मन से धर्म और वर्ण जाति व सम्प्रदायगत बंधनों और चारदीवारियों को तोड़ते हुए मानव धर्म तथा मानव संस्कृति का नारा बुलंद किया।

यह सही है कि इस भक्ति आन्दोलन से सामाजिक जीवन का अभिशाप सदा के लिए दूर नहीं हो सका व्यवस्था की बुनियाद कुछ अटखे खाकर भी पहले जैसी ही बनी रही, संतों की वाणी भी अधिकतर संदिधा के धरातल तक ही सीमित रही, भक्ति आन्दोलन भी सब समय और सब जगह समस्तरीय नहीं रहा। उसमें उतार-चढ़ाव आते रहे, नए-नए विचार तथा नए-नए मत उसकी आकृति को प्रशस्त तथा संकुचित करते रहे, उसकी गति और व्याप्ति भी फैलती-सिकुड़ती रही, परिणाम स्वरूप भक्ति आन्दोलन का इस्तेमाल चली आ रही व्यवस्था को मजबूत बनाने में किया जाने लगा, परन्तु इन बातों के बावजूद भक्ति आन्दोलन का ऐतिहासिक महत्व और उसका सांस्कृतिक कर्त्तव्य कमजोर नहीं होता।

मिश्र जी के भक्तिकाव्य से संबधित महत्वपूर्ण प्रदेय को हम यहाँ रेखांकित करना चाहते हैं. जो मिश्र जी के द्वारा प्रतिपादित भक्किाव्य के वैशिष्टय को उभारती है। अपनी कृति 'भक्ति आन्दोलन और भक्तिकाव्य' पर अपने गहन अध्ययन के पश्चात अपने निष्कर्षो को अभिव्यक्ति देते है। बहरहाल मिश्र जी के भक्तिकाव्य के सम्पूर्ण वैशिष्ट्य को उजागर करना सहज कार्य नहीं है। क्योंकि वह व्यापक स्तर पर भक्तिकाव्य को अपनी परिधि में समेटता है। अपने निबंध सामाजिक और सांस्कृतिक प्रदेय में मिश्र जी जो बात कहते हैं कि 'भक्तिकाव्य, धर्म और भक्ति की केन्द्रियता के बावजूद केवल पूजा-पाठ, ध्यान-उपासना के माध्यम से इस लोक के दुखों से मुक्ति पाते हुए परलोक में सुख भोगने का संदेश और प्रेरणा देने वाला काव्य नहीं है, अपितु धर्म और भक्ति के आवरण में वह सामाजिक अन्याय के विरोध और मानवीय न्याय के पक्ष में एक उन्नत मानवीय समाज और एक उन्नत मूल्य व्यवस्था के पक्ष में खड़ा होने वाला और उसके लिए संघर्ष करने वाला काव्य है।'[4]

मिश्र जी ने सगुण और निर्गुण कविता को उसकी गहराई के भीतर तक पहुँचाया है। तथा इस पक्ष का खंडन किया कि सामाजिक अन्याय के विरोध में और मानवीय न्याय के पक्ष में निर्गुण संतों का स्वर ज्यादा मुखर व अष्मित है। जबकि सगुण भक्ति की कविता में परंपरागत सामाजिक संरचना का प्राय: समर्थन हुआ है। मिश्र जी के अनुसार-'वस्तुत: भक्ति और

CC-0. In Public Domain. Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

आध्यात्म की भूमि पर सगुण और निर्गुण कविता में आलंबन के सगुण और निर्गुण होने के बावजूद लगभग समानता ही है। निर्गुण और सगुण भक्तों का समाज दर्शन समान नहीं है। परन्तु अपनी सामाजिक चिन्तन में अपने मानवीय सरोकारों में सगुण भक्त निर्गुण संतों से अलग नहीं है। विचार के स्तर पर सगुण भक्तों ने जो भी कहा और प्रतिपादित किया हो भावबोध के धरातल पर वे विचार के स्तर पर अपने कहे हुए से भिन्न मानव प्रेम, सामाजिक न्याय तथा उन मूल्यों को ही सामने लाते है जो निर्गुण भक्तों का प्रतिपाद्य हैं।'[5]

मिश्र जी ने सेक्युलर शब्द का स्पष्टीकरण किया है कि-'यह सेक्युलरिज्म शब्द यूरोप के मध्ययुगीन पाखंडों का विरोध करते हुए सामने आया था। हमारे यहाँ इसका प्रयोग भ्रांत अर्थों में किया जा रहा है या तो इसे निरपेक्षता का पर्याय बताया जा रहा है या सर्व-धर्म-समभाव का। सेक्युलर शब्द अपनी स्थिति में इन दोनों आशयों का प्रतिकार करता है। हमारे लिए सेक्युलरिज्म का यदि कोई अर्थ हो सकता है तो वही हो सकता है जिसे हम संतों की वाणी तथा करनी मे पा सकते हैं। वह अर्थ है, वर्ण, वर्ग, धर्म, नस्ल, जाति या संप्रदायगत भेद बुद्धि से ऊपर उठकर मनुष्य को सिर्फ मनुष्य के रूप में देखना।'[6]

हमारे मध्यकाल के ये संत जिनकी सही शिनाख्त उनकी मनुष्यता और केवल मनुष्यता है, ये ना हिन्दू ना मुसलमान हैं। वे इसे डंके की चोट पर घोषित करते हैं। जहाँ तक सगुण कविता का प्रश्न है सोच के धरातल पर भले ही सगुण भक्ति कविता निर्गुण कविता की तुलना में अपने सामाजिक दृष्टिकोण में पिछड़ी हुई हो, संवेदना के धरातल पर वह मनुष्य और उसकी नियति के प्रति कम चिन्ताशील नहीं है। सगुण भक्तों के अर्न्तविरोध का स्वरूप यह है कि जब भी वे भक्ति आन्दोलन की उदात्त मानवीय चेतना से एकतान हुए। वे निर्गुण संतों के समान ही मनुष्य सत्य की उद्घोषणा करते हैं।

मिश्र जी भक्तिकाव्य की महत्वपूर्ण उपलब्धि उसी के लोक भाषा में निर्मित की माना है। इसी कारण जनसामान्य से वह सम्पृक्त है, पहली बार कविता जनता की भाषा में जन-मन को संबोधित होती है। लोक जीवन के बीच इस भक्तिकाल की जो लोकप्रियता है, उसका एक बड़ा कारण उसका लोक की अपनी भाषा में लिखा जाना है।

भक्त कवियों ने मानव मन को गहराई तक जाकर छुआ और उजागर किया है। यह कविता जीवन से जुड़ी हुई कविता है। वह उन्नत मानवीय बोध की कविता के रूप में हमें अपनी पहचान कराती है। मिश्र जी कहते हैं कि-'इतना ही कहना पर्याप्त है कि मनुष्य के इन्द्रिय बोध और भाव जगत की समर्थतम अभिव्यक्ति हमें इस काव्य में मिलती है। कबीर, तुलसी, सूर, मीरा इस काल के कालजयी कवि हैं। मनुष्य के मन में गहराई तक ये भक्त प्रवेश कर सके हैं और उसे उद्घाटित कर सके हैं।'[7] मिश्र जी द्वारा वर्णित भक्तिकाव्य की सामाजिक सांस्कृतिक उपलब्धियों का यह एक संक्षिप्त विवेचन है। रचना वहीं महत्वपूर्ण होती है, जो अपने समय के लिए तो जरूरी हो, भविष्य के लिए भी उतनी ही प्रासंगिक हो। भक्ति कविता एसी ही कविता है जो अपने समय में तो महत्वपूर्ण थी। भक्ति संबंधी कविता आज के समय के लिए भी अर्थवान है। वह हमारी ऐसी विरासत है जिसे हमें कृतज्ञता के साथ स्वीकार करना है और संरक्षण देना है।

मिश्र जी का भक्तिकाव्य संबंधी वैशिष्ट्य उनके आलेख भक्ति काव्य और मानुष सत्य में भी उदघाटित होता है। जहाँ वे कहते हैं कि 'धर्म और भक्ति पर केन्द्रित होते हुए भी भक्ति आन्दोलन अपने आशयों में बहुआयामी रहा है। उसके निहितार्थ भी इसी नाते बहुआयामी है।'[8] मिश्रजीका यह है कि भक्ति काव्य को उसकी समग्रता से अथवा उसके सामाजिक निहितार्थो के तहत विश्लेषित करने का नहीं है। अपितु धार्मिक सामाजिक सोच के अन्तर के बावजूद भक्तिकाव्य को इस सामान्य भावभूमि तक अपने को केन्द्रीय रखना है, जो भिन्नताओं और विविधाताओं के बीच भी भक्ति की कविता को कुछ ऐसे अन्तः सूत्रों से जोड़कर रखती है। जो मनुष्य मात्र की संवेदनाओं के सूत्र हैं और जिसके नाते भक्ति की यह कविता मध्ययुग का अतिक्रमण करते हुए हमारे अपने समय में भी अपनी सार्थकता साबित करती है।

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

मिश्र जी ने लोक शब्द का अर्थ स्पष्ट किया है कि 'लोक परिष्कृत परिनिष्ठित या शिष्ट का विलोम है। लोक शब्द हिन्दी में साधारण जन के लिए भी प्रयुक्त होता है, जिसका विलोम अभिजन या अभिजात वर्गों के लोग है। साधारणत: लोक का अर्थ इसी संसार से लेते हैं, उस समाज से लेते हैं, जिसमें मनुष्य रहता हैं।"[9]

संदर्भ ग्रन्थ :

1. भक्ति आन्दोलन और काव्य- डॉ शिवकुमार मिश्र, पृ 6
2. वही, पृ 10
3. वही, पृ 20
4. वही, पृ 31
5. वही, पृ 80
6. वही, पृ 46
7. वही, पृ
8. भक्ति आन्दोलन और भक्ति काव्य- शिवकुमार मिश्र पृ 75
9. वही, पृ 5

असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी विभाग

राजीव गाँधी विश्वविद्यालय, रोनो हिल्स, दोइमुख

ईटानगर, अरुणाचल प्रदेश-791112

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

भक्तिकाव्य के कालजयी कवि और हमारा समय

● डॉ अभिषेक कुमार मिश्र

मेरा आज का मन
नया सन्दर्भ है
मगर ऐसा भी नया की लगाव न हो उसका
किसी पुराने के साथ
लगाव के बिना कुछ भी नहीं रह सकता।
– भवानी प्रसाद मिश्र

सर्वपल्ली राधाकृष्णन साहित्य में कालजयी रचनाओं पर विचार रखते हुए कहते है– साहित्य में कालजयी रचनाएं गहन गंभीर मानवीय अनुभवों से जन्म लेती हैं। शताब्दियों के अंतराल के बाद, नितांत भिन्न परिस्थितियों और अवस्थाओं में भी उनमे हमें अपने अनुभवों की गूंज सुनायी देती है। श्रेष्ठ कालजयी रचनाओं में देश काल की सीमाओं से परे होते हैं। (डॉ राधाकृष्णन–प्रेरणा पुरुष–पृष्ठ–3)। इस धरातल से जब हम भक्तिकाल की कविता का मूल्याङ्कन करते हैं तो देखते हैं कि यह कविता न केवल मानवता के गहन और गंभीर अनुभवों के भीतर से जन्म लेती है वरन अपने देश और काल की सीमा का अतिक्रमण भी करती है और आज एकदम भिन्न परिस्थिति में हमें भी न केवल आवाज दे रही है बल्कि सावधान भी कर रही है। जनाब फिराक गोरखपुरी ने अपने एक साक्षत्कार में इस प्रश्न पर कि आप इतनी भाषाओं के काव्य से परिचित हैं, किसी एक कवि का नाम आपकी जबान पर आएगा तो किसका आएगा उत्तर था– तुलसीदास का और किसका? आगे पूछा गया– आपको लगता है कि आप उनके सहयात्री हैं? किंचित उत्तेजित होकर फिराक साहब ने उत्तर दिया– "क्या मूर्खतापूर्ण बात करते हो सूर, तुलसी, कबीर और मीरा के करोड़ो मील दूर तक गालिब, इकबाल और टैगोर को नहीं मानता, तो मेरी बिसात ही क्या है? (कवि परंपरा तुलसी से त्रिलोचन–प्रभाकर श्रोत्रिय–पृष्ठ 11)। सूर, कबीर, जायसी, मीरा और तुलसी की कविता कालजयी कविता है, क्योंकि वह अपने समय को ही नहीं आने वाले समय को भी अपने आलोक से आलोकित करती है। इनकी कविता अपने समय की वास्तविकता का तो बयां करती ही है साथ ही आने वाले समय के यथार्थ पर भी भरपूर प्रकाश डालती है। आचार्य पंडित रामचंद्र शुक्ल ने भक्त कवियों को कालदर्शी कहा है। उनका विचार है कि– कालदर्शी भक्त कवि जनता के हृदय सँभालने और लीन रखने के लिए दबी भक्ति को जगाने लगे। क्रमशः भक्ति का प्रवाह ऐसा विकसित और प्रबल होता गया कि उसकी लपेट में केवल हिन्दु जनता ही नहीं, देश में बसने वाले सहृदय मुसलमानों में से भी न जाने कितने आ गए। (हिन्दी साहित्य का इतिहास– आचार्य पंडित रामचंद्र शुक्ल पृष्ठ) एक जगह रेवतीलाल शाह से तुलसी के बारे में अपनी राय व्यक्त करते हुए फिराक साहब कहते– मियाँ, एक लाख फिराक मिलकर भी तुलसी का मुकाबला नहीं कर सकते। तुलसी की कविता जब काम पड़ती है सो ऐसा लगता है कि एक शब्द के साथ कान में अमृत टपक रहा हो। (कवि परंपरा

CC-0. Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

तुलसी से त्रिलोचन-प्रभाकर श्रोत्रिय-पृष्ठ)। भक्ति काल की कविता के इस व्यापक और स्थायी प्रभाव का कारण उसमे अतीत की स्मृति, उपने समय और समाज की संस्कृति की सजग चेतना और भविष्य की गहरी चिंता है।

किसी भी प्राचीन कवि और उसकी कविता की समकालीनता पर विचार करते समय हमें इस बात का ध्यान रखना होगा कि हमारे वर्तमान को किस तरह आलोकित है और एक नयी दिशा की ओर अग्रसर होने में हमारी चेतना को किस तरह प्रभावित करती है। वाल्टर बेन्जामिन का विचार है कि- अतीत के अनुभव के रूप में अतीत के साहित्य का मूल्यांकन करना अपर्याप्त है, वर्तमान के अनुभव के रूप में उसका विश्लेषण और मूल्यांकन है। (भक्ति आन्दोलन और सूरदास का काव्य-मैनेजर पाण्डेय-पृष्ठ-)। इस हेतु हमें एक ओर उस युग की कविता को समग्रता में देखना होगा और दूसरी ओर इतिहास और परंपरा के तत्कालीन हस्तक्षेप की दृष्टि से उसकी क्रांतिकारी भूमिका को भी समझना होगा। भक्ति आन्दोलन केवल एक सांस्कृतिक आन्दोलन ही नहीं है बल्कि एक सामाजिक आन्दोलन भी है, क्योंकि उसमें अपने युग की जनता की सामाजिक जीवन की वास्तविकता एवं आकांक्षा की भी सशक्त अभिव्यक्ति हुई है। उस काल की कविता का जो प्रधान लक्ष्य है वह है-मानुष सत्य अर्थात मानवता की रक्षा और उका विकास। उनकी समस्त रचनाशीलता मनुष्यता के प्रसार की दिशा में उन्मुख है। इसके आगे उन कवियों को कुछ भी स्वीकार्य नहीं-न कुल, न जाति, न धर्म, ना सम्प्रदाय, स्त्री-पुरुष का भेद, न लोक का भय न शास्त्र का बंधन। इसी निमित्त उन्होंने ईश्वर स्वरुप प्रेम को सामने लाकर मनुष्य और मनुष्य के बीच फैले हुए भेदभाव को मिटाने की कोशिश की। आचार्य पंडित रामचंद्र शुक्ल का विचार है कि- प्रेम स्वरुप ईश्वर को सामने लाकर भक्त कवियों ने हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों को मनुष्य के सामान्य रूप में दिखाया और भेदभाव के दृश्यों को हटाकर पीछे कर दिया (हिन्दी साहित्य का इतिहास- आचार्य पंडित रामचंद्र-शुक्ल पृष्ठ-)

भक्ति हृदय का धर्म है। हृदय के जितने भी धर्म है उसमे सर्वाधिक उदात्त, मानवीय और व्यापक धर्म प्रेम है, जी भक्ति काव्य का बीज अर्थात् मूल भाव है। शुक्ल जी ने भी भक्ति मार्ग को शुद्ध भाव मार्ग अथवा प्रेम मार्ग कहा है, जिसका आधार मनुष्य की रागात्मिका वृत्ति है और इस प्रेम पद्धति की सब को सब लोग स्वभावत: जानते हैं। कहने का आशय यह है कि प्रेम मनुष्य का स्वभाव है, जो उसे समस्त संकीर्णता से मुक्त करता है। कुल, जाति, धर्म, संप्रदाय की सीमाओं से बाहर करता है और लोक सामान्य की भाव-भूमि पर खड़ा करता है। प्रेम के इसी धरातल से भक्ति काल का सूफी साहित्य वैष्णव साहित्य से मिलता है और सगुन साहित्य निर्गुण साहित्य से और मानव मात्र की एकता का आधार बनता है। कबीर की मीमांसा करते हुए आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का विचार है कि- भक्ति आन्दोलन ने दो रूपों में आत्म प्रकाश किया। पौराणिक अवतारों को केंद्र करके सगुण उपासना के रूप में और निर्गुण परब्रम्ह, जो योगियों का ध्येय था, उसे केंद्र करके निर्गुण प्रेम भक्ति की साधना के रूप में। पहली साधना ने हिन्दू जाति की बाह्याचार की शुष्कता को आंतरिक प्रेम से सींचकर रसमय बनायी और दूसरी साधना बाह्चाचार को ही दूर करने का प्रयत्न किया। एक ने समझौते का रास्ता लिया दूसरे ने विद्रोह का। एक ने शास्त्र का सहारा लिया दूसरे ने अनुभव का। एक ने सगुन भगवान को अपनाया दूसरी ने निर्गुण भगवान को। पर दोनों का ही मार्ग प्रेम था। आंतरिक निवेदन दोनों का ही अभीष्ट था। (कबीर-हजारी प्रसाद द्विवेदी पृष्ठ-)। प्रेम, भक्त कवियों की निगाह में सबसे बड़ा पुरुषार्थ है। इससे बढ़कर कोई पुरुषार्थ नहीं। इसलिए प्रेम इनकी कविता का केन्द्रवर्ती स्वर रहा है। कबीर समस्त शास्त्र-ज्ञान एंव चरित्र-ज्ञान को प्रेम के ढाई अक्षरों मे ही तौल देते है-

पोथी पढ़ी जग मुआ पंडित भया न कोइ।
ढाई आखर प्रेम का पढ़े सो पंडित होइ॥

इस प्रेम समक्ष मनुष्य के बीच के समस्त भेद,अहं समास हो जाते है, संतों की निगाह में इस प्रेम को प्राप्त कर लेना

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

भगवान को प्राप्त कर लेने जैसा है। इसीलिए कबीर कहते है यह प्रेम किसी बाग बागीचे अथवा खेत में नहीं पैदा होता और न ही बाजार में बिकता है। इसे राजा अथवा रंक कोई भी प्राप्त कर सकता है। शर्त सिर्फ इतनी है कि उसे अपना शीश काटकर जमीन पर रख देना होगा। कबीर की प्रेम प्राप्ति की यह शर्त प्रेम को भगवान के समकक्ष खड़ा कर देती है-

कबीर यह घर प्रेम का खाला घर नाहि।
सीस उतारे भूई धरे सो घर पैठे आहि।

प्रेम की इसी जमीन से कबीर हिन्दू और मुस्लिम दोनों को ही न केवल फटकारते हैं वरन उनकी एकता की अपील भी करते हैं-

हिन्दु कहे मोहि राम पियारा तुरुक कहे रहिमाना।
आपस में दोऊ लरि मुए मरम न काहू जाना।

यहाँ पर कबीर अपने समय की स्थिति का कोई बखान नहीं कर रहे हैं वरन दो आत्माओं की मिलन भूमि की ओर इशारा कर रहे हैं। इस खीझ में भी प्रेम की अपील है। कबीर अपने समय के हिन्दुओं और तुर्कों को अच्छी तरह देख और समझ रहे थे। उनकी निगाह में दोनों ही अंधे हैं। अतः कोई किसी को रास्ता नहीं दिखा सकता-

अरे इन दोउन राह न पाई।
हिन्दुवन की हिन्दुवाई देखी, तुरक की तुकराई।

साथ ही वे यह भी कह देते हैं-

हिन्दू तुरुक की एक राह है, सतगुरु इहै बताई।
कहहिं कबीर सुनहु हो संतों, राम न कहेहु खुदाई॥

कबीर का प्रेम निरीह आत्मसमर्पण का कोमल नहीं है बल्कि प्रचंड प्रश्नाकुलता का आधार भी है। एक ऐसी प्रश्नाकुलता जो सामाजिक आलोचना एवं व्यंग्यधर्मिता का रूप धारण कर लेती है। जो ब्राम्हण जन्म के आधार पर अपने को श्रेष्ठ कह रहे थे और शूद्र जातियों को हीन और अस्पृश्य समझ रहे थे उनसे प्रश्न करते हुए कबीर कहते हैं-

जो तू बाम्हन बभनी जाया।
आन मार्ग ह्वै काहे न आया।

कबीर अपने समय में दो नंगी तलवारों पर चल रहे थे। एक ओर काशी में वे काशी के पंडितों को चुनौती दे रहे थे तो दूसरी ओर मुस्लिम शासन में रहते हुए उनके कर्मकांड को ललकार रहे थे-

ता चढी मुल्ला बाग दे क्या बहरा हुआ खुदाय

उनका विश्वास था कि उस ईश्वर तक अपनी आवाज को पहुँचाने के लिए चिल्लाने की जरुरत नहीं है, क्योंकि वह तो चीटी के पैरों में बजने वाले घुघुरू की आवाज को भी सुन लेता है-

चिटी के पग घुघुर बाजे सो भी साहब सुनता है।

यही नहीं, जिस समय यह संसार सुख और चैन की नींद सो रहा था उस समय मनुष्यता के उज्जवल भविष्य का यह द्रष्य कबीर जाग रहा था। सारा समाज सुख सुविधाओं को भोग रहा था, किन्तु कबीर दुखों भट्ठी में सुलग रहे थे, युग की पीड़ा का साक्षात्कार करते हुए आंसू बहा रहे थे। (भक्ति आन्दोलन और भक्तिकाव्य-शिव कुमार मिश्र पृष्ठ-)

सुखिया सब संसार है खावै औ सोवै।
दुखिया दास कबीर है जागै औ रोवै।

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

आधुनिक युग में इस की अभिव्यक्ति भारतेंदु में देखी जा सकती है। जब भारतेंदु देश की दशा और दिशा को देखकर अपने रुदन में समस्त देशवासियों को सहयोग देने की अपील करते हुए दिखायी देते हैं-

आवहु सब मिली के रोवहु भारत भाई।
हा,हा भारत दुर्दशा न देखी जाई॥

कबीर यह सब इसलिए कर पाते हैं, क्यंकि उनका भक्ति या दर्शन समता का है। डा नंदकिशोर नवल का विचार है कि- कबीर सामाजिक विद्रोही न थे। निस्संदेह उनमे वर्ण-व्यवस्था का बहुत तीखा विरोध है, लेकिन उनका लक्ष्य न होकर उपलक्ष्य है। उसके पीछे उनकी भक्ति या दर्शन है जो समतामूलक है। (कविता पहचान का संकट-नन्द किशोर नवल, पृष्ठ-)। समता के इसी सिद्धांत पर कबीर हिन्दू और मुस्लिम समाज में व्यास भेद-भाव का सीधा विरोध करते हैं और अपने समाज को ही नहीं वरन आने वाले समाज को भी सभ्यता का गंभीर सन्देश देते है। राजा राम का मानना था कि- जो देथ अपने को सभ्य कहता है उसे समानता के मूल सिद्धांत को स्वीकार कर लेना चाहिए-मानव की समानता। (डॉ राधाकृष्णन-प्रेरण पुरुष-पृष्ठ-)। कबीर का भी यही लक्ष्य था मानव मात्र की समानता। कबीर ने भेदभाव और अन्धविश्वास से रहित तथा मानवता से परिपूर्ण जिस धर्म का स्वरुप प्रस्तुत किया वही आज के समय की जरुरत भी है। इसी भूमि पर से हम इस बात को भी कह सकते है कि-मजहब नहीं सिखाता आपस में बैर रखना। वह मजहब, मजहब नहीं, जिसमे आदमी आदमी की हत्या करके अपना साम्राज्य विस्तार करता है। डॉ पुरुषोत्तम अग्रवाल ने कबीर पर नए ढंग से विचार करते हुए कहा है कि- कबीर की कविता बहुत ही प्रखर और भावुक ढंग मनुष्य को उसका स्वधर्म याद दिलाने वाली कविता कहा है। वह हमें यह भी याद दिलाती है कि कवि कबीर की रचना प्रक्रिया का केन्द्रीय तत्व प्रेम ही है-अत्यंत कोमल भावदश के रूप में भी, अंतर्मन के प्रकाश के रूप में भी और भाषिक सर्जनात्मकता के आधार के रूप में भी। (विचार का अनंत- पुरुषोत्तम अग्रवाल पृष्ठ-)।
खुद कबीर की वाणी-

पिंजर प्रेम प्रकास्या अंतरी भय उजास।
मुख कस्तूरी महमही बानी फूटी बास।

मलिक मुहम्मद जायसी की निगाह में तो प्रेम से अधिक सुन्दर और काम्य कुछ भी नहीं। सत्ता, शक्ति और धर्म कुछ भी नहीं। प्रेम ही वह तत्व है, जो मानव को बैकुंठी बना देता है और जिसके अभाव में मनुष्य का जीवन मुट्ठी भर राख है- मानुष प्रेम जायसी की कविता का मूल प्रेरक भी है और लक्ष्य भी है। उन्हें उम्मीद ही नहीं वरन पूरा विश्वास भी है कि उनकी कविता पाठक के भीतर प्रेम की पीर पैदा करेगी-

मुहमद कवि ओरि सुनावा, सुना सो प्रेम कर पावा।

मानव मन की बड़ी भरी विशेषता यह कि वह वहीं रमता है, जहाँ उसे प्रेम की प्रात्रि होती है। जहाँ प्रेम नहीं मिलता वहां पर मानव का मन रमण नहीं करता है। इसीलिए जायसी कहते हैं कि जितनी भी भाषाओं में कविता होती है उनका एक मात्र लक्ष्य प्रेम है-

तुरकी अरबी हिन्दुई, भाषा जेती आहि
जेहि मंह मागर प्रेमकर, सबै सराहैं ताहि॥

गालिब ने एक जगह लिखा है- रगों में दौड़ने फिरने के हम नहीं कायल जब आँख ही से न टपका तो फिर लहू क्या है। जायसी ने भी आँखों से टपकने वाले लहू से प्रेम काव्य लिखा है-

जोरी लाइ रकत कै लेई, गाढ़ि प्रीति नयनंह जल भेई

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

ओ मै जानि गीति अस कीन्हां, मकु यह रहै जगत मंह चिन्हां॥

कबीर भी आँखों से टपके लहू से अपने प्रियतम के चरण धो चुके भे- सोई आंसू सान्जणा, सोई लोक बिडाही। जे लोइण लोही चुवैं, तै जानैं, तौ जानौ हेत हियाहि। जायसी प्रेम को मनुष्य का सबसे बड़ा पथ प्रदर्शक मानते थे। पद्मनी को प्रात्र करने की इच्छा रत्नसेन और अलाउद्दीन दोनों के मन मे है, किन्तु दोनों के रस्ते अलग-अलग हैं। रत्नसेन सत्ता और शक्ति दोनों का ही परित्याग कर केवल प्रेम के सहारे पद्मनी को प्रास करने चलता है और सफल हो जाता है। अलाउद्दीन सत्ता, शक्ति और धर्मोन्माद के रस्ते पर चलकर पद्मनी को प्रास करना चाहता है और असफल होता है। उसके होता है। उसके पास प्रेम के अलावा सब कुछ है। चित्तौड़ पर उसके आक्रमण का अंत इस प्रकार होता है-

जौहर भई सब इस्तरी, पुरुष भये संग्राम।
बादशाह गढ़ चूरा, चितउर भा इस्लाम॥

चितौड़ पर अलाउद्दीन का कब्जा होता है किन्तु मानव जीवन का जो सबसे कोमल, सुन्दर और काम्य है उसे खो करके। इस पर डॉ मैनजर पांडे की टिप्पणी बड़ी समीचीन है- इस जीत से बड़ी इंसानियत की हार और क्या होगी जायसी का संकेत स्पष्ट है कि धार्मिक कट्टरता भयंकर होती है, यदि वह सत्ता से तो और भी विनाशकारी होती है। सत्ता, शक्ति और धार्मिक उन्माद के बावजूद प्रेम के अभाव सें अलाउद्दीन को पद्मनी नहीं मिली, उसकी चिता की राख मिली और उस राख से ढककर झूठी पृथ्वी पर व्यर्थता की जीत हाथ लगी। (भक्ति आन्दीलन और सूरदास का काव्य-मैनेजर पांडेय- पृष्ठ)। यही नहीं, डॉ पाण्डेय पद्मावत को धार्मिक कट्टरता पर प्रेम की जीत का काव्य घोषित करते है। यह प्रेम का सन्देश केवल अपने समय के लिए ही नहीं वरन आज के समय में भी बहुत ही अर्थवान और सार्थक है। जायसी की महत्व का मूल्यांकन करते हुए आचार्य पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने सही ही कहा है कि कबीर की कठोर उक्तियाँ हिन्दुओं और मुसलमानों को एक दूसरे के निकट लाने का जो सार्य नहीं कर सकीं उसे जायसी जैसे सहृदय मुसलमान ने बहुत ही सफलता के साथ कर दिखाया। (द्रष्टव्य-जायसी ग्रंथावली आचार्य प. रामचन्द्र शुक्ल-पृष्ठ-)। इस सम्बन्ध में जायसी साहित्य के गंभीर अध्येता विजय देव नारायण शाही का विचार है कि- जायसी का प्रस्थान न ईश्वर है, न कोई नया अध्यात्म है। उनकी चिंता का मुख्य ध्येय मनुष्य है।... जायसी उस मानवीय अनुभूति के ही साक्षी है, जो सारे वैभव के बाद पृथ्वी को दो मुट्ठी छार में बदल देती है और साथ ही यह भी याद दिलाती है कि फूल मर जाता है, लेकिन गंध शेष रह जाती है। (जायसी-विजय देव नारायण शाही-पृष्ठ-)। मानवीय अनुभूति के इसी धरातल से जायसी हिन्दू-मुस्लिम एकता और प्रेम का सन्देश देतें हैं, जिसकी जरुरत आज शायद कल से भी ज्यादा जरुरी है।

महात्मा सूरदास तो प्रेम के सर्वस्वीकार्य महाकवि हैं। हिन्दी साहित्य में उनसे बड़ा प्रेम का कोई दूसरा कवि नहीं है। उनके प्रेम में सब बराबर हैं। स्त्रियाँ पुरुष की बराबरी में खड़ी होकर बात करतीं हैं। कहीं कोई भेद-भाव नहीं है। वह लोक के भय शास्त्र के बंधन दोनों ही तोड़ने वाला है। आचार्य शुक्ल तो सूर के प्रेम को जीवनोत्सव के रूप में देखते है। उनका विचार है- इस प्रेम को हम जीवनोत्सव के रूप में पाते है। सूर के कृष्ण और गोपियाँ पक्षियों पक्षियों के सामान स्वच्छंद हैं। ये लोक के बंधनों से जकड़े हुए नहीं दिखाए गए हैं। जिस प्रकार स्वच्छंद समाज का स्वप्न अंग्रेज कवि शेली देखा करते थे, उसी प्रकार का यहाँ समाज सूर ने चित्रित किया। (त्रिवेणी-आचार्य रामचंद शुक्ल-पृष्ठ-)। जिस प्रेम को सूरदास समाज के सम्मुख रखते हैं वह केवल अरने समय को ही नहीं वरन आज के रुढियों से जकड़े हुए भारतीय समाज में भी प्रेम के लिए संघर्ष की प्रेरणा देवा है, क्योंकि सभ्यता के इस युग में भी प्रेम को हम जीवनोस्तव के रूप में नहीं बल्कि सामाजिक अपराध और मानवीय कमजोरी के रूप में ही देखते हैं। निश्चित रूप से सूरदास हमारे लिए नए पाठ की तरह हैं। गोपियों का प्रेम न

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

केवल निर्भीकस है वरन निर्द्वंद भी है। इस प्रेम का स्वाभाव है-

गोपी श्याम रंग रांची।

देह गेह सुधि बिसारि, बढ़ी प्रीति साँची।

दुविधा उर दूर भई, गयी मति वह कांची।

मातु-पिता लोक भीती बांकी नहि बाँची।

सकुच जबहीं आवै उर बार-बार झांची।

घनानन्द कहते है कि अति सूधो सनेह को मारग है, जहाँ नेकु सयानप बांक नही। अर्थात प्रेम का मार्ग अत्यंत सहजता और सरलता का मार्ग है जहाँ चालाकी के लिए लेशमात्र भी जगह नही है। जब गालिब कहते है-इश्क को दिल में जगह दो यारों, इल्म से शायरी नहीं होती तो उनका भी इशारा कुछ ऐसा ही है। प्रेम के ही बल पर गोपियाँ उद्धव की समस्त चालाकी की बोलतीू बंद कर देती हैं। उनके समस्त ज्ञान का गर्व की प्रेममयी धरती पर गिरकर खंड-खंड हो जाता है। भ्रमरगीत में ऐसे बहुत सारे पद हैं, जो ज्ञान पर प्रेम की जीत को प्रमाणित कर देते हैं-

गोपी श्याम रंग रांची।

देह गेह सुधि बिसारि, बढ़ी प्रीति साँची।

दुविधा उर दूर भई, गयी मति वह कांची।

मातु-पिता लोक भीती बांकी नहि बाँची।

सकुच जबहीं आवै उर बार-बार झांची।

घनानन्द कहते हैं कि अति सूधो सनेह को मागर है, जहाँ नेकु सयानप बांक नहीं। अर्थात प्रेम का मार्ग अत्यंत सहजता और सरलता का मार्ग है जहाँ चालाकी के लिए लेशमात्र भी जगह नहीं है। गालिब कहते हैं-ईश्क को दिल जगह दो यारों, इल्म से शायरी नहीं होती तो उनका भी इशारा कुछ ऐसा ही है। प्रेम के ही बल पर गोपियाँ उद्धव की समस्त चालाकी की बोलती बंद कर देती हैं। उनके समस्त ज्ञान का गर्व ब्रज की प्रेममयी धरती पर गिरकर खंड-खंड हो जाता है। भ्रमरगीत में ऐसे बहुत सारे पद हैं, जो ज्ञान पर प्रेम की जीत को प्रमाणित कर देते हैं-

आयो घोष बड़ो व्यापारी।

जोग ठगौरी ब्रज न बिकैहैं।

मूरी के पातनि के बदले, को मुक्ताहल दैहैं।

उद्धौ मन नहीं दस बीस।

उधे बिरहीं प्रेम करै।

सूर गोपाल प्रेमपथ-जल ते कोउ न दुखहि डरे।

सूरदास का वात्सल्य वर्णन तो मनुष्यता को जगाने और बचाने और का एक सशक्त माध्यम है। प्रो. मैनेजर पाण्डेय के शब्दों में- (भक्ति आन्दोलन और सूरदास का काव्य-दूसरे संस्करण की भूमिका)। एक उदहारण-

खेलत में काको गोसैयाँ।

हरी हारे, जीते श्रीदामा, बरखत ही कट करत रियैयाँ।

जांतिपाति हमते कछु नांही बसत तुम्हारे छैयां।

अति अधिकार जनावत यांते अधिक तुम्हारे हैं कछु गैयाँ।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

खेलत हरी निकसे ब्रज होरी।
गए स्याम रवितनया के तट, लसति चन्दन की खोरी।
करी ल्यो न्यारी, हरी आपनि गैया।
नाहिन बसत लाल कछु तुमसों सबै गयल इक ठेयां।

वात्सल्य और श्रृंगार वर्णन में ब्रज की लोक संस्कृति और लोक जीवन महात्मा सूरदास ने जिस गहराई और विस्तार के साथ प्रस्तुत किया है, वह समस्त हिंदी काव्य की एक अमूल्य निधि है। यह एक ऐसी गवई संस्कृति है, जो अपनी जीवन्तता में अनुपम है। इस समाज का हर व्यक्ति अपने दैनंदिन कारोबार में क्रियाशील है। प्रेम का कारोबार भी दैनंदिन कार्य-व्यापक के साथ ही चलता रहता है। कृष्ण अपनी गायें चराने जाते हैं और गोपियाँ दूध-दही बेचने निकलती हैं। इसी में उनके बीज कार प्रेम प्रसंग गुथा हुआ है। प्रेम उनकी दिनचर्या में समाहित है। सूर की कविता का यह एक बड़ा मानवीय बड़ा मानवीय पक्ष है, जिसमे हम प्रेम को इतने स्वतंत्र और सहज रूप में पाते हैं। युग सन्दर्भो के बदल जाने पर भी उनकी कविता का यह मानवीय अंश न केवल हमारी मूल्यवान विरासत है बल्कि कालजयी भी है। भक्ति और अध्यात्म के अपने समस्त पक्षों के बीच भी सूर की कविता में जो लोक-जीवन और लोकसंस्कृति की मार्मिक छवि उभकरकर सामने आई है, वात्सल्य और श्रृंगार की जो एक भरी-पूरी सम्पदा है, सामाजिक वर्जनाओं और जीवन की कुंठाओं से मुक्त उमंग और उल्लास के साथ जीवन के प्रति जो आस्था है तथा नारी की अत्मिता और उसकी मूल पहचान एंव उसकी आंकाक्षा को देने का जो कार्य है, उसके लिए सूरदास हमेशा-हमेशा स्मरणीय रहेंगे।

गोस्वामी तुलसीदास के राम को तो वही सबसे अधिक प्रिय है, जो और उदास है। राम दीन-हीन और दुखियों से अगाध प्रेम करते हैं। इसीलिए तुलसी की राम में अपार निष्ठा है-

गिरा अरथ जल बिची सम कहियत भिन्न न भिन्न।
बंदौ सीता राम पद जिन्हहिं परम प्रिय खिन्न।

साहित्यकार अपने समय और समाज की ऊपज हीता है। वह या तो उससे संतुष्ट होकर उसकी कोई सकारात्मक छवि अपने साहित्य में अंकित करता है अथवा उससे खिन्न अथवा दुखी होने पर उसकी भर्त्सना करता है और अपनी प्रतिभा से एक बेहतर दुनिया का निर्माण भी करता है। तुलसीदास ऐसे ही महाकवि हैं। उनका उद्देश्य समाज में की स्थापना है। शब्द और छंद के माध्यम से। इसीलिए मानस के प्रारंभ में ही वे कहते हैं-

वरनामार्थ्संघनाम रसानां छन्दसामपि।
मंगलानाम च कर्तारौ बन्दे वाणी विनायकौ।

आचार्य पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने गोस्वामी तुलसीदास के आविर्भाव को चमत्कार की तरह माना है। उनके दृष्टि में हिंदी काव्य की समस्त शक्तियों का पूर्ण प्रसार सर्वप्रथम इनकी रचनाओं में ही दिखलाई पड़ता है। उनकी दृष्टि का प्रसार इतना अधिक है कि उसे हम जीवन के किसी एक क्षेत्र में नहीं वरन समस्त क्षेत्रों में देख सकते हैं। इसी वे जनता के प्रतिनिधि महाकवि है। गरीब से लेकर अमीर, ग्रामीण से लेकर शहरी, मूर्ख के लेकर बुद्धिमान, स्त्री-पुरुष, बाल-बृद्ध, किसान-मजदूर, आस्तिक-नास्तिक सब अपने-अपने लिए बहुत कुछ पा सकते हैं। वे जनता के ह्रदय मंदिर में प्रतिष्ठित कवि हैं। आचार्य शुक्ल की टिप्पणी है- अपने दृष्टिविस्तार के कारण ही तुलसीदासजी उत्तरी भारत की समग्र जनता के ह्रदय मंदिर में पूर्ण प्रतिष्ठा के साथ विराज रहे हैं। भारतीय जनता का प्रतिनिधि कवि यदि किसी को कह सकते हैं तो इन्हीं महानुभाव को। और कवि जीवन का कोई एक पक्ष लेकर चले हैं पर इनकी वाणी की पहुच मनुष्य के सारे भावों और व्यवहारों तक है। (हिन्दी

Aagamgarh Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

साहित्य का इतिहास-आचार्य पंडित शुक्ल पृष्ठ-)। तुलसी की कविता तो सुरसरि की भांति सब कंह वाली कविता है। आद्योपांत मानव के सुख-दुःख, उत्थान-पतन, उमंग-उछाह में छाया की भांति खड़ी रहने वाली। तभी तो एक निपट ग्रामीण भी- का वरखा जब कृषि सुखानो- और एक दुःख से दुखी व्यक्ति भी-खल सन कलह न भल नहीं प्रीति और एक आस्तिक भी सहज ही कह देता है- हानि-लाभ जीवन-मरण जस-अपयस विधि हाथ। तुलसी ऐसे ही जनव्यापी कवि हैं। वे रामकथा लिखकर करोड़ों लोगों के कंठहार बन गए। (द्रष्टव्य-कवि परंपरा तुलसी से त्रितलोचन-प्रभाकर श्रीत्रिय पृष्ठ-)।

रामकथा के भीतर से तुलसी राम का जो चरित्र सामने रखते हैं उसमे ईश्वरीय और मानवीय रूप की एक संश्लिष्ट छवि विद्यमान है। यह रचनाकार की अपनी मौलिक देन है, जो उसकी कल्पना, आस्था और सामान्य जनता के भीतर राम की छवि के करण संभव हुआ। राम इश्वर भी हैं और सीता के पति भी, किसी के भाई, किसी के पुत्र, किसी के स्वामी, किसी के सेवक। राम का मतलव धर्म है और धर्म मतलव राम है। लेकिन यह धर्म वह नहीं है, जो पुजा-पाठ और कर्मकांड के रूप में विद्यमान है। यहाँ धर्म का आशाय- धृतिः, क्षमा, दामों, अस्तेयं से है, धर्मो ही तेषाम अधिकः विशेषः। धर्मेण हीनाः पशुभिः समाना से है। साथ ही तुलसी धर्म की जो तस्वीर रखते हैं- सौ-रज, धीरज तेहि रथ चाका, सत्य, शील, दृढ, ध्वजा पताका से है। यहाँ हमें अपने आलेचनात्मक विवेक के साथ उस राम को आज के समय में आगे ले चलना है, जो सामाजिक प्रगति की हमारी प्रशस्त आंकान्क्षाओं के साथ जुड़ा है। जिस प्रकार का आलोचनात्मक विवेक गाँधी ने और राम मनेहर लोहिया ने दिखाया था। राम की ही ताकत थी, जिसके बल पर गाँधी अंग्रेजों की इतनी बड़ी साम्राज्यवाहिनी के विरुद्ध भारत की निहत्थी जनता का युद्ध लड़ते हैं। गाँधी के आराध्य तुलसी के राम थे, जिनसे उनका नाता मरते दम तक नहीं छूटा। उनका डाइंग स्टेटमेंद था- हे राम। (ध्यातव्य-तुलसी से त्रिलोचन-डॉ प्रभाकर श्रीत्रिय पृष्ठ-:। ऐसे ही राम मनोहर लोहिया ने भी भक्ति साहित्य के भीतर तुलसी साहित्य में राम के चरित्र की मीमांसा करते हुए- सामाजिक अन्याय के विरुद्ध उनके संघर्ष की ताकत, उनका एक नारि-व्रत, पत्नी का सन्मान तथा मर्यादा को स्वीकार करते हुए सुन्दर रचना की बात कही। राम के भीतर ये ऐसे गुण हैं। जिनकी स्थापना से समाज सुन्दर बनता है। जब हम तुलसी साहित्य को इस विवेक से देखेंगे तो उसके भीतर छिपे बहुत सारे मोती को पा सकते हैं, जिनसे हम आज के समाज को न केवल बेहतर बना सकते हैं बल्कि मानवीय भी बना सकते हैं। उनकी यह बात कि जिस राजा के राज्य में प्रजा दुखी दोती है वह राजा नरक का अधिकारी होता है-जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी, सो नृप अवसि नरक अधिकारी, यह रामराज्य के लिए नहीं है क्योंकि राम के राज्य में केवल सब सुखी हैं बल्कि निरोग भी हैं। इसका बहुत ही गहरा सम्बन्ध तत्कालीन राजशाही से है और आज के प्रजातंत्र को भी इसकी जरुरत है। जब तुलसी को सभी मुखिया पेट की तरह दिशे हींगे तभी तो कथा के बीच में भारत को उपदेश देते हुए राम के मुख से कहलवाना पड़ा-

मुखिया मुख सो चाहिए खान-पान सो एक।
पालई पोषइ सकल अंग तुलसी सहित बिबेक॥

तुलसी एक ऐसी व्यवस्था तैयार कर रहे थे, जिसमे प्रजा के ऊपर कोई भार न पड़े। इसी क्रम में वे राजा को भानु तरह होने की बात कहते हैं-

बरषत हरषत लोग सव, करषत लखै न कोय।
तुलसी प्रजा सुभग ते, भुप भानु सो होय॥

यही नहीं, आज के जननिरपेक्ष एव संवेदनहीन नेताओं के लिए तुलसी के राम की यह संवेदना एक दृष्यान्त की तरह है-

मनि मानिक मंहगे किये, संहजे
त्रिन, जल, नाज।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

तुलसी ऐसे मानिये राम गरीब
नेवाज॥

आज हम अंतिम आदमी बात करते हैं और तुलसी अंतिम जीव की बात करते है, जो अपनी भुख-प्यास को बोल भी नहीं सकता है। सर्वप्रथम तुलसी त्रिन की बात करते है, जिसका सम्बन्ध जानवरों से है फिर जल जिसका सम्बन्ध समस्त जीवधारियों से है और अंत में अनाज जिसका सम्बन्ध प्रायः मनुष्यों से है। तुलसी के साहित्य में पूरी भारतीय संस्कृति उसके खेत-खलिहान, बाग बागीचे, प्रकृति आदि उभकरकर सामने आये हैं, जो हमारी चेतना को मानवीय दीक्षा देतें है और हमें जीव मात्र को भी है।

तुलसी अपने समय के धार्मिक-सामाजिक बिखराव एवं कुकुरमुत्ते की परप रहे पंथों तथा सम्प्रदायों से अत्यंत व्यथित थे, क्योंकि इनसे समाज में विघटन और अन्धविश्बार की प्रबृत्ति फैल रही थी-

कलिमल ग्रसे धर्म सब लुस भये सदग्रंथ।
दम्भिंह नज मति कल्पी करि प्रकट किये बदु पंथ॥

तुलसी तत्कालीन समस्त दार्शनिक मतवादों एवं भ्रमजालों को त्यागने की बात करते हैं-

कोउ कह सत्य कोउ कह झूठ जुगल प्रबल कोउ मानै।
तुलसिदास परिदास तिनी भ्रम सो आपना पहिचाने॥

कलिकाल वर्णन में तुलसी ने अपने समय की स्थितियों का बड़ा ही मार्मिक एवं विशद वर्णन किया है। अकाल का, दरिद्रताका, भुखमरी का, गुरु-शिष्य के बीच के संबंधों का, कुसंग का, रोग का, दुष्टों का, वर्ण-धर्म का आदि। अकाल का वर्णन वे इतना अधिक करते हैं कि डॉ रामविलास शर्मा को भी कहना पड़ता है- अकाल पर जितना कुछ गोस्वामी जी ने लिखा है, आधुनिक कवियों ने कुल मिलकर भी नहीं लिखा। (भक्ति आन्दोलन और भक्ति काव्य-शिव कुमार मिश्र-पृष्ठ-)। तुलसी ने गरीबी को स्वंय देखा था। इसलिए उसका गंभीर एहसास था उन्हें। यथा-

कलि बारहिं बार दुकाल परे। बिनु अन्न दुखी सब लोग मरे॥
कलि काल बिहाल किये मनुजा। नहीं मानत कोउ अनुजा तनूजा॥

किसान के पास खेती के लिए खेत नहीं है, भिखारी को भीख नहीं मिलती, बनिए का व्यापार बंद है, चाकर को चाकरी नहीं मिलती लोग जीविका विहीन हैं, इधर उधर भटक रहे हैं एक दूसरे से कह रहे हैं कहाँ जाये क्या करे। ऐसे में तुलसी राम से प्रार्थना कर रहे हैं कि हे प्रभु इस दरिद्रता रुपी रावण का नाश करिए-

खेती न किसान को, भिखारी को न भीख, बलि,
बनिक को बनिज, न चाकर को चाकरी।
जीविका विहीन लोग सीद्यमान सोच बस,
कहैं एकएकन सौ कहा जय का करी॥
दारिद-दसानन दबाई दीनबंध
दुरित-दहन देखि तुलसी हहा करी।
वे यह भी कहते हैं-
नहि दरिद्र सम दुःख जग माही।

तुलसी ने देखा की पेट की आग से जलते हुए लोग बेटा-बेटी तक बेच देतें हैं। पेट के लिए ही सब जातियां विद्या सीखती हैं।

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

उनकी निगाह में पेट की आग बडवाग्नि से भी अधिक भयावह है, जिसे राम रुपी घनश्याम ही बुझा सकते हैं-

पेट को पढ़त, गुण गढ़त, चढात गिरि
ऊँचें नीचें करम धरम अधरम करि
पेट ही को पचत, बेचत बेटा बेटकी।
तुलसी बुझाई एक राम घनश्याम ही तें
आगि बडवागि ते बड़ी है आगि पेटन की।

तुलसी का कलिकाल वर्णन वर्ण-व्यवस्था के प्रति तीव्र आक्रोश के रूप में भी दिखाई पड़ता है। जिस प्रकार तुलसी गरीबी, महामारी और अकाल को देखकर पीड़ित है वैसे वर्णव्यवस्था को भी देखकर अत्यंत व्यथित हैं। वे- सीधे कहते हैं-

धूत कहौ अवधूत कहौ रजपूत कहौ जोलहा कहौ कोउ।
काहू की बेटी मों बेटा न ब्यहब, काहू की जाति बिगार न सोऊ॥
मेरे जाति पाति न चहौं काहू की जाति पाति
मेरे कोऊ काम न हौं काहू के काम के।

लंका के राक्षसों का वर्णन करते हुए तुलसी कहतें हैं कि वहाँ दुष्ट, चोर, जुआरी, लम्पट, दूसरे की स्त्री छीन लेने वाले, माता-पिता को देवता न मानने वाले, सज्जनों से अपनी सेवा करने वाले बहुत बढ़ गए। उसी बीच यह भी कहते हैं-
जिन्ह के यह आचरन भवानी। ते तानेहु निसिचर सब प्रानी।

तुलसी की निगाह में मानव की सबसे बड़ी शक्ति उसका विवेक है। विवेक ही उसे संग्रह और त्याग के बीच भेद करने की ताकत देता है। संग्रह त्याग न बिनु पहिचाने यह बात तुलसी विवेक के धरातल से ही कहते हैं और अपनी रामकथा को भी समय और समाज के विवेक पर छोड़ देतें हैं। उनकी दृष्टि में मनुष्य के विवेक से बढ़कर न तो कोई कसौटी है न कोई मूल्य और न ही कोई प्रतिमान। मनुष्य के विवेक में तुलसी की बड़ी ही दृढ़ आस्था थी, जिसे अपनी रामकथा में वे बार-बार रेखांकित भी करते हैं। आधुनिक युग में अज्ञेय भी कहते हैं- सब प्रतिमानों का, सब मूल्यों का स्रोत, मानव का विवेक है। (दस्तावेज-पृष्ठ- संपादक- विश्वनाथ प्रसाद तिवारी-अप्रैल- जुलाई)। अज्ञेय यह भी मानते थे की मानव ही मानव की तीसरी आँख है जाग्रत आत्मा से देखना होगा। प्रचार के वशीभूत होकर नहीं बल्कि खुद अपनी आँखों से देखना चाहिए। तभी जाकर हम उनकी मधुर सिक्त अनुभूतियों को तथा लोक जीवन की नाना छवियों को देख सकते हैं और समझ सकते हैं। उन्होने राम के माध्यम से सामाजिक अन्याय का सक्रिय प्रतिकार किया। अकबर के शासनकाल में रामराज्य का आदर्श ऐसा ही उदहारण है। तुलसी जीवन की बहुरंगी छवियों के तथा उसकी समग्रता के कवि हैं।

मीराबाई तो भक्ति आन्दोलन की अनुपम देन हैं। उनके यहाँ प्रेम की सहज और सीधी अभिव्यक्ति है। प्रत्यक्ष प्रेम निवेदन है उनका काव्य कृष्ण के प्रति। अपनी प्रेमाभिव्यक्ति में मीरा आधुनिक समय की किसी भी नारी से अधिक आधुनिक और क्रांतिकारी हैं। स्त्री स्वाधीनता का समग्र दर्शन है उनका काव्य। उनकी कविता स्त्रियों के भीतर के उस तड़प और घुटन का प्रतिनिधित्व करती है, जिस पर कुल, जाति, लोक, वेद, धर्म का शताब्दियों से पहरा लगा हुआ था। लोक की उन मर्यादाओं, रीति-रिवाजों औंर मान्यताओं को मीरा अपने प्रेम भक्ति से तोड़ देती हैं। इसीलिए मीरा जब अपने घर से बाहर निकलती हैं तो एक साथ बहुत सारे बंधन एक के बाद एक टूट जाते हैं-पहला अन्तः पुर का, दूसरा कुल का, तीसरा सत्ता का, चौथा समाज का, पांचवां देश का, छठवां काल का और सातवाँ विवाह का। इस प्रकार मीरा स्त्री-जाति के अब-तक के अनकहे और अनभिव्यक्ति की अभिव्यक्ति हैं प्रत्यक्षतः तथा परोक्षतः। इसलिए मीरा की चुनौती भाव जगत की नहीं वरन भौतिक जगत की

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

है। जिस पुरुष प्रधान सामंती समाज (मेड़ता के राठौड़ राजपूत कूल की बेटी मेवाड़ के महाराणा परिवार की बहू और ऊपर से विधवा) के बीच मीरा हैं और जो उस समाज की बदिशें हैं उसमे विद्रोह की कल्पना भी कितनी कठिन है। ऐसे समाज के विरुद्ध मीरा खुला विद्रोह करतीं हैं, जिसका प्रमाण उनका जीवन और उनका काव्य है। ऐसे खूंखार स्वभाव वाले समाज को चुनौती देते हुए मीरा अपने प्राणों की भी परवाह नहीं करतीं है-

तन की आस कबहूँ नहिं कीन्हों, ज्यों रण मांहीं सूरों।

मीरा की जो संकल्प शक्ति है वह असाधारण है। इस असाधारण संकल्प शक्ति के पीछे प्रेम में उनकी अटूट निष्ठा की ताकत छिपी हुई है। इसी प्रेम की ताकत के बल पर वे अपने लोक-लाज, कुल कानि सबको चुनौती देती है-

लोक लाज कुल कानि जगत की, दइ बई जस पानी।
अपने घर का पर्दा कर, मै अबला बौरानी॥

यह वही समाज है जो लोक-लाज और कुल के नाम पर की स्वतंत्रता को कुचलना चाहता है और असफल होने पर उन्हें बावरी, कुलनाशी आदि कहता था। दूसरी पंक्ति में अर्थ की ऐसा अभिव्यंजना हुई है, जो उनकी चुनैती को और भी धारदार बना देती है। यहाँ मीरा का स्वर एक सजग नारी का स्वर है, जिसमे प्रबल आक्रेश है। वह इस बात का प्रमाण है कि अपनी संकल्प और आस्था के बल पर अपनी स्वाधीनता के लिए संघर्षशील अबला नारी भी पुरुष समाज के लिए चुनैती बन सकती है।

प्रेम और भय साथ-साथ नहीं चलते। इसलिए प्रेम और सत्ता के बीच बराबर विरोध भी होता है। सत्ता और प्रेम के बीच संघर्ष की कहानी उतनी ही पुरानी है जितनी प्रेम की कहानी। यह संघर्ष प्रत्यक्ष भी हो सकता है और अप्रत्यक्ष भी। प्रेम मीरा के सामाजिक संघर्ष का साधनभी है साध्य भी। इसी प्रेम के सहारे एक ओर मीरा गोविन्द के सम्मुख आत्मसमर्पण करती हैं-

आधी रात प्रभु दर्शन दीयो प्रेम नदी के तीरा।
माई रे मै तो गोविन्द लियो मोल।
म्हारे चाकर रखो जी म्हारे राखो जी।
कोई कहे भारी कोई कहे हलको, लियोजी तराजू तोल
मीरा गिरिधर हाथ बिकानी, लोग कहे बिगरी।

तो दूसरी ओर सामंतीय शक्तियों के भय, आतंक और प्रलोभन का पूरी दृढ़ता के साथ प्रतिकार भी करती हैं और अपने प्रेम की श्रेष्ठता भी सिद्ध करतीं हैं-

सीसोद्यो रूठचो म्हारो काई कर लेसी
म्हें तो गुण गोविन्द का गास्या
राणाजी रूठचा वारो देश रखासी।
हरी रूठचा कुम्हलास्या हो माई॥
लोक लाज की काण न मानूं।
निरभै निशाणा घुरास्याँ हो माई।
तैतीस करोड़ देवी देवता रूसी, रूस ज्यावौं जग सारो रे।
मीरा मिन्दर आवे जावे ना कोई रोकड़ वालो रे।

मीरा की यह प्रेम दीवानगी केवल स्त्री-स्वातंत्रय का नहीं वरन मानव-मात्र की मुक्ति का भी शंखनाद है। आधुनिक

Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

स्त्री-विमर्श और दलित -विमर्श के लिए मीरा आइना हैं। जहाँ समकालीन स्त्री विमर्श और दलित विमर्श एक दूसरे से अलग-थलग होकर परस्पर संवाद कायम नही कर सके वही मीरा के भीतर सम्पूर्ण स्त्री-समाज और दलित दोनों साथ-साथ मिलकर लड़ाई लड़ रहे हैं। मीरा जाति-पाति के समस्त भेद-भाव को त्यागकर रैदास को अपना गुरु मानती हैं और अपनी जाति भी वही घोषित करतीं है, जो रैदास की है अर्थात चमार। वे स्वयं घोषित करती हैं-

मीरा म्ह तो जात रो चमार
तू तो बड़ा घरां की डावरी... एजी
गुरूजी जाति-पांति रो कारण कोय नीं
बाई ने गुरु मिल्या ओ रविदास

समस्त जाँति-पाति के बंधन को तोड़ते हुए, रविदास को अपना गुरु बनाते हुए घर-द्वार कुल की मर्यादा को छिन्न-भिन्न करते हुए मीरा पांच सौ बरस की बुढ़िया नहीं वरन आजकल की जवान छोरी लगती हैं। (द्रष्टव्य- तुलसी से त्रिलोचन-प्रभाकर श्रोत्रिय-पृष्ठ)।

सारांशत: कहा जा सकता है कि समस्त भक्ति-काव्य प्रशस्त मानवीय सरोकारों का, गहरी मानवीय करुणा और चिंता का काव्य है। धर्म और अध्यात्म के धरातल से कही गयी इन संतों की बाते उस मानवीय चिंता की ऊपज है, जो समूची मनुष्यता के मजबूत धागे में बांधना चाहती थी। जब संसार में सर्वत्र हिंसा, घृणा और रक्तपात का वातावरण बना हो तब मानव प्रेम की बुनियाद पर संतों और भक्तों की वाणी का क्या महत्व हो सकता है इसे कहने की जरुरत नहीं। राम मनोहर लोहिया आधुनिक भारत को सुन्दर बनाने और उसके नव-निर्माण के लिए भारत माता से तीन वर मांगते हैं- भारत माँ मुझे राम की मर्यादा से रचो, कृष्ण की हृदयता और शिव की विशालता दो। (आलोचना-अक्टूबर-दिसम्बर -पृष्ठ)। आज के समाज को भी राम की मर्यादा, कृष्ण की सहृदयता और शंकर की नितांत जरुरत है। इस रूप में भक्ति-काव्य के कवि क्रांतद्रष्टा थे।

सन्दर्भ-ग्रन्थ सूची-

1. डॉ. राधाकृष्णन, प्रेरण पुरुष, राजपाल प्रकाशन, पृ.7
2. प्रभाकर श्रोत्रिय, कवि परंपरा-तुलसी से त्रिलोचन, भारतीय ज्ञानपीठ, पृ.11-12
3. आचार्य रामचंद्र शुक्ल, हिंदी साहित्य का इतिहास, नगरी प्रचारिणी सभा, काशी, पृ.35
4. प्रभाकर श्रोत्रिय, कवि परंपरा तुलसी से त्रिलोचन, पृ. 12
5. मैनेजर पाण्डेय, भक्ति आन्दोलन और सूरदास का काव्य, वाणी प्रकाशन, पृ.6
6. आचार्य रामचंद्र शुक्ल, हिंदी साहित्य का इतिहास, नगरी प्रचारिणी सभा, काशी, पृ. 35
7. हजारी प्रसाद द्विवेदी, कबीर, राजकमल प्रकाशन, पृ. 139
8. शिव कुमार मिश्र, भक्ति आन्दोलन और भक्ति काव्य, अभिव्यक्ति प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ. 51
9. नन्द किशोर नवल, कविता : पहचान का संकट, भारतीय ज्ञानपीठ, पृ. 14
10. डॉ. राधाकृष्णन, पृ. 26
11. पुरुषोत्तम अग्रवाल, विचार का अनंत, राजकमल प्रकाशन, पृ. 148
12. मैनेजर पाण्डेय, भक्ति आन्दोलन और सूरदास का काव्य, पृ. 39
13. आचार्य रामचंद्र शुक्ल, जायसी ग्रन्थावली, जय भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ. 1
14. विजय देव नारायण शाही, जायसी, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, पृ. 62

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

15. आचार्य रामचंद्र शुक्ल, त्रिवेणी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ. 58
16. मैनेजर पाण्डेय, भक्ति आन्दोलन और सूरदास का काव्य, दूसरे संस्करण की भूमिका
17. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिंन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 75
18. शिव कुमार मिश्र, भक्ति आन्दोलन और भक्ति काव्य, पृ. 120
19. (संपादक) विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, दस्तावेज, अंक-अप्रैल-जुलाई-1987, पृ. 15
20. उपर्युक्त।
21 आलोचना- अंक-अक्टूबर-दिसम्बर-2003, पृ. 40

असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी विभाग
राजकीय महाविद्यालय ढाढा बुजुर्ग', हाटा,
कुशीनगर, उत्तर प्रदेश
मो. : 9532808127

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

'सारा आकाश' और स्त्री-विमर्श

डॉ रितेश कुमार मिश्र

सारा आकाश राजेन्द्र यादव जी का प्रसिद्ध उपन्यास है। पहले यह 'प्रेत बोलते है' के नाम से सन 1959 में प्रकाशित हुआ था फिर 1960 में इसका नाम बदलकर 'सारा आकाश' रख दिया गया। राजेन्द्र यादव जी का यह उपन्यास बहुत लोकप्रिय हुआ तथा इसे बहुत बार पढ़ा गया। उपन्यास पर एक फिल्म भी बन चुकी है जिसके निर्देशक बासू चटर्जी जी रहे हैं। इस उपन्यास का केन्द्रीय विषय स्त्री है। इसमें राजेन्द्र यादव जी अनेक तरह से स्त्रियों की समस्याओं को उठाये हैं तथा पारम्परिक एंव रूढ़ परम्पराओं पर प्रश्नचिन्ह लगाएँ हैं और प्रहार किये हैं। उक्त उपन्यास में उनका विमर्श परिलक्षित होता है।

स्त्री विमर्श अर्थात स्त्री की सामाजिक, आर्थिक मुक्ति हेतु की गई बहस स्त्री विमर्श है। समस्त मानव समाज के दो अंग हैं- पुरुष व स्त्री। पारिवारिक जीवन में स्त्री की अपेक्षा पुरुष को अधिक महत्व दिया जाता है। सदियों से स्त्री शोषित और प्रताड़ित रही है। वैदिक काल में उसकी स्थिति कुछ ठीक थी किन्तु उसके बाद उत्तरोत्तर उनके अधिकारों और स्वतंत्रता को पितृसत्तात्मक समाज छीनता, कुचलता रहा। पितृसत्तत्मक समाज के प्रति धीरे-धीरे स्त्री लेखकों एंव लेखिकाओं के अन्दर विद्रोह की आवाज सुनाई देने लगी। धीरे-धीरे यह आवाज आधुनिक काल में और तेज होने लगी जिसके परिणामस्वरूप साहित्य में एक विमर्श ही चल पड़ा जिसका नाम स्त्री-विमर्श पड़ा। विमर्श से अभिप्राय एक ऐसी चर्चा, चेतना या विमर्श से है जो न केवल स्त्रियों की दयनीय दशा का वर्णन करता है अपितु उसके विद्रोह तथा इस दशा से निजात पाने का समाधान भी प्रस्तुत करता है।

दरअसल आधुनिक युग के सम्पूर्ण स्त्री विमर्श या स्त्री आन्दोलन की शुरुआत पाश्चात्य जगत के नारी मुक्ति आन्दोलन से है और इस आन्दोलन के कारण कुछ समय से "Women liberation" और "Feminist movement" ये दो शब्द विश्वव्यापी हो उठे हैं Incyclopedia Britanica में नारी मुक्ति आन्दोलन की जो संज्ञा दी गई है, वहाँ कहा गया है- ''यह एक ऐसा एक आन्दोलन है जो नारी को पुरुष के समान सम्मान और अधिकार प्रदान करेगा और अपनी जीविका पद्धति के संबंध में स्वाधीन रूप से निर्णय का अधिकार देगा''।

नारी जागरण संबंध आधुनिक काल में पश्चिम जगत में हुए आन्दोलनों से है। पश्चिमी जगत में भी नारी की स्थिति कोई विशेष अच्छी नहीं थी। काण्ट, हीगल एंव नीत्शे नारी की बौद्धिक शाक्ति पर संदेह रखते थे एवं उसे द्वितीय श्रेणी का नागरिक मानते थे। देकार्त ने कहा कि '' मैं सोचता हूँ इसलिए मैं हूँ, तो सोचने से उनका आशय वह पुरुष वर्ग की सोच से था। दैकार्त के अनुसार ''पुरूष की तुलना में स्त्री का व्यक्तित्व कमजोर होता है।''[1]

हिन्दी जगत में भी नारी जागरण या नारी उत्थान आधुनिक काल की देन है। स्त्री की दशा सुधारने के लिए प्रारंभिक शुरुआत अंग्रेजों के भारत आगमन के साथ हुई। जिस समय अंग्रेज भारत आए यहाँ सती प्रथा, बाल विवाह एवं बालिका हत्या जैसे कुप्रथाएँ प्रचलित थी। भारत में नारी शिक्षा का श्रेय विदेशी इसाई मिशनरियों, ब्रिटिश सरकार एंव प्रगतिशील भारतीयों को दिया जा सकता है। प्रगतिशील भारतीयों में राजाराम मोहन राय, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, स्वामी दयानन्द सरस्वती,

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

स्वामी विवेकानन्द जी का नाम लिया जा सकता है। इन लोगों के प्रयास से समाज में एक नया परिवर्तन हुआ। जिसका प्रभाव साहित्य जगत पर भी पड़ा। महादेवी वर्मा, सुभद्रा कुमारी चौहान, निराला, प्रेमचन्द्र, जयशंकर प्रसाद जी ऐसे लेखक और लेखिकाएँ हुई जो स्त्री को सशक्त रूप देने का प्रयास किये। महादेवी वर्मा ने 'शृंखला की कड़ियाँ' (1942) में भारतीय नारी की विषम परिस्थिति की धुंधली रेखाओं को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। इसमें एक सीमा तक उनके उग्र विचार व्यक्त हुए हैं। स्त्री को केन्द्र में रखकर महादेवी वर्मा ने समस्याओं पर दृष्टिपात किया है। उनके निबन्धों में उनका भारतीय नारी के प्रति सहानुभूति से भरा मन उन सामाजिक तत्वों के प्रति क्षुब्ध है जो नारी के लिए शृंखला की कड़ियाँ बन गई है। महादेवी वर्मा शृंखला की कड़ियों को काट फेंकने के लिए नारी को उद्बुद्ध करना चाहती है। महादेवी वर्मा जी को समाज के वे कायदे कानून विल्कुल पसंद नहीं, जो नारी को समाज मै दोयम दर्जे की हैसियत प्रदान करते हैं। महादेवी वर्मा को भारत में स्त्री विमर्श का पुरोधा माना जा सकता है।

आज के समय में यह विमर्श और सशक्त हो गया है। आज हिन्दी साहित्य में ऐसे अनेक लेखक और लेखिकाओं की लम्बी कतार है जो बनी बनाई विचार प्रणालियों में हामी नहीं भरते अपितु अपने विचार तर्क के साथ करते हैं। प्रभा खेतान, मन्नूभण्डारी, कृष्णा सोबती, राजेन्द्र यादव जी ये चन्द उदाहरण है। राजेन्द्र यादव जी का 28 अक्टूबर 2013 को स्वर्गवास हो गया जो हिन्दी साहित्य के लिए अपूर्णीय क्षति के समान है। सारा आकाश इन्हीं का उपन्यास है। इस उपन्यास में ये स्त्री की समस्या को दिखाये हैं। इस उपन्यास में स्त्रियों के प्रति पुरुष के पारम्परिक सोच को प्रकट करते हैं। समर मन ही मन सोच रहा है- ''मन ही मन में दुहराता रहा....................नारी अंधकार है, नारी मोह है, नारी माया है। नारी देवत्व की ओर उठते मनुष्य को बाँधकर राक्षसत्व के गहरे अंधे में डाल देती है। नारी पुरूष की सबसे बड़ी कमजोरी है।''[2] इसलिए वह अपने अहं के चलते प्रभा से बात नहीं करता।

इस उपन्यास में समर और प्रभा मुख्य पात्र हैं। मुन्नी, शिरीष, दिवाकर आदि अन्य पात्र हैं। यह उपन्यास दो भागों में विभक्त है। पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध जिसको लेखक ने साँझ और सबह की संज्ञा दी है। पूर्वार्द्ध में स्त्री के प्रति पुरुष के नकारात्मक (पूर्वग्रह) सोच को प्रकट किया गया है। और उत्तरार्द्ध अर्थात सुबह में स्त्री के प्रति पुरुष की बदलती सोच को उजागर किया गया है। पूर्वार्द्ध में तो समर प्रभा के प्रति नकारात्मक विचार ही रखता है किन्तु उत्तरार्द्ध में वह सकारात्मक हो जाता है। उसकी सोच सकारात्मक होने लगती है। उपन्यास की मुख्य स्त्री पात्र प्रभा एक पढ़ी-लिखी स्त्री है जिसे रूढ़ परम्पराएँ बिल्कुल पसंद नहीं। लेखक ने प्रभा नामक स्त्री पात्र के माध्यम से एक प्रगतिशील स्त्री का चित्रण किये हैं। पढ़ा लिखा होने के बावजूद भी उसे परेशानी होती है। बार-बार उसे पढ़ा-लिखा होने का ही ताना परिवार में दिया जाता है। इस उपन्यास में राजेन्द्र यादव जी नारी की अनेक समस्याओं को उठायें हैं जो नारी के मानसिक, सामाजिक विकास पर गहरा प्रभाव डालती है। सारा 'आकाश' की प्रभा एवं मुन्नी शोषित- उत्पीड़ित है। प्रभा ने दसवीं तक शिक्षा प्राप्त की है। तब वह पढ़ती थी तो उसके मन में बड़े-बड़े सपने थे लेकिन जब शादी के बाद ससुराल में आई तो सारे सपने चूर-चूर नजर आने लगे। प्रभा का शिक्षित होना उसके लिए समस्या बन जाती है। उसकी पढ़ाई को लेकर ताने दिये जाते हैं। यही नहीं एक अवसर तो ऐसा आता है कि प्रभा द्वारा भूलवश मिट्टी के गणेश से बर्तन साफ कर दिये जाते है, तो सारे परिवार में उसके प्रति क्रोध उवल पड़ता है। समर प्रभा को जोर से थप्पड़ मारता है तथा उसे गालियाँ देता है। प्रभा सब कुछ विवशता से खून घूँट कर सहन कर लेती है। आखिर करें भी क्या क्योंकि यहाँ उसका कोई नहीं है। जिसके साथ शादी हुई है, वह खुद उससे नहीं बोलता। वह (समर) कहता है................''मुझे उसे इतना महत्व देने की जरूरत ही क्या है? घर में बहुत से कुत्ते-बिल्ली है, समझ लूँ कि एक वह भी है।''[3]

नारी जो ससुराल के प्रति प्रेम प्रसन्न व उल्लसित रहती है, पति द्वारा दुदकारने पर भी उसका ध्यान रखती है। यह नारी

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

स्वभाव की अच्छाई ही है कि पति द्वारा निरन्तर उपेक्षित किये जाने पर भी संयम व धैर्य से पारिवारिक कार्यो में लगी रहती है और पति इसका अनुचित लाभ उठाकर उस पर अत्याचार करता है।

इस उपन्यास में राजेन्द्र यादव जी प्रभा के माध्यम से पर्दा प्रथा जैसे सामाजिक दुष्प्रथा को समाप्त करना चाहते हैं। इसीलिए उनकी स्त्री पात्र प्रभा पर्दा नहीं करती। शिक्षित युवती पर्दा का विरोध करती है, लेकिन मध्यवर्गीय परिवारों में पर्दा न करने पर बहू को उल्टा-सीधा कहा जाता है। प्रभा पर कटाक्ष करती हुई उसकी अनपढ़ जिठानी कहती है, ''कोई आए, कोई जाए, न घूंघट न पल्ला। बस किताब ले आयी है अपने घर से, सो उसे ही पढ़ती रहती है। और तो कुछ लायी नहीं है सो तो है ही, पढ़ाई का दिखावा बहुत है।''[4]

झूठी पारिवारिक मर्यादा का सहारा लेकर पर्दा न करने पर नवविवाहिता को अनेक कष्ट सहन करने पड़ते हैं। इस समस्या का सामाधान तभी सम्भव है जब लड़कियों की शिक्षा की ओर अधिक ध्यान दिया जाएगा एवं उन्हें अधिक से अधिक पढ़ने को प्रोत्साहित किया जाये। तब दिन दूर नहीं, वह समस्या समाप्त हो जाएगी।

प्रभा एवं मुन्नी सर्दियों में छत पर चली जाती है तो मुन्नी के पिता आगबबूला हो उठते हैं वे अपनी बहू को इतनी भी छूट देने को तैयार नहीं कि वह बाहर छत पर धूप में बैठ सके। घर वाले प्रभा, मुन्नी का छत पर बैठना अपनी मध्यवर्गीय सामाजिक मर्यादा के विरूद्ध समझते हैं ....अरे इससे परदा नहीं करती तो मत करो। छाती पर पत्थर रखकर उसे भी सह लेंगे, लेकिन वेशर्मी की ऐसी हद तो मत करो। ऊपर जाकर सिर धोते समय तुम्हें दिखा नहीं कि चारो तरफ लोग क्या कहेंगे।[5]

इस उपन्यास में दहेज दुर्व्यवस्था का भी चिंत्रण है। हमारे समाज में अगर लड़के वाले को दहेज नहीं मिलती तो उसका खामियाजा लड़की को भुगतना पड़ता है। ससुराल वाले बार-बार उसे प्रताड़ित करते रहते हैं। व्यंग्य करते रहते हैं यह कि लड़की आत्महत्या भी कर लेती है। सारे उपन्यास में भी दहेज लोलुपता को दिखाया गया है। कैसे समर की माँ अपने भाई चन्दन से कहती है- ''कहे क्या चंदन शादी के तो सारे हौसले मर ही गए..... पढ़ी लिखी लड़की के सिवा तूने कुछ और भी देखा बस?''[6]

लेकिन यह भी एक अजीब विडम्बना है कि स्त्री को प्रताड़ित करने में कहीं न कहीं कुछ स्त्रियों का भी हाथ रहता है। राजेन्द्र यादव जी ऐसी स्त्रियों को अपने सम्पादकीय में सचेत करते हैं। वे कहते हैं ऐसे औरतें किसका नुकसान करती है वे खुद अपना ही नुकसान करती हैं। ये भी उन्होंने कहा है कि इसके लिए भी पुरुष ही जिम्मेदार है वही इस प्रकार की औरतों के दिमाग में ये सब सोच भर देता है। यहाँ इस उपन्यास में प्रभा की उसकी जेठानी और सास बार-बार परेशान करती रहती है। प्रभा की जेठानी जो प्रभा द्वारा बनाये गये भोजन में चोरी से एक मुट्ठी नमक डाल देती है ताकि उसकी खिचाई परिवार में हो। वह बार-बार समर का कान भरती रहती है। वह समर से प्रभा को दबाकर रखने की बात कहती है- ''ठीक है, लालाजी सब ढंग पर आ जाएगी। औरत को जब तक दबाकर नहीं रखा जाता हाथ नहीं आती। और जहाँ पहले से ही गुमान बढ़े हों वहाँ तो फिर कहना ही क्या है। औरत तो लकड़ी का बंदर है, हमारे दादा कहा कहते थे। इतना भी मुँह न लागाए कि आदमी को आगा-पीछा कुछ दिखाई न दें। चाहे जितनी पढ़ लो, चाहे जितनी सुरग की परी बन लो काम तो नहीं करना पड़ेगा। आदमी को तो काम प्यारा होता है, चाम नहीं। अब इसमें क्या फायदा कि किताबें तो तुमने लाखों पढ़ ली, आने के नाम खाक-धुल कुछ नहीं। हमें तो लालाजी, तुम बराबर निन्द से उठा दो, बिना देखे, सारा मिर्च-मसाला डाल देंगे। नाक कटा दें जो भी कम-ज्यादा हो जाए।''[7] फिर आगे कहती है- ''हमारे बड़े भैया की बहू भी ऐसी ही आई थी। किसी को अपने सामने बदती ही नहीं थी। सो भैया को यह सब कहाँ बर्दाश्त दो दिन से सारा नजला झाड़ दिया। वो तो किसी किसी की आदत ही होवे हैं लालाजी, बिना पिटे-कुटे ठीक रास्ते पर नहीं चल सके। अब भाभी बिल्कुल ठीक है। भैया की भौं पर बल देखा नहीं कि पत्ते

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

की तरह यो काँप जावे।''[8] समर की भाभी प्रभा से जलती रहती है उसके कारण ये थे कि प्रभा, भाभी से अधिक पढ़ी लिखी और सुन्दर भी थी। इसलिए समर की भाभी कुछ न कुछ प्रभा के विरूद्ध हमेशा बोलती रहती है- वो समर को भड़काते हुए कहती है- ''ओफ्को, हद है घमंड की भी। आने-जाने के नाम खाक धूल नहीं और घमंड ऐसा। कसम से कहती हूँ, मैं तो इतनी बड़ी हो गई, ऐसी घमंडिन औरत अपनी जिन्दगी में नहीं देखी। बोलो, गुन करतब हो तो नखरे भी सहे जाएगें, कोरे नखरे कौन उठाएगा ? असल में उन्होंने लेना चाहा पढ़ाई और खूबसूरती के रोब में सो ऐसी राजा इंदर की परी भी नहीं लगी।'[9]

स्त्री विमर्श ऐसा विमर्श है जिसमें न केवल स्त्रियों की समस्याओं की वर्णन किया जाता है अपितु उन समस्याओं के समाधान को भी प्रस्तुत करने का प्रयास किया जाता है। इस उपन्यास का उत्तरार्द्ध भाग भी कुछ ऐसा ही है। राजेन्द्र यादव जी शिरीष नारी नामक पात्र के माध्यम से स्त्रियों के पक्ष में तर्क पूर्ण वाते करते हैं। समर और शिरीष नारी विषयक चर्चा कर रहे हैं। शिरीष तत्कालीन समाज में स्त्री समस्याओं के बारे में कहता है- ''यह आज का अखबार है, लखनऊ जिले में पाँच हजार भले घरों की स्त्रियों ने तलाक के लिए प्रार्थना पत्र दिये हैं। इन सबको एक साथ शौक चर्राया है या आपके ख्याल से ये सब वासना से उन्मत हो रही है ? दो स्त्रियाँ जल कर मर गई, चार कुँए में गिर गई, ये सभी बातें हम लोगों के लिए इतनी स्वाभाविक हो गई है कि उन्हें हम यो हीं टाल देते हैं। ये कही भी हमें नहीं छूती। मुझे भी तो बताइए न, किस सुव्यवस्था की बात आप कर रहे हैं ? मैं आपके घर की वाते नहीं जानता, लेकिन मुझे एक घर बताइए जहाँ नारी मजबूरियों में घूट नहीं रही। मैं शिक्षित और साहसी औरतों की बात नहीं कर रहा। वहाँ भी समस्याएँ हैं, किन्तु वे दूसरी तरह की है।'[10] जहाँ हमारा समाज शिक्षित होता जा रहा है वही नारी के प्रति अपराधों में कोई कमी नहीं हुई है। नारी आज भी बर्बरतापूर्ण सामाजिक व्यवहार को सहन करते हुए पुरुष के साथ चल रही है। समर के प्रश्नों को जबाव देते हुए शिरीष कहता है- ''मजबूरी में घुल-घुल मरने को भारतीय नारी की सहनशीलता का नाम दे-देकर मत पुजिए। करोड़ो व्यक्तियों के हजारों सालो के इतिहास से निकाले गए दो नाम सीता और सावित्री। में पूछता हूँ सीता का नाम लेते समय हमारा माथा शरम से झुक नहीं जाता ? निर्दोष नारी के कितने बड़े कलंक और कितनी अमानुषिक यातना को हम लोग झंडो पर गाड़कर पूजते हैं।''[11] राजेन्द्र यादव जी शिरीष के माध्यम से इस प्रकार के धर्म और नियम को उतार फेकने की बात करते हैं जो स्त्रियों को यातना देने के लिए बनाए गये हैं- शिरीष धर्म और नियम के बारे में कहता है- ''जहाँ तक उन्हें संग्रहालय या म्यूजियम में रखने का सवाल है, मैं मानता हूँ कि उनके लिए खूबसूरत काँच की अलमारियाँ होनी चाहिए, लेकिन अगर उन्हें आप आज के समाज के कानूनों के रूप में लादना चाहेंगे तो मैं कहूँगा कि उन्हें रखकर चाय बनाइए और जोर से कहकहा लगाकर खुश होइए कि आपने कंधो पर लदे और गर्दन में दाँत गड़ाते भालू को उतार फेंका।''[12] शिरीष भारतीय संस्कृति पर प्रशन चिन्ह लगाते हुए कहता है- ''लेकिन इस सच्चाई से हम इंकार नहीं कर सकते कि आदमी भूख और रोग में तड़प-तड़पकर मरता रहा और आपकी भारतीय संस्कृति मानव मात्र के कल्याण का राग अलापती रही। औरत और शुद्र के कबाब भुन-भुनकर खाते हुए हम लोग जीवन मात्र की समानता के नारे लगाते रहे। चींटी और हाथी में तो हमने एक ब्रह्म देखा लेकिन शंबूक और सीता को जीवित प्राणी नहीं समझ पाए। उनपर हमने क्या-क्या अत्याचार नहीं किए ?''[13]

यह दुःख की बात है कि हमारा भारतीय समाज और परिवार ऐसा है कि उसमें स्त्री को प्रताड़ित होना ही पड़ता है। उसका खुद का वजूद मिट जाता है उसके सारे सपने चकनाचूर हो जाते हैं उसके व्यक्तित्व का पूर्ण विकास नहीं हो पाता। इसके लिए बहुत सारे कारण जिम्मेदार हैं एक संयुक्त परिवार का होना भी है। लेखक संयुक्त परिवार को स्त्री के व्यक्तित्व के विकास में बाधक बताता है। समर को बताते हुए शिरीष कहता है- ''इस संयुक्त परिवार की परंपरा को तोड़ना ही होगा। अब आपके लिए ही कहूँ कि अगर आप खुद जिंदा रहना चाहते हैं या चाहते हैं कि आपकी पत्नी भी जिन्दा रहे तो इसके सिवा कोई

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

रास्ता नहीं हैं कि अलग रहिए।''[14] जैसा भी हो अलग भाई, सच्चाई यह है कि आपकी पत्नी की सारी आकांक्षाएँ और आपके सारे प्रयत्न इस वातावरण में बिल्कुल बेबस होकर घुट-घुटकर मर जाएँगे ? एक के बाद एक मुसीबतें निकलती आएँगी और आप लोग शायद सुख की नींद के सपनें में ही जिन्दगी बिता देंगे।''[15] शिरीष संयुक्त परिवार की विभिषिका को व्यक्त करते हुए कहता है- ''संयुक्त परिवार का शाब्दिक अर्थ चाहे जितना महान हो, उसका सबसे बड़ा नुकसान यह होता है कि परिवार का कोई भी सदस्य अपने व्यक्तित्व का विकास नहीं कर पाता। सारा समय तो समस्याएँ बनाने में, या बनी-बनाई समस्याओं को सुलझाने में जाता है। लड़ाई-झगड़ा, खींचतान, बदला, ग्लानि, सब मिलकर वातावरण ऐसा विषैला और दमघोंटू बना रहता है कि आप सांस न ले सके। कारण आर्थिक ही है यह आप जानते हैं। नतीजें में हम दो हिस्सों में बँटे रहते हैं- बाहर अपनी आर्थिक लड़ाई लड़ी और भीतर अपनी पारिवारिक उलझने सुलझाओं। सीधे-सरल दिल दिमाग का आदमी इन्हीं झंझटो में पिस जाता है।''[16] खासकर सबसे ज्यादा तो औरते ही पिस जाती हैं। लेकिन लेखक पारिवारिक जिम्मेदारियाँ से भागने की बात नहीं करता शिरीष कहता है ''भैया मेरा, सीधा-साधा हल यही है कि आप अलग रहिए और घर के लिए जो जिम्मेदारी महसूस करते हैं, वह पूरी कीजिए।''[17]

स्पष्ट है कि 'सारा आकाश' में राजेन्द्र यादव जी स्त्री की समस्याओं को उठाये हैं। इस उपन्यास में परिवार में घुट-घुट कर जीवन व्यतीत करने वाली नारी की व्यथा-कथा है। इस उपन्यास में परिवार विषयक रोजमर्रा के व्यावहारिक जीवन का सूक्ष्म चित्रण किया गया है। कैसे एक नवविवाहिता को अपने ससुराल में कष्टपूर्ण जीवन व्यतीत करने पड़ते हैं ? किन-किन समस्याओं से रूबरू नहीं होना पड़ता है ? इत्यादि बातों पर लेखक ने बड़ी सूक्ष्मता से नजर डाली है। जो हमारी बनी बनाई परम्परा और पुरुषोचित विचार पर प्रश्नचिन्ह खड़ा करती है। शिरीष जब समर के सामने तर्क पूर्ण उत्तर देता है तो समर निरुत्तर हो जाता है उसका निरुत्तर होना इस बात का परिचायक है कि कहीं न कहीं हमारी व्यवस्था और सोच में खामियाँ हैं।

1. प्रभा खेतान, स्त्री विमर्श: इतिहास में अपनी जगह, हंस, जनवरी-फरवरी 2000, पृ-36
2. उपर्युक्त, पृ. 9
3. उपर्युक्त, पृ. 54
4. उपर्युक्त, पृ. 17
5. उपर्युक्त, पृ. 22
6. उपर्युक्त, पृ. 24
7. उपर्युक्त, पृ. 24
8. उपर्युक्त, पृ. 31
9. उपर्युक्त, पृ. 167
10. उपर्युक्त, पृ. 118
11. उपर्युक्त, पृ. 118
12. उपर्युक्त, पृ. 118
13. उपर्युक्त, पृ. 166
14. उपर्युक्त, पृ. 167
15. उपर्युक्त, पृ. 167
16. उपर्युक्त, पृ. 166
17. उपर्युक्त, पृ. 167

पूर्व शोध-छात्र, हिन्दी विभाग
गोरखपुर विश्वविद्यालय, उत्तर प्रदेश

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

देखिए, जब जिंदगी की तर्जुमानी है गजल

● लक्ष्मण प्रसाद गुप्ता

"गजल कभी भी देशों या मजहबों की सरहदों में कैद नही हो पाई। इसे जबरदस्ती रुहानी या आध्यात्मिक लिबास नही पहनाया जा सका। यह हमेशा इंसानी भावनाओं, उसकी सांसारिक सोच की ऊँचाइयों-गहराइयों और दुःख-सुख का साथ देती रही। गजल ने दिल की कुदरती खलिश और दर्द को तराश कर और दिमागी सोच की बेचैनियों को अल्फाज का अमली जामा पहनाकर वह तहजीब पैदा की जो दिलो-दिमाग की सरहदों पर होने वाले हमलों का मुकाबला सदियों से करती रही है और आज भी उसकी पहरेदारी कर रही है। गजल एक साँस लेती, जीती-जागती तहजीब है। इसी तहजीब को हिन्दी और उर्दू ने अपनाया यह विधा या तो सौंदर्य की इबादत करती रही या सौंदर्य को विकृत किये जाने के खिलाफ जद्दो-जहद में जुटी रही। इसने हर समय, हर तरह, हमेशा इसान के सपनों का साथ दिया। जब-जब मनुष्य के सपनों को साहित्य ने उलझाया, गजल ने उसे सुलझाया।"[१]

कथाकार कमलेश्वर का यह बयान गजल के विकास का मुकम्मल मूल्यांकन माना जाना चाहिए। इस विधा ने अपने जन्म से लेकर अब तक के हजारों सालों में अलग-अलग मुल्कों में जो कुछ जोड़ा है, वह न सिर्फ भाषा के हवाले से मौजूँ हैं; बल्कि उसका गहरा ताल्लुक उस मुल्क के सामाजिक-सांस्कृतिक बनावट से भी है। उसके ढहते-बनते इतिहास से ही नहीं, बल्कि उसकी आबोहवा से भी है। राहे हक में फना हो जाने से ही नहीं, बल्कि जिन्दगी के दर्द को समझने से भी है। गजल ने इंसान को जिस हद तक समझने की कोशिश की है और इंसान ने जितना कुछ उसमें पाया है उसी का नतीजा है कि हजारों साल पुरानी संरचना के बावजूद यह अब भी जवान है और न सिर्फ अपनी अदा से आमजन को रिझा रही है, बल्कि उन्हें जिन्दगी के असल मायने सीखा रही है। यह तकनीक के तनाव को समझती है और विकास के बिखराब को भी समेटने की कोशिश करती है। किसी पाक दिल की पैदाइश यह विधा आज भी बिल्कुल पाकीजा है।

कमलेश्वर ने बिल्कुल सही कहा है कि यह एक ऐसी तहजीब जो सौंदर्य की इबादत करती है। उसे विकृत किये जाने के खिलाफ लड़ती है। यह सौंदर्य सिर्फ और सिर्फ रुप का नहीं है, बल्कि मनुष्य को मनुष्य बनाये रखे जाने वाले मूल्यों का भी है। यह सौंदर्य श्रम का भी है, जिसकी पहचान शायर करता है-

सो जाते हैं फुटपाथ पर अखबार बिछाकर
मजदूर कभी नींद की गोली नहीं खाते।[२]

इस विधा ने हमेशा ही एक बेहतर दुनिया का ख्वाब देखा और दिखाया है। पीड़ा में हँसना सिखाया है। जटिल होते जीवन को सहज बनाये रखने की ईमानदार कोशिश की है। इसकी परम्परा को बहुत कम शब्दों में निदा फाजली ने कुछ यूँ बयाँ किया है, "गजल का इतिहास बहुत लंबा-चौड़ा है। इसमें कई देशों की संस्कृति और तहजीबों का सौंदर्य शामिल है। इसमें कई सदियों का फैलाव है, जिसको समेटने की कोशिश करूँतो यूँ कहूँगा- गजल अरब के रेगिस्तान में इठलाई, ईरान

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

के बागों में लहराई और वहाँ से चलकर जब गंगा और हिमालय के देश आई तो उसका हुस्न कुछ ऐसा था, उसके माथे पर जोरोस्टर का नूर था, दिल में गीता थी, हाथों में कुरान था और उसका नाम धर्मनिरपेक्ष हिन्दुस्तान था।'[३]

गजल का जन्म अरब की वादियों में हुआ। वहाँ के सौंदर्य और संघर्ष को उस समय की गजलों में देखा जा सकता है। जब यह विधा ईरान में आई तो इसको बहुत विस्तार मिला। उस दौर में रौदकी, बेदिल, शेख सादी, अमीर खुसरो, हाफिज जैसे शायरों ने इसे जो लहजा और अर्थवत्ता दी, उसने इसे बहुत सशक्त बना दिया। गजलों में सूफीयाना तत्त्व ईरानी शायरों ने ही शामिल किया। उन्होंनें गुफ्तगू की इस विधा को आध्यात्मिक स्वरुप प्रदान किया। लेकिन, हिन्दुस्तान में जब अमीर खुसरो ने इसे अपनाया तो उन्होंने अपनी तरह की भाषा गढ़ी (यहाँ ध्यान रखें कि उनकी अधिकांश गजलें फारसी में हैं। उनकी गिनती फारसी के शीर्षस्थ शायरों में की जाती है। हिंदी में दो गजलें ही मिलती हैं, उसमें भी एक तो फारसी और हिंदी भाषा का अनूठा मिश्रण है।) 'जब यार देखा नयन भर/दिल की गई चिंता उतर', कोई रचानाकार कितना जीवंत हो सकता है, यह प्रमाण अमीर खुसरो की हिंदी रचनाएँ है। सात सौ सालों बाद भी ऐसा लगता है कि घर-आँगन में कोई बोल रहा है। अफसोस! इस परंपरा को जो विस्तार मिलनी जाहिए थी, नहीं मिली। खुसरो के बाद उत्तर भारत में यह पाँच सौ साल तक तो दिखाई ही नहीं पड़ती। ढूँढ़ने वालों ने बड़ी मुश्किल से दो-तीन नाम ढूँढ़ तो लिये हैं, किंतु सब बेअसर जान पड़ते हैं। कबीर की एकमात्र गजल 'हमन है इश्क मस्ताना हमन को होशियारी क्या' भाव और भाषा दोनों गहरा असर छोड़ती है, किंतु यह अपनी प्रामाणिकता को लेकर संदिग्ध है। ऐसा भी नहीं है कि अमीर खुसरो के बाद गजलें नहीं लिखी गई, लिखी गईं और खूब लिखी गईं। किंतु उत्तर भारत में नहीं, दक्षिण में लिखी गईं। दक्षिण में यह विधा निरंतर फूल-फल रही थी। इसकी भाषा वही थी, जो दिल्ली में विकसित हुई थी। लिखने-पढ़ने वाले लोग वही थे, जो दिल्ली से तुगलकी फरमान के साथ बीजापुर-गोलकुंडा में जाकर बसे थे। यदि कुछ नया था तो वह उनकी लिपि, फारसी लिपि में ही रचनाएँ होती थी। इसके पीछे बड़ा कारण यह है कि इस भाषा का जन्म ही जरूरत की तरह हुआ था और जो लोग इसे बोलते थे, उनकी लिपि फारसी ही थी, वे देवनागरी जानते ही नहीं थे। जिन्हें देवनागरी आती थी, वे भी फारसी लिपि का ही प्रयोग करते थे, क्योंकि यह शासन के द्वारा स्वीकार्य भाषा थी। किंतु, दिल्ली से दूर बीजापुर-गोलकुंडा में जो भाषा विकसित हुई वह फारसी से भिन्न थी (ध्यान रखें कि उस समय तक भाषा के रुप में 'उर्दू' जैसी शब्दावली का प्रयोग नहीं हुआ था। रचनाकार अपनी भाषा के लिए हिंदवी, हिंदी, गुजरी, देहलवी, रेख्ता, दक्खिनी का ही प्रयोग करते थे।) और उस दौर के रचनाकारों के हवाले से कहूँ तो वह हिंदी थी। शासन का भी बड़ा सहयोग मिला। दक्खिनी को राजभाषा का पद प्राप्त था। नतीजतन, हिंदी का विकास अच्छी तरह हुआ। लेकिन, यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि यह भाषा जिस देशकाल में आकार ले रही थी, वहाँ का प्रभाव भी पड़ा; इसीलिए आप नुस्रती, कुली कुतुबशाह, वली दकनी आदि को पढ़ते हुए यह पायेंगे कि इनकी भाषा में जो क्रियाएँ हैं और जो 'टोन' है; वह बिल्कुल अलग है। यही वे तत्त्व हैं जो इस भाषा को अमीर खुसरो की भाषा से अलग कर देते हैं। खुसरो की भाषा में क्रियाएँ और 'टोन' उत्तर भारतीय है। यही वजह है कि वली दकनी की भाषा दक्खिनी उत्तर में आते ही अपने पुराने लहजे को ओढ़ लेती है। जहाँ एक बार फिर से खुसरो की खड़ीबोली जी उठी। दरअसल, वह अचानक नहीं जी उठी, बल्कि दक्खिनी के निरंतर विकास ने उसे जिंदा रखा। जब वह अपने पुराने घर में लौटी तो पुनः खिलखिला उठी।

वली दकनी के बाद उर्दू शायरी हो या हिंदी कविता (हिंदी कविता को यह भाषा ग्रहण करने में सौ वर्ष लग जाते हैं, किंतु गिरिधर दास और भारतेन्दु की गजलों को ध्यान में रखकर इस विकास को समझा जा सकता है।) दोनों का तेवर बदल जाता है। १८५७ई. की क्रान्ति के बाद हिंदी क्षेत्र का नवजागरण हिंदी भाषा को माजकर रख देता है। इस दौर में दोनों भाषाओं को भारतेंदु और गालिब जैसी शख्सियतों का नेतृत्व मिलना है, जिसका परिणाम यह होता है कि पद्य एवं गद्य दोनों

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

में वैचारिक लेखन को बढ़ावा मिलता है। जहाँ एक तरफ हिंदी कविता रीतिकालीन दरबारी संस्कृति से बाहर आकर घरबारी होने लगती है, वहीं दूसरी तरफ उर्दू शायरी हुस्नों-इश्क के दायरे को तोड़कर जीवन-जगत के दर्द से बतियाने लगती है। यदि हम उर्दू और हिंदी बँटवारे को भुला दें, जो बहुत कुछ अंग्रेजी सियासत की 'फुट डालो, शासन करो' नीति का ही परिणाम थी तो दोनों भाषाएँ एक ही हैं, लिपि दोनों की अलग-अलग है। इसका वैज्ञानिक कारण भी है, हमने भाषा के विस्तृत अध्ययन से पाया है कि किसी व्यक्ति को एक से दूसरे क्षेत्र में स्थानांतरित कर दिया जाये तो वह वहाँ की भाषा तेजी से ग्रहण करता है, किंतु बीसों सालों रहने के बावजूद लिपि उसकी समझ से परे रहती है। वह उस दिशा में प्रयास भी नहीं करता, क्योंकि भाषा तो वह ग्रहण कर ही लेता है। यही बात फारसी लिपि के साथ ही है। जो फारसी जानते थे उन्होंने बनती हुई भाषा को भी इसी में रचा-बुना! देवनागरी की तरफ नहीं भागें। इसकी जरुरत महसूस नहीं की। चूँकि शासन के द्वारा फारसी ही स्वीकृत थी सो अदब से रिश्ता रखने वालों ने उसी को अपनाया।

समाज और व्यक्ति के छिटपुट दुराग्रहों को छोड़कर विचार करें तो अमीर खुसरो की हिंदी भाषा का क्रमबद्ध विकास वली दकनी तक दक्खिनी में और उसके बाद दिल्ली के आस-पास के क्षेत्रों में होता रहा। नवजागरण के लेखन ने इस भाषा को मजबूत आधार दिया। निराला ने इसके गद्य रुप कें संदर्भ में जो कहा- 'गद्य जीवन संग्राम की भाषा हैं'- उस से हिंदी के वैचारिक लेखन के महत्त्व को तो समझा ही जा सकता है, साथ ही गद्य के भविष्य की आहट भी महसूस की जा सकती है। हमारे दौर में गद्य की स्थिति निराल की दूरदर्शिता का प्रमाण है।

जिस खड़ीबोली या हिंदी पर महावीर प्रसाद द्विवेदी की मूँछें तनी हुई हैं। जिसके विकास का बहुत बड़ा श्रेय 'सरस्वती' पत्रिका को जाता है। दरअसल, उस हिंदी के क्रमबद्ध विकास में गजल विधा का महत्त्वपूर्ण योगदान है। अमीर खुसरो से लेकर वली दकनी, वली दकनी से लेकर गालिब और गालिब से शमशेर बहादुर सिंह तक की भाषा का ठीक-ठीक अध्ययन करने के 'गजल' का मुकम्मल अध्ययन जरुरी है। इससे भाषा की कई बनी बनाई अवधारणाएँ ढह जायेंगी। 'गजल' का जन्म ही समन्वय की चेष्टा के साथ हिंदुस्तान की सरजमीं पर हुआ था। इसने उत्तर और दक्षिण भारत को एक भाषा सूत्र में पिरो दिया।

यह लंबी भूमिका इसलिए देनी पड़ी है कि हिंदुस्तानी सरजमीं पर गजल को हमेशा ही आयातित काव्य-विधा के रुप में देखा गया। जिसका दुष्परिणाम यह हुआ कि इस विधा ने जो ताकत और रवानी यहाँ की मिट्टी से ली थी, वह तो नेपथ्य में चली ही गई, उसके साथ ही इसने भाषा के साथ-साथ हिंदुस्तानी समाज से जो सरोकार स्थापित किये थे, उसे भी बहुत ही सतही ढंग से लिया गया। अमीर खुसरो से लेकर स्वतंत्रता तक की गजलों (चाहे वे फारसी लिपि की हो या देवनागरी लिपि की) पर गंभीरता से बातचीत नहीं हुई। उसे बड़े फलक पर देखने-समझने की कोशिश तो कई बार हुई, किंतु साहस का अभाव कहें या राजनैतिक दबाव, उसने इसकी परिधि को फैलने नहीं दिया। भला हो अयोध्या प्रसादा गोयलीय, जानकी प्रसाद शर्मा, प्रकाश पंडित जैसी प्रतिभाओं का जिन्होंने फारसी लिपि का रुपांतरण देवनागरी में कर व्यापक जन समुदाय को इस विधा से परिचित कराया। लगभग इतना ही श्रेय जाता है कुंदनलाल सहगल, बेगम अख्तर, मेंहदी हसन, जगजीत सिंह, गुलाम अली, चंदन दास जैसे गजल गायकों को, जिनकी आवाज ने इस विधा की नाजुक मिजाजी और इसके तेवर को दुनिया के सामने रखा। आज की तारीख में हिंदुस्तान की शायद ही कोई साहित्यिक पत्रिका हो जो इस विधा को तवज्जो न दे।

स्वतंत्रता के बाद जिन शायरों ने इस विधा का लबो-लहजा बदला, इसे जीवन के संघर्ष से जोड़ा, इसे सामाजिक सरोकार का पैरहन मुहैया कराया, इसे हुस्न से ज्यादा रोटी के लिए जरुरी माना, उनमें दुष्यंत कुमार और अदम गोंडवी का

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

नाम प्रमुख है। आजाद हिंदुस्तान में जिस शायर ने बहुत कम लिखकर भी इस विधा को सबसे ज्यादा प्रभावित किया, वह दुष्यंत कुमार हैं। दुष्यंत ने अपने समकालीनों पर ही नहीं, आने वाली पीढ़ी पर भी गहरा असर छोड़ा। यह असर रचनात्मक कलात्मकता के साथ-साथ सरोकारों के स्तर पर भी था। यदि आजाद हिंदुस्तान के पहले इस विधा को सबसे ज्यादा गालिब ने प्रभावित किया तो निश्चित तौर पर इसके बाद दुष्यंत ने ही किया। दुष्यंत गालिब की पीड़ा और इस विधा के प्रसार की क्षमता का वर्तमान और भविष्य दोनों देख रहे थे। उन्होंने स्वयं कहा, 'गजल लिखने या कहने के पीछे एक जिज्ञासा अक्सर मुझे तय करती रही है और वह ये कि भारतीय कवियों में सबसे प्रखर अनुभूति के कवि मिर्जा गालिब ने अपनी पीड़ा की अभिव्यक्ति के लिए गजल माध्यम ही क्यों चुना? और अगर गजल के माध्यम से गालिब अपनी पीड़ा को इतना सार्वजनिक बना सकते हैं तो मेरी दुहरी तकलीफ (जो व्यक्तिगत भी है, सामाजिक भी) इस माध्यम के सहारे एक अपेक्षाकृत व्यापक पाठक वर्ग तक क्यों नहीं पहुँच सकती?''[४] साल की छोटी आयु पाने वाले दुष्यंत की व्यक्तिगत पीड़ा क्या रही होगी, यह समझ पाना कठिन है। कविताओं में निहित संकेतों को समझने की कोशिश की जाये तो ये मिल जायेंगी-

सोचा कि तू सोचेगी, तूने किसी शायर की
दस्तक तो सुनी थी पर दरवाजा नहीं खोला।[५]

लेकिन, सामाजिक पीड़ा तो सार्वजनिक है। दुष्यंत ने जिस दौर में ये गलते लिखीं, वह आजाद हिंदुस्तान की राजनीति का सबसे स्याह दौर है। आपातकाल का दौर २५ जून १९७५ ई. से २१ मार्च १९७७ ई. तक इंदिरा गाँधी का अलोकतांत्रिक और तानाशाही फरमानों का दौर जिसके बारे में जयप्रकाश नारायण ने कहा था, 'भारतीय इतिहास की सर्वाधिक काली अवधि।''[६] भूखा-नंगा रहकर, सपनों को जोड़-तोड़ कर मनुष्य जी लेता है। आजाद हिंदुस्तान का मनुष्य भी सालों से कुछ इसी तरह जी भी रहा था। कुछ आवाजें थीं जो सत्ता के चरित्र को उधेड़ रही थीं। कुछ हाथ थे जो प्रतिरोध में उठने लगे थे, किंतु शायद ही किसी ने कल्पना की होगी कि इस आबोहवा को आपातकाल की भेंट चढ़ाकर अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता भी छीन ली जायेगी। यूँ ही नहीं दुष्यंत ने कहा होगा-

कहाँ तो तय था चिरागाँ हरेक घर के लिए,
कहाँ चिराग मयस्सर नहीं शहर के लिए।[७]

इस शेर के संदर्भ को उदघाटित करते हुए विजय बहादुर सिंह लिखते हैं, ''जब उन्होंने गजलें शुरु की तो एक गजल सीधे तत्कालीन प्रधानमंत्री इंदिरा गाँधी को संबोधित थी- 'कहाँ तो तय था' कवि की इस भंगिमा में आत्मीयता की जितनी गहरी ऊष्मा थी, स्मृतियों का जितना सघन और पवित्र दबाव था, दर्द की उतनी ही बेइंतहाँ रेखाएँ भी। जितना तीखा आक्रोश और आक्रामकता थी, उतनी ही गहरी लोकभक्ति और लोक समर्पण भी। इन गजलों को पढ़कर कवि की मनोभूमि का साक्षात्कार किया जा सकता है।''[८] ऐसा नहीं था कि यह बैचैनी और पीड़ा सहसा जाग उठी थी, यह सबकुछ बहुत पहले से दुष्यंत में विद्यमान था। यही कारण है कि अपनी काव्य-यात्रा के आरंभ से अंत तक वे अपने आपको बदलते रहे। शुरुआत में गीत लिखें (गाजियाबाद में रहते हुए) मध्य में छदंमुक्त कविताएँ लिखीं (इलाहाबाद में रहते हुए) और अंत में गजलें लिखीं (भोपाल में रहते हुए) ऐसा लगता है कि जो कुछ वे कहना चाहते थे, पाठकों तक पहुँचाना चाहते थे; वह पहुँच नहीं पा रहा था। दुष्यंत की पीड़ा की बड़ी वजह यह भी थी। जिस दौर में कविता की सबसे ज्यादा जरुरत थी क्रांति के लिए (आपातकाल में प्रेस की स्वतंत्रता को खत्म किया जाना), कविता संप्रेषण के संकट से गुजर रही थी। वह एक-एक करके इतने वादों और प्रयोगों से गुजर रही थी कि सरोकार के सारे आयाम बंद हो गये थे। उससे क्रांति की उम्मीद नहीं की जा सकती थी। दुष्यंत ने इस पीड़ा को कुछ यूँ बयाँ किया है- ''मैं बराबर महसूस करता रहा हूँ कि कविता में

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

आधुनिकता का छद्म कविता को बराबर पाठकों से दूर करता चला गया है। कविता और पाठकों के बीच इतना फासला कभी नही था, जितना आज है, इससे ज्यादा दु:खद बात यह है कि कविता धीरे-धीरे अपनी पहचान और कवि अपनी शख्सियत खोता चला गया है। ऐसा लगता है मानो दर्जन कवि एक ही शैली और शब्दावली में एक ही कविता लिख रहे हैं और इस कविता के बारे में कहा जाता है कि यह सामाजिक और राजनीतिक क्रान्ति की भूमिका तैयार कर रही है। मेरी समझ में यह दलील खाली और यह वक्तव्य भ्रामक है जो कविता लोगों तक पहुँचती ही नहीं वह भला क्रांति की संवाहक कैसे हो सकती है''?[८] यही कारण है कि वे हमेशा उस कविता की तलाश में थे जो लोगों तक पहुँचे। तत्पश्चात उनकी चेतना का विस्तार करे। उन्हें सोचने पर विवश करे कि क्यों आजादी के इतने सालों बाद भी हम आजाद नहीं हैं? किस तरह व्यवस्था ने हमें बरगलाया है और इसके साथ क्या किया जाना चाहिए?

अब तो इस तालाब का पानी बदल दो,
ये कँवल के फूल कुम्हलाने लगे हैं।[९]

लेकिन, यह सबकुछ तभी हो सकता है जब 'क्या किया जाना चाहिए' पाठक तक पहुँचे। अन्यथा, वही होगा कि 'जंगल में नाचा मोर, किसने देखा।' दुष्यंत इस संदर्भ में कहते थे, ''मैं ऐसे हवाई पाठक की कल्पना नहीं करता जिनकी बौद्धिक आभा मेरे खाँचों से मेल खाते हों। मैं तो खुद पाठक के रुप में, उस खरी कविता की खोज में हूँ जो हर व्यक्ति की कविता हो और हर कंठ से फूटे।''[१०] वे जानते थे कि सर्जक के खाँचों में पाठक की उपस्थिति मुश्किल है, अत: रचना की संप्रेषणीयता और अर्थवत्ता इसी में है कि उसका खाँचा पाठक का बनाया हो। शायद, यही वह चिंतन है, जिसने अभिव्यक्ति के स्तर पर दुष्यंत को ज्यादा जीवंत बनाया। वे हमारे दौर में भी प्रतिरोध की सबसे मुखर आवाज हैं। क्या बच्चा, क्या बूढ़ा दुष्यंत के यहाँ अपना हल पाते हैं। अजब तो यह है कि ये सारे सुलझाव दुष्यंत के प्रश्न और बेचैनी में निहित हैं।

मेरी जुबान से निकली तो सिर्फ नज्म बनी
तुम्हारे हाथ में आई तो एक मशाल हुई।[१०]

दुष्यंत की गजलों की दुनिया वायवीय नहीं हैं, बेहद जमीनी है। सिर्फ इस एक शेर से यह मर्म स्पष्ट हो जाता है-

मैं जिसे ओढ़ता बिछाता हूँ,
वो गजल आपको सुनाता हूँ।[११]

यहाँ कुछ भी जीवन के पार नहीं, सबकुछ जीवन में ही है। जीवन और रचना में कोई फाँक नही। जो बाहर है, वही अंदर है। सच कहूँ तो एक साधारण मनुष्य की सामान्य-सी इच्छाओं की पूर्ति चाहने वाला एक सार्थक जेन्यून कवि। एक ऐसा कवि जिसने रचना और राजनीति के सार्थक सरोकार स्थापित किये। आम आदमी को उसकी ताकत का अहसास कराया। भ्रम की टाटी को हटाने की सफल कोशिश की-

वे मुतमहन है कि पत्थर पिघल नही सकता,
मैं बेकरार हूँ आवाज में असर के लिए।[१२]

कविता हिंदुस्तान में और शायद दुनिया के और मुल्कों में भी मनोरंजन का ही साधन रही है। लेकिन, दुनिया के और मुल्कों में चेतना के प्रसार का जो कार्य नाटक या कथा ने किया हिंदुस्तान में वही कार्य कविता के माध्यम से हुआ। यही वजह है कि हिंदी साहित्येतिहास का मूल्यांकन सदैव कविता को केन्द्र में रखकर किया गया। आदिकाल से आधुनिक काल तक की कविता में बहुत कुछ ऐसा है जिसने अपने समय और समाज को दिशा देने के साथ-साथ हमारे समय और समाज को भी दिशा देने का कार्य किया है। हमारे दौर में समाज चेता होना कोई आसान कार्य नहीं है, और यदि वह सर्जक हो तो

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

फिर उसके समाज चेता होने का मतलब है; उसका कहीं गुम हो जाना, कहीं खप जाना। जब चारों तरफ शासन के अन्याय की लपटें उठ रही हों, और आम जन की बहुत छोटी और मामूली इच्छाएँ जल रही हों-लगभग तीन दशक की आजादी ने आम जन को पेट भर रोटी तो नहीं दी; हाँ कुछ युद्ध और टूटे हुए ख्वाब जरुर दिये। प्रतिरोध के लिए नक्सलबाड़ी दिया और उसे कुचलने के लिए आपातकाल। दुष्यंत के अंतिम दिनों की हालत को विजय बहादुर सिंह ने मेहरन्निसा परवेज के हवाले से दिखाया है, ''होटल गये तो दुष्यंत भाई पैजामा और हल्के स्लेटी रंग की शर्ट पहने बिस्तर पर अधलेटे से बैठे कुछ लिख रहे थे। कमरे में ढेर सारी खाली बोतलें पड़ी थी। बीड़ी के टुकड़ों से पलंग का निचला भाग भरा था। कमरे की हालत देखकर लग रहा था, इसमें रहने वाला व्यक्ति रात भर सोया नहीं है। यह गजलों का दौर था। 'साये में धूप' की तूफानी गजलों का। कवि ने मेहरन्निसा जी से कहा था ''इन दिनों मैं महीने भर से यही हूँ। किसी से नहीं मिलता। बस ऑफिस जाता हूँ और लौटकर यहीं इसी कमरे में बंद हो जाता हूँ।''[१३] परिस्थिति के चित्रण और दुष्यंत के कथन से दुष्यंत की बेचैनी और पीड़ा का अंदाजा लगाया जा सकता है। यूँ ही नहीं दुष्यंत ने गजल को अपनाया, किसी शायर ने बहुत सही कहा है इसके बारे में-

दिल में हो दर्द का तूफाँ तो गजल होती है,
कोई मुश्किल न हो आसाँ तो गजल होती है।

अपने वक्त की मुश्किलों को सहन करता हुआ शायर सबकुछ अपने शरीर पर झेलकर इस दुनिया से चल बसा। उनके बाद गजलकारों की बाढ़ सी आई, किंतु दुष्यंत की ऊँचाई हासिल न कर सकी। उन्हें शायद पता न था कि दुष्यंत सरीखा होने के लिए बैचैनी और तड़प के साथ-साथ खुदको खपा देने का साहस भी चाहिए। सुविधाओं के इस दौर में कुछ पाने का मोह छोड़कर व्यवस्था से टकराने का मद्दा भी चाहिए। कैफ भोपाली ने बहुत ठीक कहा है, ''साये में धूप'' की पहली गजल का पहला शेर कहाँ तो तय था चिरागाँ हरेक घर के लिए एक राजनीति ज्ञान ही है जिसने पूरे देश को उन भूली हुई प्रतिज्ञाओं की याद दिला दी जिसे सत्ता, राजनीति करने वालों ने लगभग धो-पोंछ डाला था। दुष्यंत की शायरी की असली जान यही राजनीति है।''[१४]

राजनीति के साथ सीधा मुठभेड़ दुष्यंत की अपार सफलता का आधार है। यही वह बिन्दु है जहाँ खड़े होकर दुष्यंत पूरे मुल्क का नक्शा पाठकों के सामने प्रस्तुत कर देते हैं। जहाँ से अतीत और वर्तमान के साथ ही भविष्य के अतंर्विरोध भी स्पष्ट दिखाई पड़ने लगते हैं। आधुनिक हो रहे जटिल जीवन के सारे रहस्य आँखों के सामने नाचने लगते है और समय स्थिर होकर संवाद करने लगता है। इस स्थिति में पहुँचकर शायर को कोई मलाल नहीं रह जाता। वह स्वीकार करता है-

दुख नहीं कोई कि अब उपलब्धियों के नाम पर,
और कुछ हो या न हो, आकाश-सी छाती तो है।[१५]

हिंदी आलोचना ने गजल की नोटिस नहीं ली है, और यदि ली भी है तो नाकारात्मक रुप से। लेकिन, दृष्यंत और अदम की गजलों ने उनके विचारों को बदलने में बड़ी भूमिका निभाई है। एक साक्षात्कर में मैनेजर पाण्डेय कहते हैं, ''अदम की गजले पढ़ने के बाद मेरी यह धारणा बदली और लगा कि भाषिक चमत्कार तो जगल का स्वभाव है। लेकिन अदम गोंडवी की गजलें जनता की या श्रोताओं या पाठकों की चेतना को स्तब्ध नहीं करतीं, बल्कि बेचैन करती हैं, जगाती हैं और आगे बढ़ने के लिए प्रेरणा देती हैं। यह मैं कह सकता हूँ और यही मुझे अपनी बात में सुधार करना जरुरी लगता है।''[१६] एक सफल रचनाकार की यही ताकत है कि वह अपनी रचनात्मकता से आलोचना की धारा भी मोड़ देता है। अदम ने कुछ ऐसा ही किया। इस विधा को जामो-मीना से दूर जिंदगी की तर्जुमानी में ले गयें-

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

जामो-मीना की खनक से थी ये वाबस्ता जरुर,
देखिए, अब जिंदगी की तर्जुमानी है गजल।[१६]

कैफ भोपाली ने 'समय से मुठभेड़' की विस्तृत भूमिका में यह लिखा है, ''दुष्यंत ने अपनी गजलों से शायरी की जिस नई 'राजनीति' की शुरुआत की थी, अदम ने उसे उस मुकाम तक पहुँचाने की कोशिश की है जहाँ से एक-एक चीज बगैर किसी धुँधलके के पहचानी जा सके। इस 'राजनीति' का एक और मकसद राष्ट्रीय आंदोलन के घायल और लहुलूहान कर डाले गये उन मूल्यों की याद को कायम रखने और बचाने का भी जिनके बचने पर ही यह देश और इसकी आजादियाँ बच सकेंगी। यह शायरी एक अर्थ में, सचमुच शायरी कम है सीधी बात कहीं अधिक। इस रूप में यह एक ऐसी आपदधर्मी कला है जो आग की लपटों के बीच धू-धू जलती बस्तियों को बचाने के लिए आगे आती है।''[१७] सचमुच में अदम की शायरी आपदधर्मी कला है। उस बस्ती को बचाने के लिए जो ठाकुरों और रसूखदारों के आतंक और शोषण से जर्जर हो चली है। जहाँ वंचित-पीड़ित पुरुष हुक्म बजाने के लिए और मुफलिसी की भेंट चढ़ चुका सौन्दर्य हर पल स्याह होने के लिए ही जन्मा है। अदम की यह कला अपने ट्रैजिक कलेवर में भी प्रतिरोध का जो स्वर रचती है, वह साहित्य की परंपरा में बहुत कम देखने को मिलता है। दुष्यंत में यह रचाव है, किंतु विधा की नाजुकियत के साथ, जबकि अदम नाजुकियत के पैरहन को उतार फेंकते हैं और अपनी हड्डियों के सहारे ही शोषण करने वालों से टकराते हैं। बहुत सही कहा है कैफ भोपाली ने कि अदम सीधा संबाद करते हैं। कबीर की तरह सवालों की झड़ी लगा देते है। सदग्रंथों को मथकर रख देते हैं। भूख और रोटी की जद्दोजहद से बार-बार गुजरते हैं। जिस भूख को धूमिल ने सत्तर के दशक में कविता के केन्द्र में लाकर स्वतंत्र भारत में आम आदमी के सुनहरे सपनों के टूटने को जो खनक पैदा की थी, उसकी अनुगूँज अदम की गजलों में बरकरार है। यह महज संयोग नहीं है कि अदम की गजलों में भूख और रोटी बारहा आते हैं। स्वतंत्रता के पूर्व और पश्चात भी भूख और रोटी का मामला जस का तस रहा। इसी रोटी के चक्कर में आम आदमी देश से परदेश, उत्तर से दक्षिण और पूरब से पश्चिम का चक्कर लगाता है। इसी रोटी की मर्यादा बचाते-बचाते किसानी सभ्यता का नायक होरी असमय ही मृत्यु के फँदे पर झूल जाता है। इसी रोटी का खेल है कि बुधिया को घीसू-माधव मरने के लिए छोड़ देते हैं। इसी रोटी की चाहत में कितनें मासूमों के हाथों में बंदूक आ जाती हैं। इसके बावजूद रोटी का संघर्ष खत्म नहीं होता। शायद, कभी होगा भी नहीं-

इंसान काले-गोरे के खेमें में बँट गया
तहजीब के बदन पर सियासी लिबास है
रोटी के लिए बिक गई धनियाँ की आबरुँ
लमही में प्रेमचंद का होरी उदास है।[१८]

अदम की शायरी उत्तर आधुनिकता के इस दौर में भी जिस यथार्थ से हमारा सामना कराती है, जो तस्वीर दिखाती है, वह हिन्दुस्तान की तरक्की के सारे पोल खोलती नजर आती है। अदम हमें उस गाँव-घर की ओर ले जाते हैं, जहाँ की दलित बस्ती पर अभी भी ठाकुरों का राज चलता है। जहाँ का कानून ठाकुरों की रखैल है। जहाँ फूलिया का कुएँ में डूब जाना ही उसकी नियति है। जहाँ मंगल को लंगोटी तक नसीब नहीं। जहाँ कृष्णा रोटी के लिए जिस्म का सौदा करने को मजबूर है। जहाँ सिर्फ और सिर्फ सत्यनाशी लोग ही रहते हैं। जो पल-पल यह सोचने को अभिशप्त हैं कि गोया गलती से इस ग्रह पर आ गये है-

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

धर्म के ठेकेदार बताएँ,

किस ग्रह के अधिवासी हैं हम ?[१९]

अदम की शायरी शायरी की बड़ी विशेषता यह है कि वे जहाँ एक ओर व्यापक स्तर पर सत्ता के चरित्र का उदघाटन करते हैं, वहीं दूसरी ओर अपने गाँव के जन-जन की खबर लेते हुए उसके हवाले से हिंदुस्तान की सही तस्वीर बना डालते हैं। कई बार तो उनकी रचनाओं से गुजरते हुए आश्चर्य हो उठता है (जैसा कि कबीर को पढ़ते-सुनते हुए होता है) कि हाथ में कुदाल थामे हुए खेतों में काम करने वाला यह फक्कड़ आदमी देश और दुनिया की जिस स्तर पर समझ रखता है, वह गैर मामूली है। न सिर्फ हिन्दुस्तान की गहरी राजनैतिक समझ है अदम को, बल्कि दुनिया के तथाकथित विकसित मुल्कों की भी। और हो भी क्यों न ? एक रचनाकार का जन्म कुछ मूल्यों के साथ होता है, उन्हीं मूल्यों के संरक्षण और संवर्द्धन के लिए वह सदैव संघर्ष करता है। क़ई दफा यह संघर्ष आतंरिक होता है (जैसा कि गालिब में) और क़ई दफा बाह्य (जैसा कि कबीर में)। अदम इसी बाह्य संघर्ष के जुझारु और अक्खड़ योद्धा हैं-

दिल लिए शिशे का देखो संग से टकरा गई,

बर्गे गुल की शक्ल में शमशीर है मेरी गजल।[२०]

अदम की शायरी की एक और बड़ी विशेषता यह है कि वे स्त्रियों पर बात करते हुए न कबीर के साथ चलते हैं न ही धूमिल के साथ। उन्हें पूरा स्पेस देते हैं। उनकी जिन्दगी का सच सीधा-सीधा सामने रखते हैं। जरुरत होने पर उसकी पेचीदगी का विश्लेषण भी करते हैं। एक ही शेर में दोतरफा वार करते हैं। यह दिखाते हैं कि स्त्री चाहे दलित हो, चाहे सवर्ण, उसकी स्थिति कहीं भी बेहतर नहीं हैं-

औरत तुम्हारे पाँव की जूती की तरह है।

जब बोरियत महसूस हो घर से निकाल दो।[२१]

आधुनिक होती दुनिया में स्त्री-विमर्श के नाम पर जो कुछ भी हो रहा हो, उससे अदम के गाँव की स्त्रियाँ अनभिज्ञ हैं। वे आज भी उसी अँधेरे का शिकार हैं, जहाँ राजधानी की चौंधिया देने वाली रौशनी नहीं पहुँचती। जहाँ आज भी अधिकार को समझने और उसके लिए आवाज उठाने वाले अक्षर नहीं पढ़े जाते। जहाँ आज भी पति होने का मतलब परमेश्वर होना और स्त्री होने का मतलब दासी होना ही होता है। लेकिन, अदम इसको बदला हुआ देखना चाहते हैं। वे चाहते हैं कि इनके श्रम और त्याग के सौंदर्य को समझा जाये। इन्हें रुह के स्तर पर महसूस किया जाये-

कहीं हो जिक्र अकीदत से सर झुका देना,

बड़ी अजीम ये औरत की जात होती है।[२२]

अदम ऐसे शायर हैं, जिन्हें यह पता है कि अदब का संबंध जिंदगी से किस तरह का है ? और उसकी तर्जुमानी किस भाँति करनी है ? यदि ऐसा करने में शायर असफल हो जाये तो वह तहजीब के सीने में नासूर जान पड़ता है-

अदब गर जिंदगी के दायरे से दूर होता है

तो वह तहजीब के सीने में इक नासूर होता है।[२३]

साहित्य कला है। अत्यंत जिम्मेदार कला। मनुष्य का प्रतिनिधित्व करती हुई कला। मनुष्य को बिखरने से बचाती हुई और बिखरे हुए का समेटती हुई कला। इसकी जिम्मेदारी अन्य कलाओं से कहीं अधिक हैं, मनुष्य को सँवारने में। अदम अदब से

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

यही काम लेना चाहते हैं। वे चाहते हैं कि समाज का ढाँचा, जो कि बड़ा ही ऊबड़-खाबड़ है वह कुछ समतल हो। वंचितों और जरुतरमंदों की नोटिस ली जाये। भूख और रोटी के संघर्ष को खत्म किया जाये। बहसों और वादों का भ्रम खत्म हो। हाँलाकि इस बेहया सियासत में यह सब संभव नहीं है, तथापि ऐसी कोशिश तो की ही जानी चाहिए-

कभी तकरीर की गर्मी से चूल्हा जल नहीं सकता
यहाँ वादों के जंगल में सियासत बेहया-सी है।[२४]

जिस तरह दुष्यंत सत्ता के चरित्र को समझते थे, उसी तरह अदम भी समझते हैं। दरअसल, 'सत्ता' बहुअर्थी शब्द है। यही कारण है कि इसका खेल भी बहुआयामी है। यह खेल उत्कर्ष पर पहुँचे हुए व्यक्ति की शक्ति का खेल हैं। हमारे मुल्क में यह खेल चंद पूँजीपतियों और सियासी घरानों का खेल है। जहाँ जम्हूरियत के नाम पर एक ही सिक्के का राज सदियों की शक्ल लेने में सफल होता दिखाई पड़ रहा है। अदम कहते है-

मुल्क जाए भाड़ में इससे उन्हें मतलब नहीं,
एक ही ख्वाहिश है कि कुनबें में मुख्तारी रहे।[२५]

'कुनबे में मुख्तारी' अब सिर्फ राजनीति के स्तर पर ही नहीं, हर क्षेत्र में दिखाई पड़ने लगी है। ज्ञान-विज्ञान, सिनेमा-साहित्य सबकुछ इसकी गिरफ्त में है। नतीजा, एक आम आदमी को अपनी जगह बनाने में सौ मुसीबतों का सामना करना पड़ रहा है। पहले तो यह आरोप सिर्फ कांग्रेस पार्टी पर लगता था, लेकिन अब देश की कोई ऐसी पार्टी नही, जिसमें कुनबावाद न हो। उत्तर-प्रदेश और बिहार की राजनैतिक पार्टियाँ भी इसी श्रेणी में आ गई हैं। जिस जनता को वोट की ताकत का अहसास कराया जाता है, उसके वोट का आखिर हश्र क्या होता है ? धूमिल और अदम दोनों संसद पर करारी चोट करते हैं। उसकी कार्य प्रणाली और भाषा दोनों की कड़ी आलोचना करते हैं। सच तो यह हैं कि देश की सबसे बड़ी पंचायत में जो कुछ होता है, वह आम आदमी से छिपा नहीं हैं। अपने स्वार्थ की रोटियाँ सेंकी जाती हैं। कुर्सी के लिए जनता को दाँव पर लगा दिया जाता है। रुपये की लालच में विदेशी कंपनियों के हाथों जर-जंगल-जमीन का ही नहीं, आदमी तक का सौदा कर दिया जाता है। मानवाधिकार की दुहाई देकर आम आदमी को उसके ही घर से निकाल कर बेघर कर दिया जाता है। उत्पन्न विरोध को विकास के नाम पर खारिज कर दिया जाता है। यहाँ जो कुछ हो रहा है, वह बाप-दादा की शब्दावली में कहें तो 'अंग्रेजों के समय में भी नहीं होता था' इतना क्रूर न तो डलहौजी था, नहीं मैकाले की नीति-

जो डलहौजी न कर पाया वो ये हुक्काम कर देंगे,
कमीशन दो तो हिन्दुस्तान को नीलाम कर देंगे।[२६]

लेकिन, अदम को पता है कि निष्कर्ष क्या आने वाला है ? अदम अधिनायकों के इतिहास से वाकिफ हैं और उस दिन का इंतजार कर रहे हैं, जिस दिन पानी सिर के ऊपर से होकर बहने लगेगा। जिस कौम को अपनी ताकत का अंदाजा होगा, उस दिन सियासी खेल के सारे मंजर बदल जायेंगे-

हैं कहाँ हिटलर हलाकू जार या चंगेज खाँ,
मिट गए सब कौम की औकात को मत छेड़िए।[२७]

अदम 'समय से मुठभेड़' करते हुए 'धरती की सतह' के शायर हैं। इनकी गजले जिंदगी की तर्जुमानी करती हैं। इन्होंने मुहब्बत को हाशिए पर रखकर रोटी को तवाजो दी है। मशीनी दौर में मिटते अहसास को महसूस करते हुए अपनी

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

शायरी के मार्फत भूख के शोलों में जलती कौम का इतिहास लिखा है। इन्होंने ठंडे चूल्हे पर पड़ी खाली पतीली के आगे फागुन की नशीली धूप को बेअसर करार दिया है। गजल को एशियाई हुस्न की शक्ल दी है, जिसमें उसका यथार्थ पूरी ईमानदारी से दिखाई पड़ता है। गजल को गाँव की माटी से जोड़ते हुए उसकी भाषा में नई धार पैदा कर दी है। ऐसे में कहा जा सकता है कि जब तक रोटी, धर्म, जाति, पुरुष, स्त्री के मतभेद और विसंगतियाँ रहेंगी तथा सियासी मसले रहेंगे' अदम की शायरी प्रतिरोध बनकर गूँजती रहेगी।

शोध छात्र, हिंदी विभाग
बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
मो. 9455107472

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

डॉ. बीरेन्द्र कुमार भट्टाचार्य के 'मृत्युंजय' का सामाजिक मूल्यांकन

● मनोज कुमार कलिता

'साहित्यकार पैदा होता है, बनाया नहीं जाता' यह बात अनेक पाश्चात्य एवं भारतीय विद्धानों ने प्रकारान्तर से स्वीकार किया है। सन् १९२४ में पूर्वोत्तर भारत के असम में अत्यंत पिछड़े हुए सफ़्राई चाय बागान में एक ब्राह्मण कुल में बीरेन्द्र कुमार भट्टाचार्य के रूप में एक प्रतिभाशाली साहित्यकार पैदा हुआ। मात्र सात वर्ष की अवस्था में ही 'शंकरदेव' नाम से प्रसिद्ध कविता की रचना करते हुए उन्होंने अपनी उभरती हुई साहित्यिक प्रतिभा का परिचय दिया। साहित्य की प्रायः सभी विधाओं पर उन्होंने अपना कलम उठाया, किन्तु भारतीय साहित्य में एक सफल उपन्यासकार के रूप में ही उन्हें अधिक ख्याति मिली। अपने ज्ञान और प्रतिभा के माध्यम से जिन साहित्यकारों ने भारतीय साहित्य के इतिहास में अपना स्थान सुरक्षित करने में सक्षम हुए, उनमें से डॉ. बीरेन्द्र कुमार भट्टाचार्य का नाम सादर के साथ लिया जाता है। सैंतीस वर्ष की अवस्था में ही साहित्य अकादमी पुरस्कार; सन् 1979 में 'मृत्युंजय' उपन्यास के लिए भारतीय साहित्य का सर्वश्रेष्ठ पुरस्कार 'ज्ञानपीठ' प्राप्त करते हुए यह बात साबित कर दिया है कि उनकी प्रतिभा कितनी व्यापक हैं। आप उस समय तक ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित सभी साहित्यकारों में से सबसे कम उम्र के भी रहे।

सन् 1942 के भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन की पृष्ठभूमि पर असम के नगाँव जिले में गांधीजी के स्वतन्त्रता सेनानी द्वारा मिलिट्री से भरपूर एक रेलगाड़ी गिराने की घटना को केन्द्र में रखकर लिखी गयी एक श्रेष्ठ एवं सशक्त साहित्यिक कृति है – 'मृत्युंजय'। इस दृष्टि से डॉ. बीरेन्द्र कुमार भट्टाचार्य का 'मृत्युंजय' एक राजनैतिक उपन्यास है, परन्तु इसकी कथा को आगे बढ़ाते समय उपन्यासकार ने असम की क्षेत्रीय घटनाचक्र के साथ-साथ इससे जुड़े विभिन्न सामाजिक परिवेश का चित्रण भी अत्यंत कुशलता के साथ किया है। वस्तुतः डॉ. भट्टाचार्य जी का 'मृत्युंजय' सामाजिक मूल्यबोध का एक वैचित्र्यमय दस्तावेज़ है। इसमें तत्कालीन समाज में प्रचलित रीति-नीति, आचार-विचार, परंपरा आदि का यथार्थ चित्रण किया गया है।

'मृत्युंजय' में जिस समाज का वर्णन किया गया है वह नगाँव जिले के मायङ तथा उसके आस-पास का क्षेत्र हैं। मायङ एक गाँव है। ग्रामीण क्षेत्र होने के नाते लोगों की जिन्दगी का गुजारा भी खेत से उत्पन्न सामग्री पर ही निर्भर हैं। तो इस दृष्टि से मायङ के लोग पिछड़े हुए हैं। समाज के विभिन्न सम्प्रदाय का प्रतिनिधित्व करने वाले महदा गोसाइ, धनपुर लस्कर, माणिक बोरा, भिभिराक, मधु केवत, दधि बरदलै, कली दीदी, सुभद्रा, रतनी, रचकी आदि की आर्थिक स्थिति ठीक नहीं हैं। जैसे-तैसे जीवन का गुजारा करते हैं। यद्यपि महदा गोसाईं सत्राधिपति है परंतु उनका पारिवारिक जीवन भी साधारण है। हल जोतने के लिए थोड़ी भी जमीन न रहने वाले धनपुर की पढ़ाई-लिखाई भी अधूरी रही। इस तरह मधु केवत, भिभिराक कली दीदी, रतनी सबकी आर्थिक स्थिति प्रायः बराबर है। अहिना कोंवर के पूर्व-पुरुष राजा थे। किन्तु वह केवल नाम से ही राजा का वंशधर रह गया। आर्थिक दुरवस्था के कारण बारह महीने और तेरह बीमारियों से परेशान अपनी पत्नी की चिकित्सा

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

वैद्य-डॉक्टर से न होकर गोसाई जी की देशी दवाई से होता है। फिर भी वह अपने आप को राज-वंशधर कहते हुए गौरव अनुभव करता है और आशा करता है कि देश के स्वाधीन होने पर फिर से मायङ में राजा का शासन होगा। कुछ लोग सोचते हैं ''साहबों के बदले देशी रजवाड़ों के होने पर रैयत की भलाई होगी, मालगुजारी माफ होगी, किसानों के लिए सीढ़ीनुमा खेत बनाये जाएँगे, चीजों की कीमतें कम होगी, स्कूल-अस्पताल बनेंगे, जनता द्वारा चुने गए लोग शासन चलाएँगे'' (पृ. ११५) लेकिन द्वितीय विश्र्व युद्ध ने उनकी आशाओं पर पानी फेर दिया है- ''धान, दलहन, मुर्गे, गाय, बाँस सब कुछ कम दाम पर ही बेचना पड़ रही है। इधर सारी चीजों की कीमतों में आग लग गयी है। आठ आने के कपड़े में आठ रुपये लग जाते हैं।'' (पृ. ११५)

'मृत्युंजय' के अधिकांश पात्र यद्यपि आर्थिक कठिनाइयों से गुजरते हैं परन्तु द्वितीय विश्वयुद्ध से सुविधा लेकर कुछ लालची ठेकेदार और महाजन उभर कर आते हैं जो अनेक धन-दौलत के अधिकारी बन जाते हैं। उपन्यास में लयराम महाजन इसका प्रतिनिधि है।

जिस क्षेत्र के लोगों की आर्थिक स्थिति ठीक नहीं रहती है उस क्षेत्र का शिक्षा व्यवस्था उन्नत होना आशा करना भी बेकार है। 'मृत्युंजय' की शिक्षा व्यवस्था भी अत्यन्त गिरि हुई है जिसका वर्णन उपन्यासकार ने इन शब्दों में किया है- ''दधि मास्टर को याद आ गयी मायङ की अपनी पाठशाला। चार महीने से बन्द है। मास्टर ही जो वहाँ से भागा हुआ है। जो दो-चार पढ़नेवाले बच्चे थे, वे मटरगश्ती करते होंगे, उनके माँ-बाप भी सोचते होंगे कि आखिर पढ़कर ही क्या तीर मार लेंगे वे। कितने ही उनमें ऐसे थे जिन्हें सवेरे से जुटाई में लगना पड़ता और बाद को भी भूखे पेट ही स्कूल जाना पड़ता। कभी-कभी तो आ भी नहीं पाते। धान का बीज डालने, रोपनी और सिंचाई के समय तो सबको माँ-बाप के साथ सारे-सारे दिन खेतों पर ही लगा रहना पड़ता है। न करें तो जितना कुछ पेट के लिए मिल जाता है, उसके भी लाले पड़ जाएँ। बानेश्वर राजा और अहिना कोंवर के बच्चों तक की यही हालत है। लड़कियों को तो जैसे स्कूल भेजना आवश्यक ही नहीं समझा जाता।

दधि का चिन्तन-क्रम चलता रहा। ध्यान हो आया उसे कि बच्चों पढ़ाई के लिए इतना कुछ भी हो सका। इसके लिए गोसाईजी को और स्वयं उसे कितना-कितना कुछ करना पड़ता है। किन-किन उपायों से अभिभावकों को राजी किया जाता है कि बच्चों को स्कूल भेजें। और स्कूल की यह हालत कि कीर्तनगर की तरह वहाँ दीवारें तक नहीं हैं। चार खंभों पर किसी तरह टीका हुआ एक छप्पर भर है। बैठने के लिए कहीं कुछ नहीं। उसका अपना घर ही ऑफिस है। बच्चे बैठने के लिए घर से चटाई का टुकड़ा या केले का पत्ता साथ लाते हैं। वह स्वयं अपने लिए चटाई लेकर जाता है। और तो और, चारों ओर से खुला होने के कारण गाँव के छुट्टे गाय-बैल आकर गोबर तक कर जाते हैं इसीलिए स्कूल आने पर मास्टर और छात्रों का पहला काम होता है सफाई करना। बारिश होने पर छप्पर चूने लगता है और जाड़ा आने पर तो ब्रह्मपुत्र से नहा-नहाकर आती पछुवा हवा मास्टर और लड़कों की कौन कहे, किताब-कापियों तक को कंपा जाती है। ऐसे में जब-तब तो स्कूल में छुट्टी तक कर देनी पड़ती है : कभी आधे दिन की, कभी पूरे दिन की। निपट देहात होने के कारण स्कूल के इन्सपेक्शन के लिए कोई अधिकारी भी नहीं फटकता।'' (पृ. १८५) डॉ. बीरेन्द्र कुमार भट्टाचार्य ने जिस समय इस उपन्यास की रचना की थी उस समय आर्थिक और शिक्षा की दृष्टि से केवल मायङ तथा उसके आस-पास का क्षेत्र ही नहीं बल्कि पूरे असम के ग्रामीण क्षेत्रों की स्थिति प्राय: ऐसी ही थी। किन्तु डॉ. भट्टाचार्य जी का दृष्टिकोण अलग है। उनके अनुसार शिक्षा के बिना सबकुछ मिथ्या है। गाँव के लोगों को शिक्षित बनाने के लिए देशी सरकार की आवश्यकता है। उनके अनुसार अँग्रेज सरकार देश की शिक्षा व्यवस्था के लिए कुछ नहीं कर सकेगी। दूसरी ओर आरती और अनुपमा के माध्यम से स्त्री-शिक्षा का

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

हलका-सा पुट दिखाकर तथा अँग्रेजी शिक्षा का प्रचलन दिखाते हुए उस समय के असम में प्रचलित शिक्षा व्यवस्था का आभास भी दिया है।

'मृत्युंजय' का समाज ऊँच-नीच की भावधारा से ग्रसित विभिन्न जाति-जनगोष्ठियों का समाज है, जो मूलत: धर्म एवं पुरानी संस्कार पर आश्रित है। परन्तु उपन्यासकार ने तत्कालीन प्रचलित जाति-भेद की भावना से ऊपर उठ कर मानव को मानव-धर्म की दृष्टि से देखने का प्रयास किया। जाति-भेद उनकी दृष्टि में तुच्छ है। इस विचारधारा को उन्होंने उपन्यास के विभिन्न पात्रों के माध्यम से प्रकट किया है। उपन्यास का मुख्य पात्र महदा गोसाई 'दैपारा सत्र' के सत्राधिकार है। गोसाई जी के साथ-साथ उनके शिष्य भी सत्रीय रीति-नीति से परिचालित होते हैं। सत्रीय रीति-नीति के अनुसार ब्राह्मण-भगतों में समय पर स्नान करना, नियमित पूजा-पाठ तथा शुद्ध भोजन की व्यवस्था होती है। बिना नहाये-धोये पूजा-पाठ तथा भोजन करना तो बहुत दूर की बात है संस्कार सम्पन्न असमीया लोग उसमें व्यवहृत सामान तक हाथ नहीं लगाते हैं। इसलिए महदा गोसाईं की पत्नी अपने पति को खाँसी की दवाई का एक खुराक बनाने में हिचकिचाती हुई कहती है ''मैं स्वयं ही तैयार कर देती, लेकिन मेरी देह तो अभी बासी है।'' (पृ. ७०) लेकिन गोसाईं तथा भगतों के इस नित्य-नैमित्तिक नीति-नियमों का भी भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन में भाग लेने से शिथिलता आ गयी है। माणिक बोरा कहते है ''जब से स्वराज के लिए वाँलंटियर बना हूँ तब से नीति-नियमों में भी शिथिलता आ गयी है। किन्तु कुछ लोग पुरानी नीति-नियमों के संस्कार से मुक्त नहीं हो पाते और भोजन आदि की शुद्धता पर प्रश्न-चिह्न लगते फिरते है- ''सुनता हूँ तुम्हें मद्य-मांस से भी परहेज नहीं और जात-कुजात, मुसलमान-क्रिस्तान, नगामिकिर सबका छुआ खा लेते हो!'' (पृ. ३२) ठीक उसी प्रकार महदा गोसाईं जब मिकिर लड़की डिमि के हाथ की चाय पीने के लिए तैयार होता है तो आहिना कोंवर बोला था- ''हे कृष्ण, आपकी मति मारी गयी है क्या गोसाईं जी? डिमि के हाथ की चाय पीएँगे, हे कृष्ण! मैं तो नहीं लूँगा, है कृष्ण!'' (पृ. ९९-१००) तब गोसाईं जी उसे ऐसी संकीर्ण मनोभाव से छुटकारा दिलाने की कोशिश करते हुए रामायण की बात उठाते हुए उत्तर दिया था- ''राम ने भी तो गुह चांडाल के हाथ का भोजन किया था। उससे क्या हुआ? जो होगा देखा जाएगा। इसका विचार आप लोग बाद में करेंगे। काम हो जाने के बाद यदि जीवित रहे तो फिर सोचा करेंगे। अब बभनई और भगनई छोड़ देनी होगी कोंवर।'' (पृ. १००) किन्तु इन लोगों का मानना है कि जाति-धर्म छोड़ने से बैकुंठ का रास्ता बन्द होता है- ''जाति गयी, सत्या गया-अब बैकुंठ कैसे जाएंगे'' (पृ. १००) गोसाईं जी समाज को ऐसी अपसंस्कृति से मुक्त करना चाहते हैं। उन्होंने मानव को यथार्थ मानव बनाना चाहते हैं। और मानव यथार्थ मानव तभी बन पाएंगे जब अपने को 'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय' में नियोजित कर सके। उन्होंने कहा है- ''देश में सचमुच धर्म तो रहा ही नहीं। केवल नाम के नीति-नियम हैं। इन्ही का आधार लेकर लोग ब्राह्मण बन जाते हैं, भगत बन जाते हैं, मौलवी-मुल्ला बन जाते हैं। वास्तविक धर्म तो होता है मानव धर्म। मानव का दुख निवारण करने के लिए ही बुद्ध का अवतार हुआ। महापुरुष शंकरदेव और महाप्रभु चैतन्य ने भी मानव-प्रेम पर ही बल दिया। मानव के अन्तर में ही ईश्र्वर है। ईश्र्वर के विषय में उन्होंने कुछ कहा ही नहीं; 'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय' को ही अपना एकमात्र धर्म बताया।'' (पृ. ३७)

गोसाई जी का वचन और कर्म में कोई अन्तर नहीं है। उन्होंने एक दिन सबका जूठा भी उठाया था जिसे देख कर जात-पाँत की संकीर्ण मनोभाव से ग्रसित आहिना कोंवर ने कहा था- ''हे कृष्ण, गोसाई जी को यह काम भी करना पड़ा।'' (पृ. १४८) किन्तु महदा गोसाई की दृष्टि में ''जात-पाँत, छुआछूत-इन सबका समाप्त हो जाना ही अच्छा है।'' (पृ. १००) संस्कारी पुरुष भिभिराम ने भी रामायण-महाभारत का उदाहरण देते हुए कहा था- ''सच तो, यह है कि जात-पाँत ही चूहे

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

का बिल है: एकदम घुप्प अँधेरा। इससे हम न निकल सकते हैं, न इसमें घुस ही सकते हैं और इससे बाहर साँस भी नहीं ले सकते हैं।'' (पृ. १०२)

डॉ. बीरेन्द्र कुमार भट्टाचार्य एक समाज संचेतक साहित्यकार हैं। उनकी दृष्टि में जाति-भेद आदि संकीर्ण और पौराणिक संस्कारों के कारण ही हमारा समाज बहुत पीछे रह गया है। ''हमारे लोगों में दो ही बुरी आदतें हैं। बातें बहुत करते हैं; और जाति-पाँति को लेकर भी उलझ पड़ते हैं।'' (पृ. ४७-४८) भट्टाचार्य जी एक ऐसे समाज की कल्पना की है, जहाँ जाति-पाँति आदि कुसंस्कार की संकीर्ण अमानवीय भावधारा का प्रधान्य न हों। मानव को मानव-धर्म की दृष्टि से देखा जाएँ। उन्होंने 'मृत्युंजय' में अपना आक्रोश व्यक्त करते हुए कहते हैं ''वैसे सच पूछा जाए तो इस देश में आदमी बनना भी बहुत ही मुश्किल है! यहाँ आदमी की पहचान उसके काम से नहीं, नाम-धाम, कुल-मर्यादा और जात-पाँत के आधार पर होती है।'' (पृ. १०८) इसलिए उन्होंने धनपुर के माध्यम से कहा है- ''तुम मिकिर हो तो मैं कछारी, डिलि गारो है तो रूपनारायण कैवर्त। हम सब अब तक असमिया भी नहीं बन पाये हैं, एक अच्छा आदमी बनना तो बहुत दूर की बात है।'' (पृ. ११२)

असम लोक संस्कृति से अत्यन्त धनी है। लोक संस्कृति का विभिन्न उपादान असम के ग्रामीण जीवन में भरपूर हैं। आज भी असमीया ग्रामीण समाज पौराणिक रीति-नीति, आचार-विचार, धर्म आदि मानवीय भावनाओं से परिचालित होता है। 'मृत्युंजय' के लोग भी इससे मुक्त नहीं हैं। डॉ. बीरेन्द्र कुमार भट्टाचार्य ने असमीया समाज में प्रचलित लोक-विश्वास का समयोपयोगी चित्रण किया है। उन्होंने गोसाई जी के आश्रम का जराजीर्ण अवस्था का चित्रण करने के लिए उल्लू और लकड़खोदे बैठने का संकेत किया है। उल्लू अमंगलकारक नियति का प्रतीक है। असमीया लोक-विश्वास के अनुसार उल्लू लक्ष्मी जी का भी प्रतीक है। इसलिए आश्रम पर बैठे उल्लू को भगाने से रोकते हुए गोसाई ने भिभिराम को कहा ''ढेला मत मारो भिभि। यह नियति नहीं, लक्ष्मी है- दुर्भाग्य नहीं, सौभाग्य है। देखते नहीं, इस साल धान की फसल कितनी अच्छी हुई है।''(पृ. ९५)

तंत्र-मंत्र और भूत-प्रेत आदि पर अधिक विश्र्वास रखने वाले मायङके लोग अनेक क्षेत्र में ओझा पर ही निर्भर हैं। समाज जीवन के विभिन्न क्षेत्र में इन लोगों ने मंत्र का उपयोग करते हैं। यहाँ अनेक सु-मंत्र और कु-मंत्रो का भी प्रचलन हैं। लेखक की भाषा में मायङ - ''तंत्र-मंत्र का देश है'' (पृ. ६२) ''यहा कितने (लोग) आये और भेड़-बकरी बना दिये गये।''(पृ. ४१)दूसरी ओर सुभद्रा का दस-दस मिलिट्रियों से बलात्कार होने के बाद समाज के लोगों द्वारा जब फब्तियाँ कसने लग गया तो उसने समाज के इस कार्य से मर्माहत होकर अत्महत्या की थी। उसे भी ओझा ने बताया कि वह किसी दुष्टात्मा के कारण हुआ है।

असम एक कृषि प्रधान राज्य है। यहाँ निवास करने वाले सभी लोग मूलत: कृषि-कार्य पर ही निर्भर है। प्राकृतिक परिवेश के साथ समयोपयोगी खेती करते हैं और उससे उत्पादित सामग्रियों के भरोसे पर ही असमीया लोगों का खाद्य प्रस्तुत होता है। चावल असमीया लोगों का प्रधान खाद्य है। असमीया लोग चावल के साथ मांस-मछली, साग-सब्जी आदि तेलों के साथ रुचि पूर्ण ब्यंजन पकाते हुए भोजन करते हैं। डॉ. बीरेन्द्र कुमार भट्टाचार्य ने 'मृत्युंजय' में इसका सुन्दर वर्णन जगह-जगह पर किया है- ''बासमती चावल की सुगन्ध! एक बार को तो सभी को तर कर गयी।..... टमाटर पड़े शीतल मछली का झोल केले के फूल की भाजी और शीतल मछली का ही तला हुआ पेटू। धीरज रखना भारी हो आया।'' (पृ. ४३)

असमीया लोगों का सघन चाय पीने का और चाय पीने के बाद तुरन्त पान का बीड़ा खाने के अभ्यास का भी चित्रण

Chandigarh Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

किया गया है। असमीया लोग अँगोछे की गाँठ में (हाँचति) पान का बीड़ा लेकर घूमने का जो अभ्यास है उसका भी चित्रण किया गया है। दूसरी ओर तत्कालीन असमीया समाज में कु-अभ्यास के रुप में चित्रित अफीम की जो बोलबाला है उसका वर्णन भी डॉ. भट्टाचार्य जी ने किया है। आहिना कोंवर अफीम पीने वाले का प्रतीक है।

विवाह एक सामाजिक अनुष्ठान है। मानवीय सम्बन्धों में विवाह को एक अत्यन्त पवित्र सम्बन्ध माना गया है। विवाह के साथ अनेक रीति-नीति जुड़ी हुई रहती हैं। डॉ. बीरेन्द्र कुमार भट्टाचार्य ने 'मृत्युंजय' उपन्यास में आरती के विवाह के प्रसंग में असमीया समाज में प्रचलित विवाह के पहले दिन दैयन की जो मांगलिक रस्म होती है उसका चित्रण किया है। कन्या-स्नान एवं अधिवास के गीत का प्रसंग भी यथा अवसर पर उल्लेख किया है। साथ ही हमारे समाज में प्रचलित बाल्य-विवाह के प्रसंग का भी वर्णन किया है। डॉ. भट्टाचार्य कालीन युग में असमीया समाज में बाल-विवाह एक सामाजिक व्याधि के रूप में उभर रहा था और इस व्याधि में अनेक बालिका का जीवन दूभर हो उठा था। 'मृत्युंजय' में कांचनमती और अनुपमा के रूप में भट्टाचार्य जी ने बाल-विवाह और उसके परिणाम का मार्मिक वर्णन किया है। ब्राह्मण सम्प्रदाय में ऋतुमती होने से पहले ही कन्या ब्याह देने का नियम रहा है। कांचनमती को भी ऋतुमती होने से पहले एक बूढ़े के साथ ब्याहा गया और कुछ ही दिनों बाद विधवा बन गयी। बूढ़े की स्वाभाविक मृत्यु के लिए भी कांचनमती को ही दोषी माना गया और लोग उसे कोसते थे। दूसरी ओर ब्राह्मण संस्कार की विधवा रीति-नीति पालन करते-करते उसका जीवन बोझ वनकर रह गया। इधर अपनी उभरती हुई जवानी की कामना-वासना भी रोक नहीं सकी और अंत में लयराम महाजन की रखैल बन गयी। किन्तु हमारे समाज के लिए अत्यन्त विडम्बना की बात यह है कि जिस कांचनमती को विधवा के समय समाज से लांछित-अपमानित होने वाली बातें सुननी पड़ती थी वही कांचनमती एक दिन लयराम की लक्ष्मी-पत्नी बन जाती है- ''अरे मेरी यह नयी पत्नी ही जो लक्ष्मी ठहरी। जो कहती है, वह होता है।'' (पृ. ६२)

'मृत्युंजय' में बाल-विवाह के अन्य एक प्रसंग में अनुपमा के विधवा जीवन का वर्णन किया गया है। अनुपमा का भी विवाह हुइ अधिक दिन नहीं हुआ था। किन्तु असमय हुई वैधव्य के कारण उसकी सारी कामना-वासनाएँ एवं अरमान मुरझा गयी। जब उसकी देह यौवन के सारे वैभव और ऐश्र्वर्य से सम्पन्न होकर भरी-पूरी हो उठी थी तब वह विधवा बन गयी। अनुपमा के वैधव्य जीवन की दशाओं का वर्णन उपन्यासकार ने इस प्रकार किया है- ''ब्राह्मण घरों की कन्याएँ चूँकि अल्प वय में ब्याह दी जाती हैं, इसलिए उसमें यौवन का आगमन वस्तुत: विवाहोपरान्त ही होता है।

अनुपमा के विवाह के दो ही वर्ष तो बीते थे और उसे सयानी हुए कुछ ही माह। यौवन का ज्वार लहराया ही था कि पति मारा गया। विधवा ब्राह्मणी की जिंदगी और मौत में अंतर ही कितना होता है? आजीवन देह को तपाना पड़ता है। निरामिष आहार और सादा जीवन। सारा जीवन बोझ बनकर रह जाता है।'' (पृ. २४९)

डॉ. बीरेन्द्र कुमार भट्टाचार्य एक समाजवादी एवं मानवतावादी साहित्यकार हैं। उन्होंने समाज को अत्यन्त नजदीक से देखा, परखा और मानव मन की सूक्ष्म अनुभूति और अन्तर्द्वन्दों का यथार्थ वर्णन करने का प्रयास किया। विषय की व्यापकता एवं भाव की गम्भीरता की दृष्टि से डॉ. बीरेन्द्र कुमार भट्टाचार्य को हिन्दी के प्रसिद्ध उपन्यासकार प्रेमचन्द की श्रेणी में रख सकते हैं। दूसरी ओर सामाजिक रीति-नीति और धार्मिक आचार-विचारों का वैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत करने की दृष्टि से वे राहुल सांकृत्यायन के नजदीक हैं।

शोधार्थी, हिन्दी विभाग
राजीव गाँधी विश्वविद्यालय, रोनो हिल्स, दोइमुख
ईटानगर, अरुणाचल प्रदेश-791112

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

कुँवरनारायण की कविताओं में सामान्यजन का इतिहास और तद्‌युगीन सांस्कृतिक सौन्दर्य

● अमरनाथ प्रजापति

जब कोई रचनाकार अतीत की घटनाओं या ऐतिहासिक विषय-वस्तु को रचनात्मक कैनवास पर रखता है तो वह वर्तमान और भविष्य में उसकी प्रासंगिकता, उसकी वैचारिक ऊर्जा तथा उसके मर्म को ढूँढने की कोशिश करता है। वह इतिहास की गहराई में पैठकर अपनी विचारधारा और अपने अनुभव के अनुरुप सामग्री को टटोलकर नए कलेवर में प्रस्तुत करता है। वह केवल इतिहास की घटनाओं और युद्धों का विवरण प्रस्तुत नहीं करता, बल्कि उसकी संस्कृति, सभ्यता और संवेदना को भी शिद्दत से महसूस करता है।

प्रत्येक रचनाकार का इतिहास-बोध, पर्यवेक्षण-क्षमता, दृष्टिकोण एवं प्रस्तुतीकरण भिन्न-भिन्न होता है। समकालीन कवि श्रीकांत वर्मा, विजयदेव नारायण साही और कुँवरनारायण की ऐतिहासिक रचनाओं में पर्याप्त भिन्नता दिखाई पड़ती है। इसे स्पष्ट करते हुए श्रीराम वर्मा लिखते हैं- ''श्रीकांत वर्मा, साही जी और कुँवरनारायण तीनों युद्ध की स्थितियों में मनुष्य को पाते हैं। श्रीकांत वर्मा का तेवर आक्रामक का, विजेता का रहता है, उनका युद्ध शायद अस्तित्वपरक है, भौतिक है। साही के युद्ध में हवाले नहीं, विवरण नहीं तथ्य और सत्य है। वह युद्ध भौतिक-अभौतिक दोनों के बीच से, संधि से, धुंधलके से उठता है, दरअसल वह युद्ध भी आधा यथार्थ आधा स्वप्न है, अतिरंजना है, उसमें जादू है, वह बहा ले जाता है। कुँवरनारायण का युद्ध मनोवैज्ञानिक है, वैचारिक है।''[१] इस कथन से स्पष्ट है कि कुँवरनारायण ने इतिहास-बोध को बिल्कुल नए तरीके से ग्रहण किया है। उनकी कविताओं में घटनाओं के ब्यौरा के बजाय इतिहास को गहराई से देखने की कोशिश की गयी है। उसमें वैचारिक एवं मार्मिक संवाद दिखाई पड़ता है।

कुँवरनारायण के यहाँ इतिहास गरिमामय, मोहक, रोमांचित तथा रूमानी नहीं, बल्कि सामान्य जन की पीड़ा, अत्याचार, हत्या, पराधीनता आदि को मर्मान्तक ढंग से प्रस्तुत करता है। उनके यहाँ चारण कवियों की तरह राजाओं,योद्धाओं और वीर पुरुषों के शौर्य गाथा का न तो बखान है न उसमें कोई दिलचस्पी ही। वे सबसे कमजोर सदियों से पिसते आ रहे सामान्य लोगों के साथ खड़े होते हैं। विष्णु खरे के शब्दों में- ''कुँवरनारायण इतिहास के धीरोदात्त विजयी या पराजित नायकों में न हैं और न उनके साथ हैं- वे उस सामान्य जन के साथ हैं जो हमेशा ही पिसता हैं।''[२] गोलकुंडा की एक शाम कविता में वे कहते हैं-

''बारूद में आग लगाने के इतिहासों से अलग
एक तीसरा इतिहास भी है
रहमतशाह की बीड़ियों और
मत्सराज की माचिस के बीच सुलहों का।''[३]

कुँवरनारायण इतिहास के भीतर मानवीय संवेदना की तलाश करते हैं जो युद्धों, संघर्षों और बर्बरताओं से इतर है। जो हमेशा से बादशाहों की आक्रान्ताओं और महत्वाकांक्षाओं की भेंट चढ़ता आया है। सत्ता के संघर्षो में कितनी चीखें

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

अँधेरी गलियों में गुमनाम हो गयीं। किसी इतिहासकार ने आज तक ऐसे इतिहास की टोह नहीं ली। कुँवरनारायण ऐसी हत्याओं और चीखों को अपनी कविताओं में उतारते हैं-

''किसी टूटे हुए खंजर की मूठ हाथों में लिए
सोच रहा हूँ-
खंजरों के बारे में
उन्हें चलाने वाले हाथों के बारे में
कातिलों और हमलों के बारे में
हजारों वर्षों के बारे में
और एक पल में अचानक
किसी अंधी गली में खो जानेवाली
चीख के बारे में...''[4]

सत्ता और साम्राज्य के स्याह अंधेरे, हत्या और दुराचार से पीड़ित बच्चे, बूढ़े, औरतों के दर्द को कवि ने 'इब्नेबतूता' कविता में गहराई और सूक्ष्म ढंग से देखने की कोशिश की है। इब्नेबतूता की इतिहास दृष्टि के माध्यम से कवि ने एक साम्राज्य के खूनी दस्तावेज को उघाड़कर रख दिया है। उस इतिहास का पन्ना रक्तरंजित और सुल्तान के अंधे रवैयों के परिणामों से पटा हुआ है जो मशाल की फीकी रौशनी में छटपटाता हुआ प्रतीत होता है। हर एक पन्ना बर्बर हत्याओं से सना हुआ है-

''इस बर्बर समारोह में
कौन हैं ये अधमरे बच्चे, औरतें जिनके बेदम शरीरों में
हाथ-पाँव एक-एक कर अलग किये जा रहे हैं ?[5]

कुँवरनारायण ऐतिहासिक विरासत और शाही साम्राज्य के वर्तमान वस्तुस्थितियों का ब्यौरा प्रस्तुत करते हैं तथा वर्तमान समय में उसकी अनुपयोगिता और महत्त्वहीनता को रेखांकिन करते हैं। उसके खँडहर में अनेक बादशाहों के साम्राज्यों के विध्वंस, उत्थान-पतन, हिंसात्मक रवैया, विश्वासघात, युद्ध, हार-जीत, शोक-संताप आदि दफन हो गए हैं। 'गोलकुंडा की एक शाम', 'लखनऊ' और 'विजयनगर' जैसी कविताओं में इसे देखा जा सकता है। गोलकुंडा का किला किसी जमाने में शाही गढ़ हुआ करता था किन्तु आज वह खँडहर में तब्दील हो गया है तथा आम आदमी के लिए मात्र पर्यटन स्थल और जीवन यापन का साधन रह गया है-

''जो टैक्सी चलाता
जो रोज उन्हें खँडहर दिखाकर घर पहुँचाता,
जिसकी कोई वाबस्तगी नहीं
पर्यटकों या खंडहरों से, उसके लिए वक्त
वह वक्त है जो मीटर की रफ्तार से
नगद गुजर रहा।''[6]

लखनऊ के अतीत की शान-शौकत किस तरह वर्तमान में अपनी पहचान के लिए भी संकटग्रस्त है, उसका सजीव चित्र 'लखनऊ' कविता में उभरकर सामने आता है। लखनऊ जो कभी 'शामें अवध' की नवाबी रौनक में डूबा रहता था आज

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

वहां उदासी, बेरौनक और दमघोटू भागमभाग है। आज वह अधमरे बूढ़े-सा खाँसता प्रतीत होता है-

''किसी नौजवान के जवान तरीकों पर त्योरियाँ चढ़ाये
एक टूटी आरामकुर्सी पर
अधलेटे
अधमरे बूढ़े-सा खाँसता हुआ लखनऊ।''[7]

इसी तरह वे 'रास्ते' (फतेहपुर सीकरी) कविता में यह दिखाने की कोशिश करते हैं कि इतिहास में फतेहपुर सीकरी बादशाहों की शान-शौकत के लिए जाना जाता है। शाही लोगों के आवागमन, चकाचौंध से हर समय दरबार मशगूल रहता था। वह आज पूरी तरह से वीरान और निर्जन हो चुका है। इतनी भव्य इमारत का सौन्दर्य फीका पड़ चुका है। उसके पत्थर भी ऊब रहे हैं। जिस रास्ते से कभी बादशाहों का आना-जाना रहता था उधर अब आम लोगों का आना-जाना भी नहीं होता-

''ये रास्ते, जो कभी खास रास्ते थे,
अब आम रास्ते नहीं।
ये महल, जो बादशाहों के लिए थे
अब किसी के वास्ते नहीं।
आश्चर्य कि उन बेताब जिंदगियों में
सब्र की गुंजाइश थी!...
और ऐसा सब्र कि अब ये पत्थर भी उब रहे हैं।''[8]

भौतिक उत्थान और सत्तात्मक शिखरों को कुँवरनारायण बार-बार ध्वस्त करते हैं। उसकी नश्वरता को वे भली-भांति पहचानते हैं। वे सामान्य जन जीवन और मानवीयता के प्रति सम्मान प्रकट करते हैं। सत्तात्मक महत्वाकांक्षा और सांसारिक ऊचाइयाँ सिर्फ मृगजल ही साबित हो सकती है, जिसका कोई अंत नहीं होता है। 'कुतुबमीनार' कविता में व्यंग्य के माध्यम से कहते हैं-

''क्या ये सीढियाँ हमें
उस सबसे ऊँची वाली जगह पर पहुँचा सकती हैं
जहाँ मीनारे खत्म हो जातीं
और एक मस्तक शुरु होता
ताजपोशी के लिए?''[9]

कुँवरनारायण इतिहास और वर्तमान में लगातार आवाजाही करते हुए हिंसा और आतंक के खिलाफ एक सुधारात्मक दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं। वे हिंसा और आतंक का विरोध संयमित और वैचारिक ढंग से करते हैं, कभी सीधे-सीधे तो कभी व्यंग्य से। वे सामान्य जनजीवन के पक्षधर हैं। उनकी संवेदना शोषित, उपेक्षित लोगों से अधिक जुड़ती हैं। वे आम लोगों की पीड़ाओं, दुखों एवं दर्द को गहराई से महसूस करते हैं। इस सन्दर्भ में अनंत विजय पालीवाल कहते हैं- ''इतिहास और आज में दखल देती कुँवरनारायण की ये कविताएँ किसी भी समय पर एक मार्मिक दस्तक हैं। ये दखल देती हैं आक्रान्ताओं की बर्बरता पर-कभी सुधारक के रूप में, तो कभी व्यंग्य और कभी-कभी सीधे आगाह और चेतावनी देते हुए। कुँवरनारायण किसी भी हिंसा के खिलाफ हैं, अतः वे आततायियों के खिलाफ भी हिंसात्मक स्वर मुखर नहीं कर पाते। लेकिन कविता में

Digitized by Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

व्यंग्य और प्रतीकों के वे महारथी हैं।... अतीत के सारे परदे वे परत दर परत खोलते चले जाते हैं। जहाँ कई चेहरे बेनकाब होते हैं तो कई नकाबों से मुक्त भी होते हैं। लेकिन इस पूरी प्रक्रिया में उनका व अंतिम लक्ष्य कोई है तो वह है आम आदमी।''[१०] उन्हें बादशाहों का राजनीतिक दाव-पेंच और छल-छद्म का जीवन दमघोटू लगता है। 'अमीर खुसरो' कविता में इसे स्पष्ट रूप से देख सकते हैं जहाँ खुसरो दिल्ली में अनेक बादशाहों को बनते-उजड़ते देख स्वतन्त्र और सामान्य तरह का जीवन जीने के लिए बेताब होता है-

''ऊब गया हूँ इस खेल तमाशे से
यह 'तुगलकनामा'- बस, अब और नहीं।
बाकी जिंदगी जीने दो
सुल्तानों के हुक्म की तरह नहीं
एक कवि के खयालात की तरह आजाद।''[11]

इतिहास के साथ-साथ संस्कृति और कला के प्रति कुँवरनारायण की गहरी आस्था दिखाई पड़ती है। यह इतिहास को समझने का एक गहन स्रोत भी है। उनकी अनेक कविताओं में ऐतिहासिक पुरातत्वों, विरासतों और स्थापत्यों की जड़ में कला और संस्कृति की महत्ता एवं सौन्दर्य साफ दिखाई पड़ता है। वे इतिहास को साहित्य, कला और संस्कृति के नजरिये से भी देखते है। प्रकाश चन्द्र के शब्दों में- ''कुँवरनारायण इतिहास को सिर्फ घटनाओं, तारीखों या फिर तवारीखों के पन्नों के माध्यम से ही नहीं देखते, बल्कि इतिहास का एक गहन स्रोत उनके लिए संस्कृति, कला और स्थापत्य भी है।''[१२] कुँवरनारायण का मानना है कि साहित्य, कला और सांस्कृतिक सौन्दर्य से मानवीय जीवन के व्यवहारों में सह-भाव स्थापित हो सकता है। मनुष्य धर्म, संप्रदाय, जाति और देशकाल से ऊपर उठ सकता है। उसकी जीवन-दृष्टि समृद्ध हो सकती है। उनकी ऐतिहासिक-सांस्कृतिक दृष्टि 'अंकोर वट', कोणार्क, खजुराहो, श्रावस्ती आदि कविताएँ उल्लेखनीय हैं। 'अंकोर वट' सांस्कृतिक विरासत का अविस्मराणीय उदाहरण है। कम्बोडिया का ये मंदिर-समूह मानवीय और प्राकृतिक स्थापत्य के अद्‌भुत सहमेल की साकार प्रतिमा हैं। इतिहास की क्रूरताओं और पोल पोट की नृशंस हिंसा के बावजूद 'अंकोर वट' महाकरुणा और शांति का सन्देश देता है-

''पोल पोट के नृशंस यथार्थ के विरुद्ध
महाकरुणा का अतियथार्थ रचता
कलाओं का शांतिवन।''[13]

इसी प्रकार 'कोणार्क, खजुराहो, श्रावस्ती, मस्तक विहीन बुद्ध प्रतिमा जैसी अनेक कविताओं में ऐतिहासिक-सांस्कृतिक स्थापत्यों के द्वारा जटिल जीवन और प्रतिकूल परिस्थियों में भी जीवन जीने का एक मार्ग प्रस्तुत करते हैं। वे ऐसी सांस्कृतिक गतिविधियों को महत्त्व देते हैं जो हिंसा, युद्ध, अत्याचार, सत्ता का मोह और भौतिक ऐश्वर्य से अलग मानवीय सम्बन्धों को प्रगाढ़ एवं सौन्दर्यवान बनाती है।

इसतरह हम देखते हैं कि कुँवरनारायण का इतिहासबोध बिल्कुल नए तरीके से उभरकर सामने आता है। उनकी कविताओं में बादशाहों और योद्धाओं के गुणगान के बजाय उनके अत्याचार, हिंसा, अनैतिक और अमानवीय रवैयों का विरोध है। सत्ता का लालच, भौतिक और सांसारिक भूख, साम्राज्यों का विस्तारीकरण आदि के प्रति सहज असहमति है। उसमें सामान्य जन के प्रति गहरी सहानुभूति और संवेदना दिखाई पड़ती है। उनमे दुखों, पीड़ाओं, शोषण और हत्याओं के

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

खिलाफ वे खड़े होते हैं। वे अहिंसा, मानवीयता और प्रेम-सौहार्द के पक्षधर हैं। ये उनकी ऐतिहासिक कविताओं का वैशिष्ट्य है जो अन्य रचनाकारों मे नहीं दिखाई पड़ती है।

सन्दर्भ ग्रन्थ :

1. सं० यतीन्द्र मिश्र, कुँवरनारायण: उपस्थिति, पृ. 316
2. वही, पृ. 139
3. कुँवरनारायण, कोई दूसरा नहीं, पृ. 58
4. वही, पृ. 60
5. कुँवरनारायण, अपने सामने, पृ. 89
6. कुँवरनारायण, कोई दूसरा नहीं, पृ. 58
7. कुँवरनारायण, अपने सामने, पृ. 54
8. वही, पृ. 81
9. वही, पृ. 88
10. सं. प्रेमशंकर शुक्ल, पूर्वग्रह, जुलाई-सितम्बर-2015, पृ. 198
11. कुँवरनारायण, इन दिनों, पृ. 135
12. सं. प्रेमशंकर शुक्ल, पूर्वग्रह, जुलाई-सितम्बर-2015, पृ. 204
13. सं. विनोद तिवारी, पक्षधर, जनवरी-जून-2015, पृ. 16

कमरा संख्या-101, विंग-सी, एन.आर.एस.हॉस्टल

हैदराबाद विश्वविद्यालय, हैदराबाद-५०००४६

मो. ८९८५०३५५९०

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

नागार्जुनः मैं तुम्हारा कवि हूँ*

● आशा सिंह

'जनकवि' के नाम से हिन्दी साहित्य में प्रसिद्ध कवि बाबा नागार्जुन अपनी राजनीतिक व्यंग्यात्मक कविताओं के लिए किसी भी दूसरे कवियों से अलग पहचान बनाए हुए हैं। अपनी सम्पूर्ण रचनाओं में भी उनकी, कविताओं की जितनी प्रसंशा हुई है उतनी दूसरी रचनाओं के लिए शायद नहीं हुई। देश के बड़े-बड़े आलोचकों से लेकर सामान्य हिन्दी प्रेमी तक हर किसी ने बाबा की कविताओं पर लेख लिखे हैं। बाबा नागार्जुन की कविताओं में हम देश का इतिहास देख सकते हैं क्योंकि उनकी कविताओ में देश का प्रतिबिंब है। जैसे-जैसे देश की स्थितियों में बदलाव आया, जिस तरह की भी घटनाएँ घटीं, सभी की छाप उनमें मिलती हैं। उनका रचना-संसार काफी विस्तृत है। उनकी कविता की दुनिया तरउनी ग्राम से लेकर दिल्ली तक, कालिदास से लेकर लू-शुन तक, और गाँधी से लेकर मायावती तक फैली हुई है। इस विस्तृत दुनिया को यहाँ उनकी कविताओं के माध्यम से समझने का प्रयास किया जाएगा। बाबा की कविताओं को सभी ने अपने-अपने तरीके से समझने की कोशिश की है। कभी उनकी कविताओं के विषय को लेकर तो कभी राजनीतिक गतिविधियों पर आधारित कविताओं या कभी उनकी लेखन कला पर लोगों ने आलोचनात्मक लेख लिखे हैं। यहाँ उनकी कविताओं को कालक्रमानुसार समझने की कोशिश की जाएगी।

जनकवि, जनता के कवि, जनपक्षधर कवि, विद्रोही कवि, प्रगतिशील कवि, प्राकृतिक सौन्दर्यबोध के कवि, प्रतिबद्ध कवि आदि कई नामों से जाने वाले बाबा नागार्जुन कई भाषाओं में अपने विचारों की अभिव्यक्ति करते थे। काव्य के क्षेत्र में भी बाबा ने हिन्दी के अतिरिक्त संस्कृत, मैथिली और बंगला भाषाओं में अपनी कलम चलाई। बाबा नागार्जुन ने सैकड़ों की संख्या में कविताएँ लिखीं जो कि तेरह काव्य संग्रहों के रुप में प्रकाशित हुई और नागार्जुन रचनावाली के दो खण्डों में संग्रहीत है। हिन्दी में लिखी उनकी पहली कविता के विषय में शोभाकान्त जी ने रचनावली के पहले खण्ड के परिचय में लिखा है- नार्गाजुन की प्रथम प्रकाशित रचना १९२९ ई. की है। वह रचना है एक मैथिली कविता, जो मिथिला (लहेरियासराय, दरभंगा) नामक पत्रिका में छपी थी। 'राम के प्रति' उनकी पहली हिन्दी कविता हैं, जो १९३४ ई. में लाहौर से निकलने वाले साप्ताहिक 'विश्वबन्धु' में छपी। हम इस हिन्दी कविता के खोजने में अब तक सफल नही हुए हैं। प्रथम प्रकाशित कविता बुकलेट 'बूढ़वर' और 'विलाप' १९२४ ई. में छपी, वह भी मैथिली में। महात्मा गाँधी की हत्या पर चार हिन्दी कविताओं की एक बुकलेट 'शापथ' नाम से उन्होंने प्रकाशित करायी १९४८ ई. में।"[१] नागार्जुन की प्राप्त कविताओं के अनुसार 'निर्वासित' उनकी सबसे पुरानी प्रकाशित कविता है। यह कविता जून १९३६ में विशाल भारत में प्रकाशित हुई थी। सन् १९३८ में 'सतरंगे पंखोवाली' काव्य संग्रह में प्रकाशित 'कालिदास' कविता नागार्जुन की प्रसिद्ध कविताओं में से एक है।

'बादल को घिरते देखा है' अक्टूबर १९४० में सरस्वती पत्रिका में प्रकाशित हुई थी। इस में नागार्जुन ने प्रकृति के मनोरम दृश्यों का सुन्दर चित्रण किया है। उन्होंने बादलों के 'छोटे-छोटे' मोती जैसे कणों को धरती रूपी 'स्वर्णिम कमलों पर गिरते देखा है' जिससे जीवन का निर्माण होता है। ऐसे बादल की बूंदे जो जीवन प्रदान करने वाला अमृत हैं। नागार्जुन ने

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

उसकी महत्ता का सुन्दर रूप पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया है। उनके मन में प्रकृति तथा इसके हर एक अंश के प्रति प्रेम भावना विद्यमान है और यही प्रेम कविता का रुप ग्रहण किए हुए है। परमानन्द श्रीवास्तव ने उनकी इस कविता को 'मेघ का सफरनामा' कहा है।[२] 'कालिदास, 'जान भर रहे है जंगल में', 'सफेद बादल', 'वसंत की अगवानी' इसी तरह की प्राकृतिक सौन्दर्यबोध पर आधारित कविताएँ हैं। आगे नागार्जुन की कविताओं में काफी कुछ बदलाव देखने को मिलता है। उनकी कविताओं के विषय में परिवर्तन के साथ ही उनकी भाषा में भी अक्खड़पन आता चला गया।

नागार्जुन की कविता जीवन्तता से भरी कविता है, इसमें कहीं भी बनावटीपन नजर नहीं आता है। उनकी कविता अनुभूति की कविता है, उन्होंने जो कुछ भी अपने जीवन में अनुभव किया, उसे ही शब्दों के माध्यम से अपनी रचनाओं में उतारा है। उनका ज्ञान किताबों से प्राप्त ज्ञान न होकर अपने जीवनानुभव से प्राप्त किया हुआ है। उनकी काव्य की दुनिया ऐसी दुनिया है जिसमें 'हरिजन-गाथा' का एक नयी दुनिया का सपना देखने वाला बच्चा है तो दूसरी ओर अपनी छोटी सी बेटी के लिए गुलाबी चूड़िया ले जाने वाला पिता। बाबा नागार्जुन की कविता हमें किसी सपनों की दुनिया में नहीं ले जाती, अलबत्ता हमें यथार्थ से रु-ब-रु करवाती है। स्वतंत्रता आन्दोलन में देश के लोगों द्वारा दिए गए बलिदान की बात हो या गरीब जनता के आत्मसंघर्ष की गाथा, नागार्जुन ने बड़े कम और सटीक शब्दों में उस स्थिति का दृश्य प्रस्तुत किया है।

आधुनिक हिन्दी साहित्य के इतिहास में ३० के दशक से पहले अधिकांश कविताएँ प्राकृतिक सौंदर्य और रहस्यवादी प्रवृत्तियों से भरी पड़ी होती थीं। कहीं-कहीं देश भक्ति के गीत मिलते थे परन्तु ज्यादातर कवि अपने जीवन से निराश या काल्पनिक विचारों का वर्णन अपने गीतों में करते थे। लेकिन उसके बाद ऐसा दौर आया जहाँ कवि अपनी युगीन सामाजिक व्यवस्था पर लिख रहा था, और दुर्व्यवस्था पर आवाज उठा रहा था। नागार्जुन ऐसे कवियों में ही गिने जाते हैं, जिन्होंने समाज-व्यवस्था अर्थात् सामाजिक यथार्थ पर न केवल लिखा बल्कि जनसभाओं में अपनी कविताओं का पाठ भी किया। जिस समय नागार्जुन लिख रहे थे वह समय नागार्जुन के स्वयं के जीवन तथा देश के इतिहास का संघर्षपूर्ण समय था। एक तरफ तो स्वयं कवि यायावरी जीवन व्यतीत कर रहा था वहीं दूसरी ओर उस पर परिवार की जिम्मेदारी भी थी। उन्होंने जीवन भर नौकरी नहीं की, उनका कहना था कि यदि मैं नौकरी करुंगा तो लोगों को व्यंग्य का मजा कौन दिलाएगा। इस तरह वे जीवन भर लेखन कार्य से ही जुड़े रहे। पर यह कार्य इतना आसान भी नहीं था। क्योंकि इसमें आमदनी का कोई ठिकाना नहीं था। कई-कई रोज हो जाते थे, जब जेब में पैसा नहीं होता था। ऐसे मुश्किल दिनों के विषय में भी उन्होंने कविता लिखी जो सन् १९३७ में 'बेकार' शीर्षक से प्रकाशित हुई। वे लिखते हैं- ''कभी घुमक्कड़ यार-दोस्त से मिलकर कभी अकेले एक-एक दाने के खातिर सौ- पापड़ बेले''[३] ऐसे संकट के समय नागार्जुन अपने घर-परिवार को याद करते हुए नजर आते हैं। ''घोर निर्जन में परिस्थिति ने दिया है डाल। याद आता है तुम्हारा सिंदूर तिलकित भाल। याद आता मुझे अपना वह 'तरउनी ग्राम।'[४]

जनकवि कहे जाने वाले नागार्जुन की कविताओं का केन्द्र देश और देश की जनता है। विशेष रुप से कविताओं में उनकी राजनैतिक विचारधारा स्पष्ट हो जाती है। देश में घट रही तमाम घटनाओं पर उनकी पैनी निगाह रहती है। १९३० के दशक का किसान आन्दोलन हो या १९६७ का नक्सलबाड़ी आन्दोलन या फिर तेलंगाना आन्दोलन, उन्होंने सभी राजनीतिक प्रक्रियाओं का न केवल समर्थन किया, बल्कि उन आन्दोलनों में वह स्वंय शामिल भी हुए। और यही नहीं उन्होंने उन पर शानदार कविताएँ भी लिखीं। जमींदारों के खिलाफ एकजुट खड़े भूमिहीन खेतिहरों का साथ देते हुए नागार्जुन गाते हैं- ''खेत हमारे, भूमि हमारी, सारा देश हमारा है। इसीलिए तो हमको इसका चप्पा-चप्पा प्यारा है। जमींदार हैं बदहवास, हमने उनको ललकारा है। जिसका जाँगर उसकी धरती, यही एक बस नारा है।''[५] बाबा नागार्जुन देश में चल रही हर तरह की राजनीतिक गतिविधियाँ पर नजर रखते थे तभी तो श्रीलंका में प्रवास के समय जब उनको पता चला कि राहुल

Sarayu Trust Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

सांकृत्यायन जी और स्वामी सहजानंद के नेतृत्व में १९३८ में ऐतिहासिक किसान आन्दोलन लड़ा जा रहा है तो तुरंत ही वे भारत लौटे और इस आन्दोलन का साथ दिया और जेल भी गए।

देश की आजादी से पहले से कविताएँ लिख रहे नागार्जुन का मुख्य उददेश्य देश में लोगों के बीच समानता लाना था (उच्च वर्ग और निम्न वर्ग के बीच जो खाई बढ़ती जा रही थी, उसे मिटाना था) और शोषण मुक्त भारत बनाना था। मगर ऐसा हुआ नहीं। पहले तो अंग्रेजों के खिलाफ जनता लड़ रही थी और बाद में अपने ही भ्रष्ट राजनेताओं से अपने हक की लड़ाई लड़नी पड़ी। यह सबसे कठिन चुनौती बन गई शोषण ग्रस्त जनता के लिए। देश की राजनीति में हलचल हो रही थी। सन १९७२ में ही 'संपूर्ण क्रांति' का बिगुल बजता है। आम जनता इस क्रांति में कूद पड़ती है। बाबा नागार्जुन भी इस आन्दोलन में समग्रता में अपना योगदान देते हैं, लेकिन जल्दी ही सभी लोगों का भ्रम टूट जाता है इस क्रांति से। यह एक असफल क्रांति बन कर रह जाती है जिससे सभी को क्रांति की जगह भ्रांति मिलती है। नागार्जुन इन आन्दोलन पर व्यंग्य करते हुए कहते हैं- ''पूर्ण क्रांति का चक्कर था। पूर्ण भ्रांति का चक्कर था।''[६] सन १९७५ में प्रकाशित 'खिचड़ी विप्लव देखा हमने' इस क्रांति पर आधारित व्यंग्यात्मक लहजे में लिखी गई कविता है। १९५० का पूरा दशक राजनैतिक तौर पर पूरी तरह से निराशा में डूबा था। जनता जो हमेशा से संघर्ष कर रही थी ताकि उनकी स्थिति में सुधार आए, पर यह सपना बस सपनों में ही रह गया। उसके हाथ कुछ न आया। जैसी स्थिति उसकी अंग्रेजों के शासन काल में थी वही अब आजादी के बाद भी थी। कुछ महत्वाकांक्षी राजनेता सत्ता की ताकत पाकर सब कुछ भूल गए थे। इसी शून्यता की स्थिति पर तीखा व्यंग्य करते हुए बाबा नागार्जुन ने 'बाकी बच गया अंडा' जैसी प्रसिद्ध कविता लिखी। वह कहते हैं कि देश को बड़ी मुश्किलों के बाद आजादी मिल पाई है और यहं आजादी देश की संघर्षरत जनता की बदौलत ही मिली है परन्तु आजादी के बाद भी अपने हक के लिए लड़ने वालो को 'जेल' ही जाना पड़ता है, उनके हाथ कुछ नहीं लगता है। कुछ लोग मारे गए, कुछ लोगों को देश से निकाल दिया गया और कुछ लोगों को सत्ता का सुख प्राप्त हुआ परन्तु आम जनता वहीं की वहीं रही। उसके पास 'बाकी बच गया अंडा'। नागार्जुन ने इस कविता के माध्यम से देश की राजनीतिक विसंगतियों पर गहरी चोट की है। किस तरह पूरी राजनीतिक व्यवस्था शून्यता का शिकार हो गयी है इस ओर सीधा व्यंग्य किया है कवि ने।

नागार्जुन ने सर्वाधिक राजनीतिक कविताएँ लिखी हैं, जिसमें 'मंत्र' कविता, तीनों बंदर बापू के', 'आओ रानी हम ढोयेंगे पालकी', 'अब तो बंद करो हे देवी' जैसी अनगिनत कविताएँ हैं। नागार्जुन से कोई भी घटना पीछे नहीं छूटती है। राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय हर घटनापर उनकी पैनी नजर रहती है। नागार्जुन मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित थे। श्रीलंका में रहते हुए ही उन्होनें बौद्ध दर्शनकी दीक्षा ली। साथ ही मार्क्सवाद की ओर उन्मुख हुए परन्तु सन् १९६२ में जब चीन ने भारत पर हमला किया तब उन्होंने कम्युनिस्ट पार्टी की सदस्यता को त्याग दिया और चीन द्वारा भारत पर किए हमले का पुरजोर विरोध किया। उनकी कविता पुत्र हूँ भारत माता का और कुछ नहीं इसी पृष्ठभूमि पर लिखी गई है, जहाँ वे घोषित रुप से कहते हैं- कल था वामपंथी कम्युनिस्ट। आज हूँ कम्युनिस्ट दक्षिणपंथी। माओ-शाओ चाओ। कल तुम साथी थे। लगते थे सहज-सहोदर। आज तुम शत्रु हो। जाने किस घमंड ने फुला दिया है गाल! टपकाते हो राल! आओ, आओ। और इधर आओ! हम तुम्हें चखाएँगे मजा...।''[७] नागार्जुन के लिए देश सेबढ़कर कुछ नहीं है। जिस विचारधारा का वे खुलेआम समर्थन करते थे, देशप्रेम के आगे उसे भी न्यौछावर कर दिया। जब-जब देश में किसी भी तरह की समस्या आती है नागार्जुन कलम को अपना हथियार बनाकर उससे लड़ते हैं। सन १९७७ में जब तत्कालीन प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गाँधी ने देश में 'इमरजेंसी' घोषित की, उस गंभीर स्थिति पर भी तीखा व्यंग्य करते हुए नागार्जुन ने कविता लिखी- इंदू जी इंदूजी क्या हुआ आपको? बेटे को तार दिया, बोर दिया बाप को।''[८] ऐसा तीखा व्यंग्य केवल नागार्जुन ही कर सकते हैं। उस समय के

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

कवियों में नागार्जुन ही ऐसे कवि हैं जो अपनी बातें कहने के लिए न किसी से डरते थे और न उन्हें किसी बात की चिंता थी। यह तो कुछ नहीं, अगर उन्हें इसके बदले जेल भी जाना पड़ता तो भी वह अपनी बात कहने से नहीं चूकते थे। परमानन्द श्रीवास्तव ने अपने एक लेख में लिखा है- राजनीतिक व्यंग्य नागार्जुन की असंख्य कविताओं में है। तीस साल के बाद कविता में तेवर यह है- शासक बदले, झंडा बदला, तीस साल के बाद। नेहरु-शास्त्री और इन्दिरा हमें रहेंगे याद। जनता बदली, नेता बदले, तीस साल के बाद। .... प्रभुता की पीनक में नेहरु पुत्री-थी बदहोश। जन गण मन में दबा पड़ा था बहुत-बहुत आक्रोश।''[९] वे उस राजनीति पर व्यंग्य करते हैं जो समाज को अखरती हो, जो जनता को परेशान करती हो। खगेन्द्र ठाकुर कहते है- नागार्जुन का व्यंग्य बहुमुखी है। समाज का शायद ही कोई पक्ष उनकी दृष्टि से बच पाया हो। सामाजिक विषमता, आर्थिक शोषण और भ्रष्टाचार आदि पर उनका प्रहार उनकी प्रखर सामाजिक चेतना का परिचायक है। इस प्रखर सामाजिक चेतना का प्रवेश कविता में कवि की वस्तुवादी दृष्टि के माध्यम से होता है क्योंकि वस्तुवादी दृष्टि उस यथार्थ को पकड़ती है, जो हमारे अन्तर्जगत से बाहर है। उनके व्यंग्य की तीव्रता का रहस्य यही यथार्थ है।''[१०]

जनता के कवि 'नागार्जुन' गंभीर मानवीय संवेदनाओं के कवि हैं। वे स्वयं सामान्य घर से संबंध रखते थे और बचपन से ही उनका जीवन संघर्षो से भरा था। उनकी कविताओं में इस संघर्षरत जीवन की झलक देखने को मिलती है। उन्होंने सामान्य जनता की आभा को पहचाना और उसको तवज्जो भी दिया। हर वह चीज जो जनता बनाती है, सही साहित्यकार का दायित्व है कि वह उसकी मेहनत को समझे। इस नये आजाद भारत के निर्माण में उस संपूर्ण भारतीय जनता का पूरा-पूरा सहयोग है जिसके चलते भारत आज लोकतांत्रिक देश बन पाया है। इसी बात को नागार्जुन अपनी कविता मेरी भी आभा है इसमें वे कहते हैं- नये गगन में नया सूर्य जो चमक रहा है। यह विशाल भूखंड आज जो दमक रहा है। मेरी भी आभा है इसमें''[११] नागार्जुन आम जनता के अस्तित्व को बहुत महत्व देते हैं। उनकी निगाह में देश और जनता के लिए एक ही दर्जा है। नागार्जुन राष्ट्र और जनता में कोई फर्क नहीं मानते, इसलिए राष्ट्र की सही स्वंतत्रता का अर्थ है जनता की स्वतंत्रता-पूँजीवादी शोषण दमन से। राष्ट्र की शक्ति का मूल श्रोत है, जनता की शक्ति। आज की राष्ट्रीयता का यही अर्थ है।''[१२] शोषण की मार झेल रहा सर्वहारा वर्ग सदा से अपनी स्थिति पर रोता-विलखता आया है पर उसकी आवाज किसी के कानों तक नहीं पहुँच पाई है। उसकी ताकत का हमेशा से शासक वर्ग लाभ लेता आया है। पूँजीवादियों ने इस गरीब जनता का खून पीकर ही अपने को ताकतवर बनाया है। अंग्रेजों ने भी गरीबों की बेबस मजबूरी से ही अपना देश चमकाया था और अब भी बस चेहरा बदला है शासक वर्ग का। नागार्जुन उन गरीब बेसहारा मजदूरों-किसानों की आवाज हैं, जो सरकार से कहती है- प्यासी पथराई उदास आँखे। थकी, बे-आसरा, निराश आँखे...। कोई भी तो अपना रुख फेरे उसकी ओर। कोई भी तो उठाए अपनी पलकों का पर्दा। बीसियों आए। बीसियों गुजरे। कहाँ किसी ने देखा बेचारे की तरफ।''[१३] उन्होंने देश में फैली असमानता का विरोध किया। आज जो देश की स्थिति है जहाँ अमीर पूँजीपति लगातार तरक्की करते जा रहे हैं वही गरीब आम जनता की हालत में और गिरावट आ रही है। लोग भूख से मर रहे हैं। आज के समय में नागार्जुन की कविताएँ बहुत प्रांसगिक हो जाती हैं। खगेन्द्र ठाकुर ने इनकी कविताओं के लिए कहा है- शोषित पीड़ित जनता के मुक्ति-संघर्ष की बेलौस और तीखी अभिव्यक्ति की सांस्कृतिक संज्ञा है नागार्जुन की कविता।''[१४] नागार्जुन ने अपनी कविताओं में जीवन के हर पक्ष को बखूबी उतारा है। चाहे वह एक बाप का अपनी बेटी के प्रति स्नेह हो या अपनी पत्नी के प्रति प्रेम, जीवन के इस व्यक्तिगत पक्ष को भी नागार्जुन ने बड़ी सुन्दरता से अभिव्यक्त किया है। एक बस का चालक किस तरह अपनी छोटी सी बेटी के वात्सल्य प्रेम में उसके लिए गुलाबी चूड़िया ले आता है। इसका सजीव चित्रण केवल और केवल नागार्जुन ही कर सकते हैं। जीवन के इस सूक्ष्म पहलू पर नागार्जुन ही लिख सकते हैं। एक पिता के प्यार का विस्तार इतना है कि अपने

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

काम में व्यस्त होते हुए भी उसके मन में अपनी बेटी की इच्छाओं का आदर है जिसके लिए वह गुलाबी चूड़िया लेता है और उसे अपनी आँखों के सामने रखकर अपनी बेटी को याद करता है। नागार्जुन की कविताओं को पढ़कर ऐसा प्रतीत नहीं होता है कि वे कविता बनाते हैं बल्कि उनकी कविताओं में एक सच्चाई है, एक सादगी है जो उन्हें महान कवि बनाती है। उनकी कविताएँ ही उनकी संवेदनाएँ हैं। उनकी रचनाएँ ही नागार्जुन को नागार्जुन बनाती है।

नागार्जुन ग्राम्य जीवन के सच्चे प्रतिनिधि कवि हैं। उनके जीवन में गाँव, गाँव के किसान मजदूर और गाँव की मिट्टी से गहरा सम्बन्ध दिखता है। उनका बचपन गाँव में ही बीता था और इसी कारण वे निम्न-वर्गीय लोगों के जीवन को अच्छी तरह समझते थे, जो कि बहुत कठिन परिस्थिति में हर दिन एक नयी उम्मीद के साथ जीते हैं। उनके समक्ष कभी पूँजीपति वर्ग द्वारा खड़ी की गई परेशानी होती है तो कभी प्रकृति द्वारा। पर सभी स्थितियों में मजदूर वर्ग हार नहीं मानता, यही उसका जीवन मूल्य है। बाढ़, सूखा, अकाल जैसी प्राकृतिक आपदा की मार जब भी इन पर पड़ती, उसका दर्द बाबा अवश्य समझते और उससे अपने को जोड़ते। उनकी कविता अकाल और उसके बाद इसका सुन्दर उदाहरण है। उन्होंने केवल आठ पंक्तियों में अकाल के दिनों में गरीब जनता के घरों की स्थिति का चित्र प्रस्तुत किया है। अकाल ग्रस्त घर में लोगों की क्या हालत है इसे सीधे-सीधे शब्दों में बताने की बजाय कवि ने घर के आस-पास रहने वाले जीव-जन्तुओं के प्रतीकों के माध्यम से व्याख्यायित किया है। 'कई दिनों तक चूल्हा रोया, चक्की रही उदास। कई दिनों तक कानी कुतिया, सोई उनके पास।''[३३] यहाँ कवि ने चूल्हा और चक्की की दशा से यह साफ कर दिया है कि जहाँ हमेशा आग की की तेज लपटें रहती हैं वह अब ठंडी और शांत पड़ी हुई है और वह चक्की जिसमें गाँव की महिलाएँ हमेशा दाल-गेहूँ दरती हैं वह भी उदास-मायूस बैठी है अर्थात घर में अन्न का एक टुकड़ा तक नहीं है। ऐसे में लोगों की क्या स्थिति होगी यह संवेदनशील व्यक्ति ही समझ सकता है। नागार्जुन ने कविता के प्रथम अंश में अकाल की भयानक त्रासदी का चित्रण किया है जिसमें मनुष्य अन्न के अभाव में जिन्दगी से जूझता है। परन्तु कवि की दृष्टि यहीं तक सीमित नहीं रहती हैं, वह इस त्रासद स्थिति के बाद उन सुखद पलों को भी देखते हैं जब लोगों के घरों में विकट परिस्थितियों के बाद आशा की किरण नजर आती है। घर में अन्न के दाने आते हैं और घर भर में खुशियों की लहर दौड़ जाती है। अकाल और उसके बाद, कविता में एक भी शब्द ऐसा नहीं हैं जो जन सामान्य के शब्दों की दुनिया से जुड़ा न हो और शब्दों की लय अत्यन्त सुगम जानी पहचानी है, क्योंकि नागार्जुन साधारण मनुष्य के जीवन के बारे में, उन्हीं की भाषा में, उन्हीं के जीवन प्रसंगों का उपयोग करके कविता का स्थापत्य रच रहे हैं।''[१५] नागार्जुन की यही सबसे बड़ी खासियत है कि वे लोक जीवन को, उसकी समग्र परिस्थितियों के साथ बड़े ही सरल शब्दों (लोक प्रचलित शब्दों) में प्रस्तुत करते हैं। यही उनकी ताकत भी है।

नागार्जुन की 'हरिजन गाथा' में समाज के अन्दर जाति को लेकर वर्षो से जो भेद हैं, और इस कारण निम्न वर्ग, दलित पर जो अत्याचार होता आ रहा हैं उसी पर आधारित कथा है यह हरिजनों की गाथा- हरिजन गाथा। कविता का पहला अंश यह बताता है कि उच्च जाति वाले किस प्रकार दलितों के घरों को उजाड़ देते हैं, उनके नन्हें शिशुओं को जन्म लेते ही जिन्दा झोंक दिया जाता है अग्निकुंड में, ताकि वे अपने हक और अधिकारों के लिए न लड़ सके, सदा के लिए बंधुआ-मजदूरी करते रहे। नागार्जुन कहते हैं

''और, निरंतर कई दिनों तक
चलती रही हों तैयारियाँ सरेआम
(किरासिन के कनस्तर, मोटे-मोटे लक्कड़
उपलों के ढेर, सूखी घास-फूस के पूले

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

जुटाए गए हो उल्लासपूर्वक)
और, एक विराट चिताकुंड के लिए
खोदा गया हो गडढा हँस-हँसकर
और, ऊँची जातियों वाली वो समूची आबादी
आ गई हो होलीवाले 'सुपर मौज' के मूड में
और, इस तरह जिंदा झोंक दिए गए हो
तेरह के तेरह अभागे मनुपुत्र
सौ-सौ भाग्यवान मनुपुत्रों द्वारा
ऐसा तो कभी नहीं हुआ था।''[१६]

नागार्जुन ने कविता में केवल इतनी ही बात कर नहीं छोड़ दिया कि सवर्ण जाति वाले दलितों पर कितना अत्याचार करते हैं बल्कि उन्होंने भावी-सम्भावनाओं की ओर भी संकेत दिया है कि इन भूमिहीन मजदूरों के घर पैदा होने वाले कल के युवा उनपर हुई हिंसा का बदला भी लेगें। इसके लिए उन्हें अपने को काफी तैयार करना होगा तभी वे अपने अधिकारों के लिए लड़ सकते हैं। नागार्जुन समाज में वर्ग-संघर्ष की बात तो करते ही हैं पर पूरे देश में इस समस्या से भी बढ़कर एक और समस्या है जो सदियों के संताप की तरह निरंतर कई पीढ़ियों से चली आ रही है, वह है वर्ण-व्यवस्था का संताप। जाति का भेद हमेशा से ही समाज को कई भागों में बांटता आ रहा है। उच्च जाति के ठेकेदार अपने आलसीपन की खातिर गरीबों से काम करवाते हैं और उन्हें तुच्छ समझते हैं। भारत के इतिहास में इस वर्ण-व्यवस्था के चलते कभी एकता ही नहीं रही जिसके कारण यहाँ हमेशा आपसी मतभेद और विदेशी आक्रमण और उनकी ही सत्ता चली। नागार्जुन ने इस गंभीर विषय पर काव्यात्मक रुप में हरिजनों की कथा ही सामने रख दी। उन्होंने इस गंभीर समस्या के साथ अपने को भी जोड़ा है और ऐलान करते हुए कहा है- प्रतिबद्ध हूँ। सम्बद्ध हूँ। आबद्ध हूँ। उनकी कविता प्रतिबद्ध हूँ उनके सर्वहारा वर्ग के साथ प्रतिबद्धता के पीछे उनकी विचारधाराअहम भूमिका अदा करती है और वह है-मार्क्सवादी विचारधारा। मार्क्सवाद वर्ग-संघर्ष की प्रेरणा देता है, यही कारण है कि वे हर उस संघर्ष का जो-समाज में समानता लाता है, उसके साथ पूरी ईमानदारी के साथ खड़े दिखाई देते हैं। उन्हें कोई डिगा नहीं सकता क्योंकि उन्हें किसी का डर नहीं है। न ही जेल जाने से और न ही शासन की बंदूक से। सत्ता की ताकत मिलने पर सरकार भी अंधी हो जाती है। उसे भी सही गलत में फर्क नहीं दिखता। सत्ता के लिए ही वे लोगों को धर्म और जाति के नाम पर आपस में लड़वाते हैं। बेबस जनता उनकी अंगुलियों पर नाचती रहती हैं। इसलिए नागार्जुन कहते हैं कि खड़ी हो गई, चाँपकर, कंकालों की हूक। नभ में विपुल विराट-सी, शासन की बंदूक''[१९] नागार्जुन की भाषा में भक्तिकालीन संत कवि कबीर दास की तरह अक्खड़पन हैं, जो उन्हें अपनी बात कहने का साहस देता है। नागार्जुन देश में 'आपातकाल' की स्थिति में प्रधानमंत्री इंदिरा गाँधी के शासन को चुनौती देते हुए कहते हैं कि इंदूजी, इंदूजी, क्या हुआ आपको ?''[२०] इसी तरह से 'तीनों बंदर बापूके, 'परेशान हैं कांग्रेसी', 'आओ रानी, हम ढोएंगे पालकी 'जैसी कई सारी कविताएँ हैं जिनमें वह सत्ता पर बैठी ताकत को ललकारते हैं बिना यह सोचे कि उनपर मुकदमा किया जा सकता है। ऐसे व्यंग्यकार है कवि नागार्जुन। उनकी जीवन शैली में ही फक्कड़पन है। कबीर की तरह ही उनमें समाज को बदलने की जो उत्कंठा थी वह उन्हें सबसे अलग बनाती है। यायावरी का जीवन जीने वाले नागार्जुन अपनी 'इन घुच्ची आँखो से समाज का एक्सरे कर उसके गठन में जो गड़बड़ी है उसे देख लेते हैं और ठीक करने का अंतहीन प्रयास करते रहते हैं। सभी मायनों में नागार्जुन केवल एक महान कवि या रचनाकार नहीं है बल्कि समाज सुधारक हैं जो निरंतर अपने समाज को, अपने देश को

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

और पूरे विश्व की समाज-संरचना को सुधारना चाहते है उन्हें ठीक करना चाहते हैं।

प्रतिबद्धता उनके जीवन और साहित्य का सिद्धांत था और जनता को भी प्रतिबद्धता के साथ जीने की सीख देने वाले कवि थे, नागार्जुन। देश-दुनिया में हो रही हर घटना पर अपनी पैनी दृष्टी रखने वाले कवि उन घटनाओं पर न केवल टिप्पणी करते हैं बल्कि उनकी कड़ी आलोचना भी करते हैं। उनकी यही प्रतिक्रिया उन्हें जागरुक नागरिक और कालजयी कलाकार बनाती है। आज उनकी कविता, उनका सम्पूर्ण साहित्य ही हमारे लिए एक उम्मीद का दीपक है, जिसे देखकर हमें संघर्ष करने की शक्ति मिलती है। आज जब अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता संकट में है तब नागार्जुन की कविता हमें चुनौती की तरह लेने की प्रेरणा देती है।

* यह शीर्षक कवि विद्रोही की कविता से लिया गया है।

संन्दर्भ ग्रन्थ

1.(सं.) शोभाकान्त, नागार्जुन रचनावली, खण्ड 1, राजकमल प्रकाशन, 2011, पृ. 6

2. परमानन्द श्रीवास्तव, नागार्जुन : मूल्यांकन-पुर्नमूल्यांकन, अभिव्यिक्ति प्रकाशन, 2006, पृ. 130

3. (सं.) शोभाकान्त, नागार्जुन रचनावली, खण्ड 1, राजकमल प्रकाशन, 2011, पृ. 21

4. वही, पृ. 41

5. वही, पृ. 100

6. (सं.) शोभाकान्त, नागार्जुन रचनावली, खण्ड 2, राजकमल प्रकाशन, 2011, पृ. 96

7. (सं.) शोभाकान्त, नागार्जुन रचनावली, खण्ड 1, राजकमल प्रकाशन, 2011, पृ. 373

8. (सं.) शोभाकान्त, नागार्जुन रचनावली, खण्ड 2, राजकमल प्रकाशन, 2011, पृ. 81

9. (सं.) अरुण कमल, आलोचना, अंक 43, पृ. 75

10. परमानन्द श्रीवास्तव, नागार्जुन : मूल्यांकन-पुर्नमूल्यांकन, अभिव्यिक्ति प्रकाशन, 2006, पृ. 15

11. (सं.) शोभाकान्त, नागार्जुन रचनावली, खण्ड 1, राजकमल प्रकाशन, 2011, पृ. 334

12. परमानन्द श्रीवास्तव, नागार्जुन : मूल्यांकन-पुर्नमूल्यांकन, अभिव्यिक्ति प्रकाशन, 2006, पृ. 11

13. (सं.) शोभाकान्त, नागार्जुन रचनावली, खण्ड 1, राजकमल प्रकाशन, 2011, पृ. 326

14. परमानन्द श्रीवास्तव, नागार्जुन : मूल्यांकन-पुर्नमूल्यांकन, अभिव्यिक्ति प्रकाशन, 2006, पृ. 9

15. (सं.) शोभाकान्त, नागार्जुन रचनावली, खण्ड 1, राजकमल प्रकाशन, 2011, पृ. 226

16. परमानन्द श्रीवास्तव, नागार्जुन : मूल्यांकन-पुर्नमूल्यांकन, अभिव्यिक्ति प्रकाशन, 2006, पृ. 136

17. (सं.) शोभाकान्त, नागार्जुन रचनावली, खण्ड 2, राजकमल प्रकाशन, 2011, पृ. 177-178

18. वही, पृ. 130

19. (सं.) शोभाकान्त, नागार्जुन रचनावली, खण्ड 1, राजकमल प्रकाशन, 2011, पृ. 450

20. (सं.) शोभाकान्त, नागार्जुन रचनावली, खण्ड 2, राजकमल प्रकाशन, 2011, पृ. 81

शोधार्थी, हिन्दी विभाग

राजीव गाँधी विश्वविद्यालय, रोनो हिल्स, दोइमुख

ईटानगर, अरुणाचल प्रदेश-791112

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

आदी लोक गीतों आदी समाज- संस्कृति का चित्रण

आईनाम ईरिंग

अरुणाचल प्रदेश के लगभग सभी जनजातियों में सुव्यवस्थित लोक साहित्य उपलब्ध है। इन जनजातियों का अपना सामाजिक-सांस्कृतिक ढाँचा है जिनकी झलक उनके लोक साहित्य में मिलती है। लोक-साहित्य दो शब्दों के मेल से बना है, जिसका सामान्य अर्थ होगा लोक द्वारा साहित्य। लोक शब्द को लेकर बहुत सारे विद्वानों में विवाद रहा है। हिंदी में लोक शब्द को अंग्रेजी शब्द फोक का रुपांतर माना है। अंग्रेजी में फोक शव्द का प्रयोग अशिक्षित, अर्द्धशिक्षित, असभ्य, अर्द्धसभ्य वर्ग के लिए किया जाता है। लेकिन अगर देखा जाय तो लोक शब्द का सम्बंध उन आदिम मनोवृत्तियों से है जिसकी शुरुआत अज्ञात है। अत: लोक शब्द का अर्थ अशिक्षित, अर्धशिक्षित, असभ्य, अर्धसभ्य वर्ग मानना सही नहीं होगा। असल में इसका प्रयोग जनसमूह या जनता जनार्दन के लिए किया जाना चाहिए है। मुख्यत: वे साज-सज्जा,ऊपरी दिखावा, सभ्यता एवं शिक्षा आदि से दूर आदिम मनोवृत्तियों से युक्त माने जाते है। इस सम्बंध में डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा दिये गए लोक के अर्थ को स्वीकारा जा सकता है-

''लोक शब्द का अर्थ जनपद या ग्राम्य नहीं है बल्कि नगरों और ग्रामों में फैली हुई वह समूची जनता है जिसके व्यवहारिक ज्ञान का आधार पोथियाँ नहीं है।''

लोकगीत लोक साहित्य का एक महत्वपूर्ण विधा है। लोक गीतों को लोक जीवन के सुख और दुख से उत्पन्न माना जाता है। समय के साथ अधिक सम्वेदनशील हुआ होगा तथा धीरे-धीरे अपने भाव और विचारों को व्यक्त करना सीखा होगा। भाव-विचारों को व्यक्त करने के लिए शारीरिक हाव-भाव के साथ ही भाषा का प्रयोग करना भी आरम्भ किया होगा। भाषा पर पकड़ होने के बाद किसी पीढ़ी ने, किसी व्यक्ति ने, किसी समूह ने या किसी प्रेमी ने किसी योद्धा आदि ने अपने भाव को लयबद्ध कर मधुर गीतों में पिरो दिया होगा। सामान्यत: इसके मूल रचनाकारों का कोई पता नहीं होता है। यह मुख्यत: मौखिक तौर से ही पीढ़ी दर पीढ़ी आगे बढ़ता जाता है।

लोक गीतों और लोक जीवन में बहुत गहरा सम्बंध है। मूलत: यह जन समूह की भावनाएँ हर्ष, विषाद, भय, प्रेम, शोक आदि भावनाओं के ही अनुभव से उत्पन्न माने जाते हैं। ये गीत मुख्यत: मनोरंजन और दिशा निर्देशन करने के लिए गाये जाते हैं जिसमें गायक के अपने भाव निहित होते हैं। किसी एक ने पंक्ति की मौखिक रचना की तो दूसरे ने उसमें एक और पंक्ति जोड़ दी, तीसरे पंक्ति रचकर किसी गीत को आगे बढ़ा दिया होगा। इस प्रकार हम कह सकते है कि इस संशोधित गीतों में अपने समय से सम्बंधित सोच-विचार, मान्यताएँ आदि शामिल होती हैं तो उनके सामाजिक-सांस्कृतिक जमीनी सच्चाई बयान करती है।

लोक गीतों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इनमें अलंकार नहीं, केवल रस होता है। अत: लोक गीतों में लोक संस्कृति का चित्र मिलता है। यह तो सब अनुमान लगाते ही हैं कि लोक गीतों का आरम्भ अपने भाव प्रदर्शन हेतु हुआ था। कभी यह मनोरंजन तो कभी अपने दुखों के भार को प्रकट करने के लिए किया होगा। इसका उदय जैसा भी हुआ हो जिस कारण से भी हुआ हो यह किसी भी समाज के अस्तित्व को बनाये रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। आदी समाज में

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

रोजमर्रा की जिन्दगी को प्रभावित करने वाली-लोक कथाएँ, लोक-गाथा, लोक-गीत, लोक सुभाषित इत्यादि भी उपलब्ध हैं। यहाँ जीवन के हर पहलू में गीत पाये जाते हैं। अनेक प्रकार के गीत जैसे धार्मिक, कृषि संबंधी गीत, प्रेम गीत, जीविका और आखेट संबंधी गीत, पशु-पक्षियों से संबंधित तथा लोरी आदि प्रमुख हैं। मानव हृदय में स्पन्दित होने वाले विविध भाव लोकगीतों के प्रेरणास्रोत हैं। कुछ महत्वपूर्ण आदी लोक गीतों के उदाहरणों दवारा हम आदी जनजाति के सामाजिक एंव सांस्कृतिक विशेषताओं से परिचित हो सकते हैं। आदी लोक गीतों के उदाहरण इस प्रकार है।

शिशु पालन से सम्बन्धित लोकगीत-

आदी जनजाति के लोग कई तरह के लोरी गीत गाते हैं। मुख्यत: लोरियाँ आयाओं दवारा ही गायी जाती हैं। आदी समाज में पति और पत्नी दोनों मिलकर घर और खेतों के काम मिलकर करते है। अत: किसी दम्पति के यहाँ बच्चा होने पर नवजात शिशु की देखभाल तथा दम्पति की मदद हेतु आया की आवश्यकता होती है। घर में अगर शिशु की देख भाल करने लायक कोई घरवाला मौजूद हो तो आया का काम घर वाले ही करते हैं। लेकिन अगर बच्चे के लिए घर में आया मौजूद न हो दम्पति को पड़ोसी या अपने रिस्तेदार के किसी बच्चे को उनके माता-पिता से एक या एक या दो सालों के लिए माँगना होता है। यहाँ यह ध्यान देना जरुरी है कि यह बाल मजदूरी नहीं है। यहां बच्चे से यह कार्य बलपूर्वक नहीं कराया जाता है। शिशु की माता जब कामों में व्यस्त हो तब आया बच्चे को अपने पीठ पर बांधती हैं और शिशु का मन बहलाने के लिए लोरी गाती है। लोरी गीतों के कुछ उदाहरण इस प्रकार है।

1) योयो गागा- योयो गागा मुख्य रुप से आयाओं द्वारा अपने पीठ पर बंधे बच्चेको सुलाने के लिए गाया जाता है। नेबीग अर्थात आया पीठ पर बंधे बच्चे को थपथपाते हुए यह लोरी गाते है। अपने लोरी के माध्यम से वह बच्चे की प्रशंसा करते हैं और कहते है कि जो भी उसको तंग करेगा वह उन्हें छोडेगें। गीत का अंश इस प्रकार है

ओ योयो ओ पेयोलो ओई
ओ योयो गागे ओ गागे ओई
ओ इंके कोइ ओ आपुक मुजीर ओ गयीर दूने ओई
डक्के सो ओ मीमी के ओ लामकू सो ओ केलु सो
ओ आसोपे दाकालाङ का ओई

2) नूनू पीपी-नूनू पीपी नामक यह लोक गीत दरअसल प्रसाविक के कार्य और माता दवारा शिशु के पालन पोषण से सम्बंधित है। इस गीत का आरम्भ पदोंग नाने से सम्बंधित पौराणिक कथा से होता है। आदी मान्यताओं के अनुसार पेदोंग नाने ने ही संसार के सभी जीव जंतुओं को जन्म दिया है। अत: संसार की पहली गर्भवती पेदोंग नाने ही थी। इस लोरी गीत में शिशु के जन्म से लेकर वयस्क हो जाने तक की कथा है। शिशु पालन में शिशु की माँ और दाई या आया के कामों का विस्तार से उल्लेख किया है। इस लोरी गीत में आया का शिशु को अपनी पीठ में बांधते हुए पेदोंग नाने की सुनाना, शिशु के माता दवारा उसे दूध पिलाना, थोड़ा बड़ा होने पर उन्हें भोजन करना सिखाना, शिशु के मन को बहलाने के लिए तोको पत्ता आदि उसके पास रख देना आदि का उल्लेख हुआ है। समय के साथ शिशु बड़ा होता है और शिकार करना, खेती करना सीखता है। गीत के अंतिम भाग में वह हृस्टपुस्ट और व्यस्त व्यक्तित्व वाला जिम्मेदार मनुष्य बन जाता है। इस गीत का भी प्रयोजन बच्चे को शांत करना है। गीत का अंश इस प्रकार है-

गायक	समूह
गे नूनू पीपी योयो गागा ओइ नेन	गे नूनू पीपी योयो गागा ओइ नेने

अरुण प्रभा

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

पेदो नाने के दीरी ए ओइ नेने — गे नूनू पीपी योयो गागा ओइ नेने
दोनी आजी में दीरीए ओइ नेन — गे नूनू पीपी योयो गागा ओइ नेने
तामाक रेयाङ ङल ओइ नेने — गे नूनू पीपी योयो गागा ओइ नेने
नूनू पीपी के योयो ए ओइ नेने — गे नूनू पीपी योयो गागा ओइ नेने
गाग रुप गेदाककू ओइ नेने — गे नूनू पीपी योयो गाग ओइ नेने

3) कुमबाङ पाकको:- कुमबाङ पाक्को उस समय गाते है जब बच्चे जिद करते हैं अत: रोते हैं। यह कभी भी बच्चे के रोने पर गाये है। इस पूरे गीत का सार यह है कि जो बच्चा जिद करता हैं, बड़ो की बात नहीं सुनते है तथा हमेशा रोते रहते है उसे घर के छत पर बैठने वाला शैतान खा लेगा। मूल रूप से यह बच्चों को डराने के लिए गाया जाता है तथा इसमें कोई सच्चाई नहीं है। यह गीत भी आया द्वारा ही गाया जाता है। गीत के अंश इस प्रकार है-

कुमबाङ पाक्को रीरी रीरी
को काबनेम रीरी रीरी
पोगाबोमला रीरी रीरी

आदी द्वारा गाये जाने वाले शिशु पालन सम्बंधी लोक गीत उनके सामाजिक जीवन की झाकी दिखती है। शिशु का अधिकतर समय आया के साथ ही बीतता है। इसलिए आदी लोरी गीतों का गायक या स्रोत मूलत: आया ही होता है। शिशु के खान-पान से लेकर उनका पूरा देख भाल आया ही करती है। बच्चे का आया लड़का भी हो सकता है और लड़की भी। यहीं करण है कि आदी समाज में किसी व्यक्ति के जीवन में उनके अपने आया का बहुत सम्मान और प्रेम होता है।

कृषि सम्बंधित गीत-

आदी समाज कृषि प्रधान समाज है। वे अपनी खाद्य संबंधी आवश्कताओं की पूर्ती खेतों से करते है। चावल और मक्का आदी जनजाति का मुख्य भोजन है। वे कई प्रकार के साग-सब्जियों की खेती करते है। अत: आदी समाज का मुख्य व्यवसाय कृषि है। वे मुख्यत: खेतिहर होते है। उनके अनेक लोक गीतों में कृषि संबंधी गतिविधियों का वर्णन मिलता है। अधिकतर वे स्थानांतरण खेती करता है। उदाहरण के लिए कृषि सम्बंधी लोक प्रिय लोक गीत के अंश प्रस्तुत है। गीत का शीर्षक है नेरो आर्मींग।

गायक	**समूह**
नेरो	नेरो
आमिंग	आमिंग
माया	माया
बोर्यींग	बोर्यींग नेरो आर्मींग माया
हलो	हलो नामे
नेनेम	नेनेम
रीलुंग	रीलुंग
या मे	या मे
बोर्यींग	बोर्यींग रीलुंग या मे माया
हलो	हलो नामे
नेनेम	नेनेम नेनेम

CC-0. Arun Prabha Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

प्रस्तुत गीत में स्थानांतर खेती की पूरी प्रक्रिया का वर्णन हुआ है। इस प्रकार के खेतों के लिए किये जाने वाले जंगल की कटाई सभी गॉव वाले मिलकर करते है। गीत का आरम्भ जंगल साफ करने के निए प्रयोग में आने वाले हथियारों के मरम्मत तथा तैयारियों से होता है। इसके बाद पूरे गॉव वाले मिलकर जंगल की कटाई करते हैं। कुछ समय बाद कटे हुए जंगल को सब मिलकर जलाकर खेती करने योग्य बनाते हैं। फिर अपने-अपने हिस्से के जमीन पर धान आदि फसले रोपते हैं। गीत के अगले भाग में रोपे गये बीजों के अंकुरित होने से लेकर उसके खिलने और फलने तक का बर्णन होता है। फसलों के पकने के बाद चाकू से उसकी कटाई का वर्णन मिलता है। कटाई पूरी होने के बाद गोदाम में हुए धान को लाया जाता है और यहीं गीत समाप्त होता है। आदी समाज एकता में विश्वास रखते है। आदी समाज में अभी भी कई जगहों में स्थानांतरण खेती करने की प्रथा है। सभी गॉव वाले एक ही स्थान में मिलकर खेती करता है। इसका कारण वे यह मानते है कि इस तरह एक जगह, पहाड़ पर एक साथ खेती करने से पूरा जंगल साफ नहीं होगा और इस प्रकार हरियाली भी बनी रहेगी तथा आने वाले सालों के लिए उपजाऊ जमीन भी तैयार रहेगा। इस गीत को नृत्य के साथ भी प्रस्तुत करता है।

व्यवसायिक गीत

खेतिहर होने के अलावा आदी लोग शिकार करना, लोहे के हथियार बनाना, मिट्टी के बर्तन, माला, कंगन, कमरबंध आदि आभूषण बनाने के कार्यो में भी निपुण होते हैं। शिकार करना जीविका चलाने का एक महत्वपूर्ण हिस्सा है। शिकार के लिए धनुष, दाँव आदि हथियार भी वे खुद बनाते हैं। तीर के नोक पर लगाए जाने वाले विष के प्रयोगों का ज्ञान भी उन्हें पहले से था। आदी समाज में लोहारों का महत्वपूर्ण स्थान है। शिकार और कृषि के लिए हथियारों का प्रबंध लोहार ही करता है। किन्तु आदी समाज में वह कोई जाति विशेष नहीं है और यह किसी जाति विशेष का व्यवसाय है। जो भी व्यक्ति यह कार्य करना चाहे कर सकता है। हथियारों के अलावा वे कमरबंध, कंगन, कानों की बाली आदि भी बनाते हैं। पासी कोंगकी एक प्रकार का लोक गीत है जहां दो लोहार नगरों से दाव आदि बनाने हेतु लोहे खरीदने जाते है। गीत का अंश इस प्रकार है-

गायक	**सूत्रधार**
पासि कोगकिओ तेलो	गे नेने जाँगियों तेलो तूरुंग
पासि रीने तेलोक	गे नेने कोयिंग ओतेलो तुलो तुरुंगॉ
पोंदो लेने लांग आल	गे नेने मांतेंग ओ लांग आल तुरुंग
आबो सिनुंग ओ दानपे	गे नेने दोंगकोंग ओ बेलो तुरुंग
उयु दारो बेलो	गे नेने सिकोलो बेलो तुरुंग
इरमीन दोरिलांग काला	गे नेने नितालांग काला तुरुंग
इरतुंग दोरिलांग काला	गे नेने नितालंग काला तुरुंग
देम पासि मीदे तेलो	गे नेने योकमो तेलो तुरुंग
योकतुंग बेलिलांग कुला	गे नेने पूमानलांग कुला तुरुंग
योकपाक बेलोलांग कुला	गे नेने पुमानलांग कुला तुरुंग

इस लोक गीत में दो लोहार पासी नामक तटवर्ती गॉव से नगरों में लोहे की खरीददारी करने जाता है। पहले आवा-गमन के लिए गाड़ियाँ नहीं होती थीं। इस लिए दोनों खरीददारी के बाद वापस गॉव पैदल ही आ रहा होता है। रास्ते में दोनों भोजन हेतु शिकार करते है। वे दोनों सीतिल नामक एक पेड़ पर पेंगू और पेगा नामक चिड़ियाओं का शिकार करते हैं। फिर सियाद नामक नदी से डोपी और ङोयीङ नामक छोटी मछलियाँ भी पकड़ते हैं। रास्ते में दिखे एक मधुमक्खी से मधु भी

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

निकाल कर घर ले आते हैं। क्रय किए गये लोहे से वे दाव, चाकू तलवार, कुल्हाड़ी आदि बनाते हैं। मधुमक्खी की मोम से वे कानों की बाली, कंगन, कमर बंध आदि भी बनाते हैं। तैयार सामानों को वे दोनो फिर तिब्बती बाजारों में ले जाकर बेचते हैं और वहाँ से वे दोनों कई तरह के माला के गुटकें, ऊनी कपड़े खरीद कर प्रसन्न होते हैं और अपने गाँव वापस लौट आते हैं।

इसी प्रकार बिसी काकोल नामक एक गीत आदी लोक गाथाओं से अवतरित बिसी काकोल नामक एक लोहार पर आधारित है। इस प्रकार के गीतों द्वारा वे यह बताता है कि आदी समाज में बहुत पहले से ही शिकार और बने हथियारों का प्रयोग होता आ रहा है। इसी प्रकार ओजोंग तोजोंग माय शिकार पर आधरित एक महत्वपूर्ण लोक गीत है। इस गीत में ओजोग नामक एक युवक पहले शिकार के लिए तीर-कमान तैयार करता है फिर यायिक पोने नामक एक काल्पनिक स्थान में शिकार करने जाता है। वहाँ वह एक जंगली सुअर को मार गिराता है।

स्त्री किसी भी समाज की हो, समाज में उसका स्थान पुरुष के बाद ही आता है। आदी समाज में भी स्त्रियों का महत्व पुरुषों के बाद आता है। आदी समाज पितृसत्तात्मक होता है अत: पुरुषों को जो अधिकार आदी समाज देता है उतना स्त्रियों को मिलता है। पारिवारिक निर्णयों से लेकर सामाजिक निर्णय पुरुष द्वारा ही लिया जाता है। स्त्रियों का महत्व केवल रोजमर्रा के पारिवारिक कामों तक ही सीमित होता है। शादी के बाद लड़की को पति के रहन-सहन, पसंद-नापसंद के साथ अपने आप को व्यवस्थित करना पड़ता है। उदाहरण के लिए रामो लीलो बातियांग नामक प्रसिद्ध लोक गीत को देख सकते हैं। इस गीत में मोमोति नामक एक लड़की है जो बहुत सुंदर है। वह कोई पहाड़न थी। एक दिन वह अपने कुछ सहेलियों के साथ मैदानी इलाकों में अपना स्वनिर्मित कम्बल बेचने जाती है। इसी दौरान नोरा नामक एक लड़का उसके रुप सौंदर्य पर मुग्ध हो जाता है और मोमोति का अपहरण कर देता है। इस प्रकार वह अपने सहेलियों के साथ अपना घर, गॉव वापस नहीं लौट पाती है। समय के मोमोति की वेशभूषा में बदलाव आने लगती है। मोमोति अब लम्बे बाल रखती है। अब वह मैदानी इलाकौ की लड़कियों की तरह गाने और नाचने लगी है। वह अब पहले से ज्यादा निखरने लगी है लेकिन मोमोति को हर पल अपने सगे-सम्बंधियों की याद आती है। इस कारण मोमोति को वे सारे परिवर्तन नहीं भाते हैं। गीत के कुछ अंश इस प्रकार है-

गायक	सूत्रधार
नोरा रामोलिलो बातियांग	नोरा रामोलिलो बातियांग
नोरा सिनुंग अ नोरा	नोरा रामोलिलो बातीयांग
नोरा सिकोंग अ नोरा	नोरा रामोलिलो बातियांग
नोरा सिकोंग बेलो कोरे	कोरे रामोलिलो बातियांग
नोरा बादू अ कोरे	कोरे रामोलिलो बातिंयांग
नोरा रेदसुओं दागअम	दागअम रामेलिलो बातियांग
नोरा सिनुंग अ आरुम	आरुम रामो लिलो बातियांग

इस गीत में गायक ने अपने समय की स्त्रियों की सामाजिक स्थितियो का वर्णन किया है। स्त्रियों का अपहरण किया जाता है, बलपूर्वक उससे विवाह कर लेता है। बलपूर्वक ही सही विवाह के सूत्र में बंधने के बाद स्त्री अपने जीवन के साथ समझौता कर लेती है। स्वयं को अपनी पति रंग में रंगने के बाद भी उसे अपने साथियों, रिस्तेदारों, घर वालों आदि की वहुत याद आती है फिर भी वह किसी से कुछ नहीं कहती है।

स्त्रियों के रोजमर्रा के जीवन से सम्बंधित गीतों में पादाम नान्यीं नामक लोक गीत बहुतलोक प्रिय है। आदी समाज में परिवार की जीविका चलाने में स्त्रियों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। पूरे घरेलू कामों के साथ ही खेती बारी में भी स्त्रियाँ

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

बढ़चढ़ कर योगदान देती हैं। पादाम अ नान्यी नामक लोग गीत में स्त्रियों के दैनिक जीवन का बयान किया गया है। आदी समाज में औरते सुबह प्रातः काल सबसे पहले उठ जाती हैं, उठकर चावल कुटती हैं फिर चूल्हा जलाकर खाना पकाती और सबको परोस भी देती हैं, नदी से पानी लाती हैं, अपने पालतू पशुओं को चारा खिलाती हैं। इन दैनिक कार्यों के अलावा कपास के सूत काटना फिर धागों से कम्बल, लुंगी नूमा गाले, कपड़ा बुनना है, खेतों में हाथ बटाना बच्चों का पालन-पोषण आदि घरेलू काम भी करती हैं। गीत का अंश प्रस्तुत है-

गायक	**सूत्रधार**
पादाम अ नान्यी	पादाम अ नान्यी गो गोइको देलोग
नान्यी अ दैकि	मोमांग अ मोको गो गोइको देलोंग
डी मोमांग अ मोको	मोमांग अ मोको गो गोइको देलोग
काजु सोदो के पुतुंग	सोदो पुतुंग गो गोइकी देलोंग
गोइ पूरेम अ तामपेंग	पूरेम अ तामपेंग गो गोइको देलोंग
सा इरेप पो लाजु	इरेप पो लाजु गो गोइको देलोंग

इस गीत में महिलाओं द्वारा किये गए कार्यो तथा दिनचर्यो को गीतों में पिरोया गया है। औरतें इसे समूह में गाती हैं। यहाँ धान से चावल बनने तथा कपास की खेती से रुई का कपड़ा बनने तक की कथा को गीतों में पिरोया गया है। एक जगह वह गाती है डो मोमांग अ मोको, मोमांग अ मोको गो गोइको गोइको दैलोंग अर्थात मैं बहुत व्यस्त हूँ। इस पंक्ति में स्त्रियाँ बताती है कि हम स्त्रियों का जीवन बहुत व्यस्त होता है।

मनोरंजन परक लोक गीत

आदी जनजाति मनोरंजन प्रिय होता है। उनके लोक गीतों में हर्ष और उल्लास से पूर्ण गीतों की भरमार है। इस प्रकार के गीतों को मुख्यतः युवक एवं युवतियाँ त्योहारों में गाते है। आडीङ लेरो, एंगो गारयोला अ मामांग, आसी राये गाले गाले, देलोंग, याग्जोंग याग्जोंग आदि मनोरंजन प्रदान गीत है। इन गीतों का कोई विशेष अर्थ नहीं होता है। इस प्रकार के गीत प्रायः मनोरंजन हेतु गाये जाते हैं। मनोरंजन प्रदान गीतों का एक उदाहरण प्रस्तुत है-

आडीङ अ रे-रे-रो होय
लनलाड्का रे-रे-रो होय
आडेङ लनमालनमाने रे रो होय
लनलाडका रे रो होय
आडेङ लनमानम रे रो होय
लनमाङ आजेडअम रे रो होय
लाला प रे रो होय।

आडेङ का अर्थ है मित्र। यह गीत त्योहारों में मौज-मस्ती के लिए गाया जाता है। प्रस्तुत गीत में त्योहार का आनन्द लेने हेतु गाँव के सभी युवक-युवतियाँ बाहर इक्कट्ठे होकर नाच रहे हैं। इस दौरान जो घरों के भीतर बैठे रहते है, उन्हें भी बाहर निकलकर सब के साथ त्योहार का आनन्द उठाने का अनुरोध करता है।

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

मान्यताओं पर आधारित लोक गीत

आदी समाज में पशु-पक्षियों, जानवरों, पेड़-पौधों आदि पर आधारित अनेक गीत मौजूद हैं। इस प्रकार के गीतों का मूल प्राय: लोककथाएँ होती हैं। रेसिंग लीबो गीत आदी कथाओं में वर्णित गिलहरी पर आधारित गीत है और तांगको न्योने गोत तांगके न्योने नामक एक पक्षी पर आधारित है। यह पक्षी स्वयं को आदी लोक कथाओं में वर्णित लीतुंग-लीमांग नामक संसार के प्रथम दम्पति की पहली बेटी बताती है। इस प्रकार के अनेक लोकगीत आदी लोक साहित्य में पाये जाते हैं। बेसुंग नायी इसी प्रकार का लोकगीत है। इस गीत के कुछ अंश इस प्रकार है-

गायक	सूत्रधार
गे बेसुंग नायी अ डोदे	डोदेंग
गोइ नादेंग	नादे डो डोदे नेने
गे बेलो नयी अ डोदे	डोदेंग
गोइ नादेंग	नादेंगो डोदे नेने
डो बेसुंग सीरुंग तेलो	तेलो
गोइ रुसिंग	रुसिंग ओ तेलो नेने
डो बेसुंग उंदू अ दूनेम	दूनेम
गोइ सेंग्गु	सेंग्गु अ दूनेम नेने

यह गीत बंदर के शारीरिक बनावट पर आधारित है। इस गीत में बेसूङ नामक एक बंदर अपनी शारीरिक, गठनों के कारण उससे सम्बन्धित किस्से बयान करता है। बेसूङ बंदर नीनूर नामक एक लोहार के यहाँ भट्टी में कोयला सुलगाने का काम करता था। वह बताता है कि कोयले को सुलगाने के लिए दिन-रात लगातार आर्तनाद करते रहने के कारण ही उसके दोनों हाथ और पाव कमान के आकार के हो गये हैं। दिन-रात काम करते रहने के कारण वह बहुत थक गया और अनजाने में गरम पत्थर के ऊपर बैठ गया था जिसके कारण उसका नितम्ब लाल हो गया। इसी प्रकार के अनेक किस्सों से यह गीत आगे बढ़ता है। गीत के अंत में बेसूङ नामक बंदर यह नौकरी छोड़ देता है और जंगलो में जाता है।

धार्मिक लोक गीत

आदि जनजाति प्रकृति पूजक है। वे प्राय: जीवनवादी है। मूलत: वे दोन्यी-पोलो अर्थात सूरज और चाँद की पूजा करता है। लेकिन इसके अलावा भी उनके यहां वे अनेक देवी-देवताओं की पूजा होती है लेकिन उन देवी-देवताओं की कोई मूर्ति नहीं होती है। वे केवल नाम लेकर पूजा करती है। खेती के लिए देवी कीने नाने की, मिथुन और सुअर के लिए दादि बोते की, घर की सुख शांति के लिए गूमिन सोयिन आदि की पूजा करते हैं। पूजा की सामग्री हेतु वे अण्डा, अदरक, तान पत्ता (एक विशेष प्रकार का पत्ता जो पूजा अवसरों में प्रयोग किया जाता है) आपोंग (स्वनिर्मित शराब), चावल का प्रयोग करता है। महत्वपूर्ण अवसरों पर ही इस प्रकार के गीतों को गाते हैं। उदाहरण के लिए एक गीत प्रस्तुत है-

आगम बाबू-अ दोलाङका
होलङ को कुबीये
यक लोङ को कुबीये
आगम बाबू-अ दोयालाङका

आगाम बाबू गीत घरों के पालतू पशु, घर-परिवार की रक्षा करने वाले तथा सुख-समृद्धि प्रदान करने वाले अनदेखी शक्ति की

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

पूजा हेतु गाये जाते हैं। यह गीत सोलूङ त्योहार के दौरान गाये जाते हैं। सोलूङ त्योहार में आगाम बाबू को मिथुन और सूअर के हडडियों के साथ आपोङ अर्थात स्वनिर्मित शराब और थोड़ा सा पका चावल प्रदान करते वक्त गाते हैं। इस प्रकार के प्रार्थना गीत खेती आरम्भ करते समय, घर बनाने के बाद, त्योहारों आदि में गाये जाते है।

प्रेम कथा सम्बंधित लोकगीत

आदी लोकगीतों में अनेक ऐसे गीत विद्यमान है जिसका विषय प्रेम कहानियाँ होती हैं। प्रेम कथाओं पर आधारित लोकगीतों में कही संयोग है तो कही वियोग श्रृंगार का वर्णन हुआ है। नोतंग कौक्केंग, ओगे गे, मे-मुना यो-येंग आदि प्रेम कथा और प्रेम प्रसंग पर आधारित है। इन गीतों के द्वारा यह मालूम हो जाता है कि पहले आदी समाज में स्वच्छन्द प्रेम करने वालों के समक्ष क्या-क्या कठिनाई आती थी। उदाहरण के लिए लोतेंग कौक्केंग नामक लोकगीत एक मिन्योंग लड़की से प्रेम हो जाता है। पहले आदी समाज में अंतर-उपजनजातीय युद्ध होते रहते थे। कथा के अनुसार दोनों एक दूसरे से बहुत प्रेम करते हैं लेकिन सामाजिक परिस्थियों के कारण दोनों एक साथ नहीं रह सकते। दोनो उपजनजातियों में चल रहे युद्ध के कारण दोनों का विवाह सम्भव नहीं था इसलिए दोनों नदी में छलाँग लगाकर आत्महत्या कर लेते हैं। गीत के कुछ अंश इस प्रकार है-

गायक	सूत्रधार
गे तातिन किनो बिन्यी	गे नेने नोतेंग अ बिन्यी तुरुम
गे पांग्गे पेकोगे बिन्यी	गे नेने कोक्केंग अ बिन्यी तुरुम
गे बिबो गीलिंग तेलोक	गे नेने आमिंग अ तेलोक तुरुम
गे पांग्गे पेकोग अ बिन्यी	गे नेने कोक्केंग अ बिन्यी तुरुम
गे गीन न्यींग रुम्मे बोसिल	गे नेने आयांग अ बोसिल तुरुम
गे सिनबो योरने बोसिल	गे नेने आयांग अ बोसिल तुरुम

वर्णित लोकगीतों का आदी लोक साहित्य में भरमार है। उनके लोक गीतों में अनेक रहन-सहन, वेशभूषा, पोशाक, सामाजिक व्यवस्थाएँ, मान्यता और आस्थाएँ आदि मिलती है। आदी जनजाति बहुत ही सामान्य जीवन जीते हैं। वे खेती करते हैं, पशु पालते हैं, शिकार करते हैं, घरों का निर्माण पूरे गाँव वाले मिलकर करते हैं आदि। खेतिहर होने के कारण उनके गीतों से सम्बन्धित अनेक गीत मौजूद है। इस प्रकार के गीतों में मुख्यतः खेती करने की गतिविधियों का वर्णन मिलता है। पुरुष प्रधान समाज होने के कारण स्त्रियों द्वारा गाये जाने वाले लोक गीतों में उनके मार्मिक स्वर भी मुखरित होती है। वही कई ऐसे लोक गीत भी मिलते हैं जहाँ स्त्रियाँ पुरुषों के साथ कदम-से-कदम मिलाकर काम करती हैं। आदी समाज कला प्रिय समाज है। उनके अनेक लोक गीतों में उनके कलाओं का भी वर्णन मिलता है। वे आवश्कता अनुसार अनेक प्रकारके हथियार बनाते हैं। हथियारों के अलावा आदी पुरुष अनेक घरेलू चीजें भी बनता है जैसे टोकरियाँ, सूप, कालीन, मूढ़े, बाँस के चम्मच, मिट्टी के बर्तन आदि का निर्माण करता है। पुरुषों के अलावा स्त्रियाँ भी कपास का सूत काटती हैं। उन दागों से कम्बल और अनेक प्रकार के पोशाक बुनती है। घरेलू चीजों के अलावा वे अनेक प्रकार के आभूषण भी बनाती है। उनके इन कलाओं का भी उल्लेख कई लोक गीतों में में मिलता है। प्रकृति के बहुत करीब रहने के कारण अनेक प्राकृतिक गीत भी उनके लोक गीतों में मिलते हैं। उनके लोक कथाओं में संसार के निर्माण से लेकर मनुष्य की सामाजिक जीवन-यापन व्यतीत करने तक की अनेक लोक धारणाएँ मिलती हैं। उनके कथाओं में, उनके आस पास पाई जाने वाली सभी जीवों, पेड़-पौधों पर आधारित कथाएँ मिलती हैं। अनेक ऐसे लोक गीत हैं जहाँ उन कथाओं को गीतों में लयबद्ध करके प्रस्तुत किया गया है। आदी समाज में पहले उपजनजातियों के मध्य युद्ध होते रहते थे। अतः अनेक लोक गीत भी हैं जहाँ युद्धों का वर्णन मिलता हो। समय के

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

साथ-साथ आदी लोक गीतों में बदलाव आते रहते हैं तथा नए-नए गीतों में सृजन भी होता रहता है। किन्तु कुछ दशकों से आदी जनजातियों के जीवन से लोकगीतों का महत्व घटता जा रहा है। अब इस पर गम्भीरता से विचार करना आरम्भ हो रहे हैं तथा बहुत सारा शोध आदी लोक साहित्य पर किया जा रहा है। बहुत सारे लोक गीतों का संग्रह भी किया जा रहा है। किन्तु केवल इसका संग्रह और किताबों में लोकसाहित्य खासकर लोकगीतों को सहेजकर रखने मात्र से कुछ नहीं होगा। जरुरत है इन कामों के साथ उन सम्वेदनाओं से भी स्वयं को जोड़ने की जो इसके उत्स का कारण है। आदी लोकगीतों के आधार पर आदी समाज और संस्कृति का परिचय मिल जाता है। यह मौखिक रुप में मौजूद होने के कारण पीढ़ी-दर-पीढ़ी लुप्त होते जा रहे हैं। बदलते समय के साथ मूलत: इसके धुन तथा गीतों में प्रयुक्त प्राचीन शब्दों में भरमार अब खतरे में है। अत: इसका संग्रह बहुत ही आवश्यक हो रहा है। आदी लोकगीतों की सबसे बड़ी विशेषता उनके लोक जीवन के साथ गहरा सम्बंध रखना है। किसी ने सही कहा है कि साहित्य समाज का दर्पण होता है। आदी लोकगीत भी आदी समाज और उनके संस्कृति का परिचय देने में दर्पण का काम करता है।

सहायक ग्रंथ :

1. डॉ. धर्मराज सिंह, अरुणाचल की जनजातियाँ और एतिहासिक स्थान
2. एन.एन ओसिक, फॉक सॉग्स एण्ड डन्सेस ऑफ अरुणाचल प्रदेश
3. आदुंक तायेंग, आदी फॉक सॉंग्स
4. ओबांग तायेंग, फॉक दैल्स फॉक द आदीज

शोधार्थी, हिन्दी विभाग

राजीव गाँधी विश्वविद्यालय, रोनो हिल्स, दोइमुख

ईटानगर, अरुणाचल प्रदेश-791112

CC-0, Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

अन्तहीन पीड़ा की 'धार'

●अंचला यादव

'धार' हिंदी के प्रख्यात साहित्यकार संजीव का चौथा उपन्यास है, जिसका प्रकाशन सन 1990 में हुआ था। यह उपन्यास झारखंड के संथाल परगना के कोयला अंचल में काम करने वाले संथाल आदिवासियों पर हो रहे निरंतर शोषण और अत्याचार पर केन्द्रित है। इस उपन्यास में एक संथाल आदिवासी स्त्री मैना को नायिका बनाया गया है। उपन्यास की शुरूआत में ही यह दिखाया गया है कि जिस पुलिस को हमारे समाज में एक रक्षक के रूप में मान्यता मिली हुई है दरअसल वही लोग इस समाज के सबसे बड़े भक्षकों में से एक है। मैना का बाप खुद को एक धर्मात्मा समझकर अपनी जमीन ठेकेदार महेन्द्र बाबू को दान में दे देता है और महेन्द्र बाबू उस जमीन पर एक तेजाब बनाने की फैक्ट्री शुरू करते हैं। तेजाब की फैक्ट्री से निकलने वाले प्रदूषण से बॉसगड़ा गाँव की जमीन बंजर हो जाती है। वहाँ के लोगों को प्रदूषण की वजह से साफ पानी तक पीने को नहीं मिल पाता है। मैना इस फैक्ट्री को लेकर अपने पति फोकल, अपने बाप टेंगर और फैक्ट्री के मालिक महेन्द्र बाबू से निरंतर संघर्ष करती है। संथाल आदिवासी सिलतोड़ी 'चोरी' तथा भीख माँग कर किसी तरह अपने जीवन का निर्वाह करते हैं। फैक्ट्री का विरोध करने पर मैना की माँ को भी समाज में रहने वाले समाज के ही चंद ठेकेदारों ने डायन बताकर पत्थरों से मार-मार कर गाँव से बाहर कर दिया। यह एक बर्बर प्रथा है जिसमें डायन घोषित होने पर उस औरत को पत्थर से मार-मार कर जान से मार दिया जाता है। मैना के साथ भी यही प्रक्रिया दोहराई जाती है। फैक्ट्री के मालिक महेन्द्र बाबू द्वारा जानगुरु ओझा को रिश्वत देकर मैना को भी डायन घोषित कर दिया जाता है।

परन्तु मैना इन सबका विरोध करती है। मैना, ओझा की गर्दन पकड़ लेती है और कहती है-खा जाहिर थान का कसम। खा भारॉ बुरू का कसम। खा बधना देवी का कसम कि तू घूस नहीं खाता है, सच बोल रहा है। अरे ओकरा में तो तोर चेहरा लौक रहा है तो तू हो गया डायन ? इस उपन्यास में मैना के रूप में एक आदिवासी नारी अपने पूरे स्वाभिमान और संघर्ष चेतना के साथ खदान मालिक, ठेकेदारों तथा भष्ट पुलिस के खिलाफ संघर्ष करती है। मैना के चरित्र में आदिवासी नारी की पीड़ा और मानवीय संवेदना पूरी तरह से उजागर हुई है। संजीव के इस उपन्यास के शीर्षक धार की सार्थकता इसी में है, श्रमिक वर्ग के पूँजीपतियों के शोषण के खिलाफ संघर्ष करने के लिए सतत सान से तेज इस उपन्यास में नई चेतना, अधिकार बोध और संघर्ष का अंकित हुआ है। अविनाश शर्मा और भोड़ल आदि आदिवासियों के सहयोग से सहकारिता के परिप्रेक्ष्य में जनखदान का निर्माण होता है। इस जनखदान में भ्रष्ट व्यवस्था, पुलिस द्वारा रिश्वत लिए जाने का विरोध तथा जनखदान को राष्ट्र को समार्पित करने का निर्णय भी लिया जाता है। परन्तु भ्रष्ट व्यवस्था, जनखदान के स्थान पर पूँजीपति और दलाल महेन्द्र बाबू की अवैध कोयला खदान का राष्ट्रीयकरण करती है। इस उपन्यास में संजीव ने दिखाया है कि दलाल पूंजीपति तथा भ्रष्ट अधिकारियों की आपसी मेल-जोल से राष्ट्रीय संपति की लूट होती है। इस उपन्यास में जहाँ एक तरफ भ्रष्ट व्यवस्था का यथार्थ अंकन हुआ है वहीं दूसरी तरफ आदिवासियों की सामाजिक समस्याएं जैसे गरीबी, गंदगी, भूखमरी, जाति पंचायत, डायन जैसी बर्बर कुप्रथा, जादू-टोना, भूत-प्रेत, मंत्र-तंत्र आदि का भी यथार्थ अंकन हुआ है।

संजीव के इस उपन्यास में मैना एक ऐसी नायिका बन कर सामने आती है जो इस उपन्यास की शुरूआत से ही अन्याय के खिलाफ लड़ती है. वह उस हर वस्तु का विरोध करती है जो और लोगों के लिए सही नहीं होती है और इस लड़ाई में भ्रष्ट

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

व्यवस्था के साथ-साथ अपने पति और पिता के भी खिलाफ खड़ी होती है क्योंकि वह भ्रष्ट लोगों का साथ होते हैं। इस पूरे संघर्ष में मैना का साथ देते हैं अविनाश शर्मा. तभी तो उपन्यास के अन्त में अविनाश शर्मा मैना से कहते हैं- पार्टी चाहे गलत कहे या सही, सरकार चाहे स्वीकारे चाहे नहीं, हम मर जाये या मिट जाये, जनखदान तक को चाहे कोई बहशी भठियाभोंट कर दे लेकिन लोगों को यह सोचने का मुद्दा तो हम दे ही जायेगें कि एक दिन ऐसा भी आया था जब मजदूरों ने खुद सत्ता संभाली थी, जब लुटेरों तक की जान को खतरा महसूस होने लगा था, जिन्होने वार किया उन्होंने मुँह की खायी, न कोई मालिक या न कोई सूदखोर, एक ऐसा आश्रय यहाँ था जहाँ इलाके का कोई भी रोजी माँगने आया और उसे काम मिला, कोई दवा-दारु माँगने आया और चंगा होकर गया... कोई ऐसी चीज जो उनकी अपनी थी...

इस पूरे उपन्यास भू-भाग झारखंड का संथाल परगना छोटा नागपुर है। यह उपन्यास इस इलाके में तेजी से बढ़ रहे औद्योगीकरण की पोल खोलते हुए एक नये विकल्प को भी सामने रखा है। सामूहिकता के आधार पर सामूहिक स्वामित्व वाला उद्योग। लेकिन व्यवस्था ऐसे किसी भी प्रकार के विकल्प को स्वीकार नहीं करती है। हम सब वर्षों से यह देखते आ रहे हैं कि किस प्रकार से सरकारी यानि देश की सम्पत्ति की लूट चल रही है। मैना और उसके साथी पन्द्रह दिन से बिना मजदूरी पाये घर का खाकर लगन से काम कर रहे हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि यह खदान उनकी है। देश की है। इसीलिए वे कृतसंकल्प हैं कि मजदूरी के बाद सारा बचा कोयला सरकार को दे देंगे। ऐसे उच्च नैतिक मूल्यों और सामूहिक स्वामित्व के आदर्श पर आधारित खदान के साथ सरकार ने क्या किया, उसने उस जनखदान पर बुलडोजर चलवा दिया। मजदूरों पर फायरिंग की गई। पुलिस बल लगा दिया गया। और चोरी पर चलने वाली बाकी की खदानें चलती रही और इस पूरे भ्रष्याचार और लूट के खिलाफ कोई आवाज उठाता है तो वो है मैना और उसके सहयोगी. उच्चवर्ग द्वारा किये जाने वाले शोषण, दलाल पूँजीवाद तथा भ्रष्याचार के खिलाफ लड़ते हुए मैना अपनी जान भी दे देती है- बुलडोजर जो इन्दिरा जी की मूर्ति को बचाने के चलते पोरों की खदान ध्वस्त नहीं कर सका, इस बार दुविधा को त्यागकर जिन्दा मैना को रौंदते हुए चला गया। पीछे मुड़कर देखा तो दंग रह गया। आगे फिर मैना खड़ी है। पीछे मुड़कर देखा तो वहाँ थी। भाटी के बीच से एक मैना उभरी आ रही है। अगल-बगल देखा तो दोनों बाजुओं पर मैना। जुगनुओं की वैसी ही जगमगाहट। बुलडोजर मरकहे भैंसे-सा मैना को कुचल रहा था। मगर वह... ? अजीब नजारा था, जैसे वह कोई झील हो जिसमें डुबकी मार-मार कर वह निकली आ रही हो।

इस पूरे वाकये के बाद की बिडंबना देखिए कि पुलिस की रपट में तो मैना का जिक्र ही नहीं है, अलबत्ता, शर्मा, पण्डा, माँझी और बीस गाँवों के बहुतेरे लोगों के नाम हैं जो हाजत में हैं, पुलिस की बात का विश्वास करना हो तो कीजिए कि कुल जमा कोयला सिर्फ डेढ़ सौ टन ही था, कि एक भी मजदूर को नहीं मारा-पीटा गया और जो एरेस्ट किये गये सब चोर थे। ऐसी भ्रष्ट व्यवस्था है हमारे पुलिस और प्रशासन की। 'धार' एक ऐसी व्यवस्था की पोल खोलता है जिसमें गरीब के लिए कानून की बंदिशे ही बंदिशे हैं और अमीरों के लिए कानून हर तरह की सुविधा देने वाला रास्ता बन गया है। सम्पत्ति के निजी स्वामित्व और निजी मुनाफे की व्यवस्था इस कदर मजबूत हो गई है कि समाज और सामूहिक स्वामित्व के खिलाफ पूरा फौज-फाटा लगा दिया गया है। एक कोयला खदान जो समाज का हित करती वह सरकार को मंजूर नहीं है, बल्कि वह खदान जो व्यक्ति के मुनाफे को बढ़ाती है, सरकार उसकी हिमायत करती है। संजीव ने सदियों पुराने व्यक्तिवादी लालच और सामूहिक भलाई के बीच चल रहे संघर्ष को एक जन स्वामित्व वाली कोयला खदान के माध्यम से आधुनिक संदर्भों में प्रस्तुत किया है। यह शोषण और उसके विरूद्ध संघर्ष की वह अंतहीन 'धान' है जो सदियों से बहती आयी है। और तब तक बहती रहेगी जब तक कि शोषण की यह व्यवस्था खत्म नहीं हो जाती।

शोधार्थी, हिन्दी विभाग
राजीव गाँधी विश्वविद्यालय, रोनो हिल्स, दोइमुख
ईटानगर, अरुणाचल प्रदेश-791112

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

Gandhi Memorial College Of Education Bantalab Jammu

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant

ISSN 2349-6444

10-11 नवम्बर, 2016 को दो दिवसीय नागरी लिपि सम्मेलन का आयोजन नागरी लिपि परिषद् और हिन्दी विभाग, राजीव गाँधी विश्वविद्यालय, ईटानगर, अरुणाचलप्रदेश के संयुक्त तत्वाधान में हुआ। राजीव गाँधी विश्वविद्यालय के प्रेक्षागृह में सम्पन्न इस कार्यक्रम में देशभर के विद्वानों ने शिरक़त किया। अन्तरप्रादेशिक प्रतिभागियों सहित राज्य के विभिन्न महाविद्यालयों में अध्ययन-अध्यापन से जुड़े प्राध्यापकों ने हिस्सा लिया। विभिन्न तकनीकी सत्रों में शोध-पत्र वाचन के साथ उन्होंने अपने महत्त्वपूर्ण वक्तव्य दिए। इस मौके पर 'नागरी संगम' स्मारिका का विमोचन राजीव गाँधी विश्वविद्ययालय के कुलपति प्रो. तामो मिबाङ द्वारा किया गया। अरुणाचल की आदी जनजाति की भाषा, बोली, साहित्य, समाज, संस्कृति आदि के सन्दर्भ में महती अकादमिक परियोजना सम्बन्धी योगदान के लिए युवा साहित्यसेवी और राजीव गाँधी विश्वविद्यालय के हिंदी विभागाध्यक्ष डॉ. ओकेन लेगो को विनोबा नागरी सम्मान से सम्मानित किया गया। पटना के 'जगदम्बी प्रसाद यादव स्मृति प्रतिष्ठान' के अध्यक्ष और भारत के हिंदी सलाहकार समिति के सदस्य वीरेन्द्र यादव को भी इस अवसर पर नागरी संस्था सम्मान से नवाज़ा गया। दो दिवसीय अखिल भारतीय नागरी लिपि सम्मेलन का आरंभ एनबीटी प्रकाशन, नई दिल्ली द्वारा लगाए गए पुस्तक प्रदर्शनी के उद्घाटन से हुआ। प्रो. मिबाङ ने प्रदर्शनी का शुभारंभ फीता काटकर किया। अरुणाचल प्रदेश के प्रखर लेखक और साहित्य अकादमी पुरस्कार से सम्मानित श्री येशे दोरजी थोंग्चि कार्यक्रम के मुख्य अतिथि के रूप में उपस्थित थे। कार्यक्रम की शुरुआत डॉ. ओकेन लेगो ने स्वागत भाषण से की। उन्होंने देशभर से आए विद्वानों, प्रान्तीय बौद्धिकों, अध्यापकों, शोधार्थियों, विद्यार्थियों आदि का खुले दिल से स्वागत किया। उन्होंने इस दो-दिनी कार्यक्रम में अरुणाचल के साहित्य-सम्पदा, लोक-भंडार, सांस्कृतिक-गौरव आदि की दीर्घजीविता की दिशा में नागरी लिपि के महत्त्व को रेखांकित किया। डॉ. लेगो ने कहा कि देशभर के विद्वानगण हमारी भाषा-साहित्य के अलिखित किन्तु अभिव्यक्त रचनाकर्म को संजोने-सहेजने में नागरी की भूमिका और इस कार्यवाही में आ रही समस्याओं पर संवेदनशील ढंग से अपना विचार प्रस्तुत करेंगे। प्रो. तामो मिबाङ ने कहा कि आज नागरी लिपि का महत्त्व भारत के उत्तरी छोर से दक्षिणी छोर और पश्चिमी छोर से पूर्वी छोर तक स्वीकार्य है। उन्होंने याद दिलाया कि इस लिपि के अन्तर्गत आने वाली बोलियों में भारी विविधता, बहुलता, बहुरूपता, बहुसंख्यकता सबकुछ है। इसके बाद भी लिपि की एकरूपता ने सबको एकसाथ जोड़कर रखा है, एक धागे में पिरोया हुआ है। प्रो. मिबाङ ने आधुनिक सन्दर्भ में भाषा आधारित कौशल विकास पर बल देते हुए कहा कि भाषा और लिपि को प्राथमिकता दिया जाना जरूरी है क्योंकि इसके बगैर आधुनिक शिक्षा, जागरूकता अथवा विकास संभव नहीं है। कार्यक्रम के मुख्य अतिथि श्री येशे दोरजी थोंग्चि ने भी अरुणाचल के प्राकृतिक सौन्दर्य तथा भौगोलिक बनावट के बीच बसे लोगों की भाषा, बोली, कला, साहित्य आदि को बचाने के लिए लिपि को सबसे महत्त्वपूर्ण हथियार कहा। श्री थोंग्ची ने नागरी लिपि को अरुणाचल की बहुविध जनजातिय भाषाओं का अभिभावक कहा जिनसे उनका रोजमर्रा का रिश्ता है; सम्पर्क भाषा के रूप में बातचीत-व्यवहार है। उन्होंने नागरी लिपि की वैज्ञानिकता की ओर ध्यान दिलाते हुए कहा कि लोगों में यह भ्रम आजतक फैला हुआ है कि नागरी लिपि से कंप्यूटर-कार्य करना आसान नहीं हैं अथवा समस्याएँ बहुत है। इस पूर्वग्रह के नाते भी अधिसंख्य अरुणाचलवासियों ने नागरी की जगह रोमन लिपि को महत्त्व और स्थान दे रखा है। जबकि इस बात से सभी अवगत हैं कि रोमन लिपि के उच्चारण और लिखावट में भारी भेद है, लिखावट सुमेलित नहीं है। नागरी लिपि परिषद के अध्यक्ष डॉ. परमानन्द पांचाल ने अपने अध्यक्षीय वक्तव्य में यह स्वीकार किया कि भारत की जनजातिय संस्कृति और भाषाएँ भारतीयता की नींव हैं। अरुणाचल के बारे में उन्होंने साफ कहा कि यहाँ हिंदी का 'लिंक-लैंग्वेज' होना नागरी लिपि के लिए गौरव की बात है। उद्घाटन सत्र में परिषद् के महामंत्री श्री हरि सिंह पाल ने कहा कि लिपि में लिखने से ही आपसी बात दूर तक जाएगी। भाषा संकायाध्यक्ष प्रो. हरीश कुमार शर्मा ने अपने वक्तव्य में इस ओर ध्यान दिलाया कि अरुणाचल ऐसा राज्य है जहाँ नागरी लिपि से कमोबेश सभी परिचित हैं। यह सच है, इस प्रदेश में लिपि का प्रश्न चुनौतीपूर्ण है; तब भी हम लगातार अकादमिक कार्य को प्रोत्साहन दे रहे हैं। इस दिशा में राजीव गाँधी विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग ने गंभीर शोध-कार्य, तथ्य-संग्रह, वैचारिक संवाद, विमर्श, कार्यशाला, संगोष्ठी आदि द्वारा अपनी भूमिका को सक्रिय बनाए रखा है। विभागीय पत्रिका 'अरुण प्रभा' का प्रकाशन एक ठोस तथा निर्णायक कदम है। इस अवसर पर डॉ. अनुशब्द, डॉ. दोग उम्दी और तेली मोमू, डॉ. श्याम शंकर सिंह, डॉ. विश्वजीत कुमार मिश्र, चितरंजन भारती, डॉ. जोरम यालाम नाबाम, डॉ. जोरम आनिया ताना डॉ. तादाम रुटी, पद्मावती ओडम, तारो सिंदिक सहित कई अन्य प्रतिभागियों ने अपना शोध-पत्र वाचन किया। इस मौके पर विद्वान वक्ताओं में डॉ. विनोद बब्बर, रमेश त्यागी, सरदार तादरी, बाबा कानपुरी, आचार्य ओमप्रकाश आदि ने नागरी लिपि के विकास और सम्वर्द्धन को लेकर किए जाने वाले व्यावहारिक प्रयासों और उसके दूरगामी परिणामों से श्रोताओं को अवगत कराया। समापन समारोह की अध्यक्षता शिक्षा संकायाध्यक्ष प्रो. जे. साहू की अगुवाई में हुई।

CC-0 Agamnigam Digital Preservation Foundation,Chandigarh.Funding by IKS-MoE-2025-Grant